पीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—२२

खण्डहरोंका वैभव

मुनि कान्तिसागर

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

समर्पण

विविधवाङ्मयोपासक, शासन-प्रभावक,
प्रातःस्मरणीय, परमपूज्य, पुण्यमूर्ति,
उपाध्यायपदविभूषित गुरुवर्य
१००८ मुनि श्री सुखसागरजी
महाराजके कर-कमलोंमें
सादर समर्पित।

गुरु चरणोपासक
मुनि कान्तिसागर

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

द्वितीय संस्करण • १९५९ • मूल्य छह रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

*

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

विषय-सूची

१. जैन-पुरातत्त्व

२. मध्यप्रदेशके जैन-पुरातत्त्व

५. विन्ध्यभूमिकी जैन-मूर्तियाँ

६. मध्यप्रदेशका बौद्ध पुरातत्त्व

७. मध्यप्रदेशका हिन्दू-पुरातत्त्व

३. महाकोसलका जैन-पुरातत्त्व

४. प्रयाग संग्रहालयकी जैन-मूर्तियाँ

वैभवकी झांकी

टूटे-फूटे खंडहर भी सम्पदा और वैभव हैं, इस बातको हमने जितनी बार सुना है, उतनी बार समझा नहीं। समझा इसलिए नहीं कि बिना समझे काम चल रहा है। देशके सामने और कितने ही बड़े काम हैं। व्यक्तिके सामने और कितनी ही जिम्मेदारियाँ हैं। पंचवर्षीय योजनाओंके द्वारा हम नये निर्माणका स्वप्न देख रहे हैं—वह निर्माण जो हमारे देशके ३५ करोड़ आदमियोंको खाना देगा, कपड़ा देगा, नये मकान देगा। जीवनका स्तर ऊँचा होगा। लोगोंको सुख-सुविधा मिलेगी। राष्ट्रके पास सम्पत्ति होगी। हमारी राष्ट्रिय शक्तिका विस्तार होगा और निश्चय सबसे हमारी धाक मानेंगे—अमरीका, ब्रिटेन, रूस, चीन......। वैभवकी इस परिभाषा और इस रूपके सामने खंडहरोंकी बात सोचना, या न सोचने पर आश्चर्य करना ही आश्चर्य है।

लेकिन, श्री मुनि कान्तिसागरजी जैसे गुनी और स्वप्नद्रष्टा भी हमारे बीचमें हैं जो 'वैभव'के दूसरे गरिमावान् रूपको दिखानेके लिए हमें खंडहरोंके बीच ले जानेपर कटिबद्ध हैं। खंडहरोंका वैभव हमारा सांस्कृतिक वैभव है। यह हमारा ऐसा उत्तराधिकार है, जिसका मूल्य सोने-चाँदीमें नहीं आंका जा सकता। यह मूल्य जीवनके आर्थिक स्तरका मूल्य नहीं है, यह है जीवनके आदर्शोंका मूल्य। निःसन्देह, हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ अपनी जगह आवश्यक हैं, किन्तु इन योजनाओंको बनानेवाले व्यक्तियोंने ही राज्यचिह्नके लिए धर्मचक्रकी और राज्य-प्रेरणाके लिए 'सत्यमेव जयते' की प्रतिष्ठा की है। जो धर्मचक्र राज्यकी पताकापर अंकित है और जो शब्दावलि राज्यकी मोहरको आहत करती है, वह यदि 'वैभव'का मूर्त रूप नहीं तो और क्या हो सकता है?

८. महाकोसलकी कतिपय हिन्दू-मूर्तियाँ

९. महाकोसलकी कला-कृतियाँ

१०. श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य—पृ० ४१९

देखता है, पर्यवेक्षण करता है, उनमें एकाकार होनेकी चेष्टा करता है, तभी तो वह टूटे-फूटे पत्थरके टुकड़ोंमें बिखरे हुए संस्कृति और सभ्यताके बीजोंको एकत्र कर उनका नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक संस्करण तैयार करता है।"

'खंडहरोंके वैभव'में लेखककी अनेक वर्षोंकी कठिन पुरातत्त्व-साधना १० लेखोंके रूपमें प्रतिफलित हुई है। इसमें ३ लेख मध्यप्रदेशके; जैन, बौद्ध और हिंदू पुरातत्त्वसे सम्बंधित हैं और ३ लेख महाकोसलके पुरातत्त्वसे। २ लेखोंमें प्रयाग-संग्रहालय तथा विन्ध्यभूमिकी जैनमूर्तियोंका दिग्दर्शन है। शेष २ निबंध हैं—जैन-पुरातत्त्व तथा श्रमण संस्कृति और सौंदर्य। ये इतने सुंदर और उपादेय हैं कि पुरातत्त्वका कलापक्ष एवं दर्शन पक्ष ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके साथ सुद्धिगम्य हो जाता है।

'खंडहरोंका वैभव' पढ़कर भारतीय पुरातत्त्वकी गरिमा तथा सौंदर्यकी छापके उपरांत जो दो भावनाएँ प्रबल रूपसे जाग्रत होती हैं वे हैं :—

१. भारतीय पुरातत्त्वकी विविधतामयी विकासशृंखला और

२. इस पुरातत्त्वके प्रति देशकी हृदयहीन उपेक्षा।

इन दोनों बातोंको सार रूपमें समझ लेना आवश्यक है क्योंकि पुरातत्त्वके यही दो पहलू हैं जो हमारे जीवनको छूते हैं और जिनके विषयमें हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना चाहिए।

जैन, बौद्ध, हिंदू-मंदिरोंमें आज स्थापत्य, मूर्तिलक्षण और पूजा-विधान आदिकी एक परिपाटी बन गई है, जिसे बहुत-सी जगह आँख बंदकर, 'शास्त्रोंके आधारपर व्यवहारमें लाया जा रहा है। हममेंसे बहुतोंको इस विधानमें परिवर्तन करनेकी न कलात्मक क्षमता है न बौद्धिक सूझ। फिर भी यदि आज कोई मंदिरकी बनावटके सम्बन्धमें, मूर्तिके परिकरकी कल्पनामें या पूजाके विधानमें परिवर्तनकी बात सोचे अथवा अपनी मान्यताको नया रूप दे तो वह 'अधार्मिक' तक कहा जा सकता है। आग्रह बड़े दृढ़ हैं। हमारी कट्टरतामें हेरफेरकी गुंजाइश नहीं। हम पूजा खड़े होकर

खेद इसी बातका है कि जहाँ अर्थ और आर्थिक योजनाएँ हमारे राष्ट्रके जीवनको रात-दिन उलझाये रहती हैं, वहाँ धर्मचक्र और 'सत्यमेव जयते' केवल देखनेकी चीज रह गये हैं। उनका अर्थ हमारे मनको वर्षोंमें एक बार भी नहीं छूता।"

यह धर्मचक्र और यह राज्य-मंत्र हमें जिन खंडहरोंसे प्राप्त हुए हैं, उन-जैसे खंडहरोंके वैभवकी कथा ही श्री मुनि कान्तिसागरजी सुनाने चले हैं। वे श्वेताम्बर साधु हैं। पैदल ही चलते हैं। संयमकी साधना जीवन-का लक्ष्य है। उपदेश देना जीवनका कर्तव्य है। हमारे बहुतसे साधुओंकी भांति वह भी उपदेश देते रहते और आत्मकल्याणके लिए ज्ञानकी साधना करते रहते, पर यह उनकी सूझ है कि उन्होंने अपनी साधनाका क्षेत्र आधु-निक सजे-सजाये मंदिरोंकी अपेक्षा खंडहरोंको अधिक बनाया। पुरातत्त्वके विद्यार्थीमें जो लगन, कला-मर्मज्ञता, ऐतिहासिक ज्ञानकी पृष्ठभूमि और वैज्ञानिक दृष्टि होनी चाहिए, वह भी सब श्री मुनि कान्तिसागरजीमें है। 'खंडहरोंका वैभव' इस बातका प्रमाण है। सबसे बड़ी बात यह कि वैज्ञा-निककी दृष्टिके साथ उनमें कवि और कलाकारका हृदय है जो उन्हें खंड-हरोंकी सौंदर्य-सृष्टिमें इतना तल्लीन कर देता है कि वह घंटों खोये-खोये-से रहते हैं। वे लिखते हैं :

"मैं स्वयं किसी प्राचीन खंडहरमें जाता हूँ तो मुझे वहाँके एक-एक कणमें आनंदरसकी धारा बहती दीखती है और उस समय मेरी विचार-धाराका वेग इतना बढ़ जाता है कि उसे लिपि द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। खंडित प्रतिमाका अंश घंटों तक दृष्टिको हटने नहीं देता"......

"सचमुच पत्थरोंकी दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी-विहीन जीवन-यापन करनेवालोंके साथ एकाकार हो जाता है"

"मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खंडहरमें प्रवेश करता है, तब वहाँका एक-एक पत्थर उससे बातें करनेको मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है। कलाकार अवशेषोंको सहानुभूतिपूर्वक अंतरमनसे

६. अम्बिकाका प्रचलित रूप यह है कि वह आमके वृक्षके निचले भागमें सिंहासनपर बैठी है, साथमें दो वालक हैं। पर इस रूपमें कहीं-कहीं भिन्नता भी मिलती है। इससे भी बड़ी वात यह कि यद्यपि अम्बिका भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ देवी है फिर भी कहीं-कहीं यह ऋषभ-नाथकी मूर्तिके साथ सम्मिलित है।

७. मुनियों और गृहस्थोंकी भी मूर्तियाँ वनाई गई हैं, यद्यपि गृहस्थोंकी मूर्तियाँ उपास्यके रूपमें न होकर उपासकके रूपमें हैं।

८. मुगलकालीन मंदिरोंके अग्रभागमें कहीं-कहीं मीनार भी पाया जाता है, जो मानस्तम्भकी शैलीसे भिन्न है। इसी प्रकार आरवी (मध्य-प्रदेश) में एक मंदिर है, जिसमें जैनमूर्तिके साथ तकिया बना हुआ है। ऐसी मूर्त्ति और कहीं नहीं है। रायपुर (मध्यप्रदेश) में एक ऐसा जैनमंदिर है जिसके शिखरपर भोगासन अंकित हैं। भेड़ाघाट (मध्यप्रदेश) में गणेशकी एक ऐसी मूर्ति है जो स्त्रीके रूपमें है, आदि आदि।

भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकलाके क्रमिक विकास अथवा तत्संबंधी तथ्योंका ज्ञान न होनेसे जहाँ जनसाधारणके पूर्वाग्रह ढीले नहीं पड़ते, वहाँ बौद्धिक तटस्थता रखनेवाले विद्वान् भी निष्कर्षोंमें भूल कर बैठते हैं। इस पुस्तकमें इस प्रकारकी कई भूलोंका निराकरण किया गया है। उदाहरणके लिए, पुरातत्त्व अनुसन्धानके प्रारम्भिक दिनोंमें सर एलैक्जेंडर कनिंघम (जिनके श्रम और साधनाके लिए भारत चिरऋणी रहेगा) ने वहुत-से जैन-स्तूपोंको बौद्ध-स्तूप घोषित किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि जैन-शिल्पकलामें स्तूपोंका चलन नहीं है। लगभग १० वर्ष बाद सन् १८९७में जव बुल्हरने मथुराके जैन-स्तूपोंके सम्बन्धमें लेख लिखा और अपनी मान्यताएँ प्रगट कीं, तव विद्वानोंका विचार वदला। फिर भी कनिंघम अपनी २४ जिल्दोंमें जहाँ कहीं जैन-स्तूपोंको बौद्ध स्तूप लिख गये, अनेक विद्वान् आज भी उसीके आधारपर उद्धरण करते रहते हैं। पुरातत्त्वके

करें या बैठकर, फूल चढ़ायें या अक्षत, पूजाके द्रव्योंका क्रम इस रूपमें हो या उस रूपमें आदि साधारण प्रश्नोंमें भी विधि और विधानकी मौजूदा परिपाटी अपरिवर्तनशील है। हम बहुत कम यह सोचते हैं कि पूजाकी विधिकी तो बात ही क्या, हमारे मंदिरोंकी बनावट और मूर्तियोंकी गढ़नमें परिवर्तन होता रहा है। फिर भी उनकी पूज्यता कम नहीं हुई। उदाहरणके लिए 'खंडहरोंका वैभव'में हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं, जो स्थापत्य और मूर्तिकलाकी विविधता या विकासकी ओर संकेत करते हैं :—

१. मूर्तिशिल्प—दक्षिणका मूर्तिशिल्प उत्तरसे भिन्न है। एक युगकी कला दूसरे युगकी कला से भिन्न है। कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी मूर्तियोंके आकारमें परिलक्षित होती है।

२. प्रभामंडल—मूर्तियों के पीछे जो प्रभामंडल या भामंडल बनाया जाता है, उसका क्रमिक विकास हुआ है। कुषाणकालीन प्रभामंडल सादा था, गुप्तकालीन अलंकृत और गुप्तोत्तरकालीन प्रभामंडल तो अलंकार उपकरणोंसे इतना अधिक भर दिया गया था कि मूल मूर्ति गौण हो गई और प्रभामंडलकी सज्जा मुख्य।

३. परिकर—मूर्तियोंके चारों ओर शिलापट्टपर जो अन्य मूर्तियां या अलंकरण खने गये वह २-३ शताब्दियों के बाद बदलते गये। कालान्तरमें इन परिकरोंमें प्रातिहार्यके साथ-साथ श्रावकोंकी मूर्तियां भी शामिल होने लगीं।

४. लक्षण—भिन्न-भिन्न तीर्थंकरकी मूर्तियोंकी पहचान भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे है, पर लक्षणका भेद बादकी चीज़ है। अनेक मूर्तियोंमें यह भेद नहीं है।

५. कई प्राचीन जैन-मूर्तियोंमें सिरपरसे खुले बाल कंधोंपर लटकते दिखाये गये हैं। यह मूर्तियां जैनधर्मके आदि तीर्थंकर की हैं और कहीं-कहीं यह चतुःमुष्टीकेशलोंचका रूपक है।

रहा होगा। पुराने इतिहासको छोड़िये। यही पौनार है जहाँ आचार्य विनोबा भावेने महात्मा गांधीके आदेशानुसार पहली बार व्यक्तिगत सत्याग्रहको क्रियात्मक रूप दिया था। इस पौनारमें लेखकने १९४३में १४वीं शताब्दीका एक शिलालेख पढ़ा था जो विशेष ऐतिहासिक महत्त्वका था और जो इतिहासकी किसी गुत्थीको सुलझानेमें सहायक हो सकता था। उस समय जिस व्यक्तिके पास वह लेख था, उसने किसी तरह भी वह नहीं दिया। १९५१में लेखक जब पुनः गये तो मालूम हुआ वह लेख किसी मकानकी दीवारमें पत्थरकी जगह लग गया है। इतिहासके अक्षर लोप हो गये!!

२. यह केलझर है, पौनारसे १० मील दूर। यहाँ कई स्तम्भ हैं। और यह एक खंडित-सा स्तम्भ है जिसपर अखण्डित समवशरण चित्रित है—इतना सुन्दर और भव्य कि लेखकने आजतक ऐसा समवशरण खुदा हुआ नहीं देखा। इस स्तम्भपर जिस किसान का दावा है, वह रोज ढेरके ढेर कंडे इसपर सुखाता है। यहाँ इतिहासकी लिपिपर गोबरकी कलाका लेप हो रहा है। क्षितिजपर लोप उग रहा है!

३. यह नागरा है, भंडारा जिलेमें। १९४२में लेखक वहाँ गये तो एक मूर्तिपर १५ पंक्तियोंका लेख मिला, जिसके ऐतिहासिक महत्त्वसे प्रभावित होकर उन्होंने इसे नक़ल कर लिया। मूर्तिकी व्यवस्था ठीक न हो सकी, क्योंकि वह मूर्ति किसानोंके लिए बड़े कामकी थी। वह उसपर औज़ार तेज़ करते थे। सन् १९५१की यात्रामें पाया कि वह मूर्ति किसी महंतकी समाधिमें खण्ड-खण्ड होकर

एक दूसरे विद्वान् फर्गुसनने घोषित किया था कि जैनोंने गुफाएँ नहीं बनाईं —इस बातका भी कठिनतासे निराकरण हुआ। आज अनेक जैन गुफाएँ जैसे उदयगिरि—खंडगिरि (उड़ीसा), उदयगिरि (भिलसा, मध्य भारत), जोगीमारा (मध्यप्रदेश—सरगुजा), ढंकगिरि (सौराष्ट्र—शत्रुंजयके पास), इलोरा (हैदराबाद) एहोल (बादामी तालुका), चाँदवड़ (नासिक), सित्तन्नवासल (पडुक्कोटा) आदिकी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। अनेक वर्तमान लेखकोंको जैन-मूर्तियोंके लक्षण, चिह्न और परिकरोंका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण भ्रामक मान्यताओंके उल्लेखका दोषी होना पड़ता है। लाहौरसे प्रकाशित, श्री भट्टाचार्य लिखित जैन आइकोनोग्राफीमें ऋषभनाथका चित्र दो बार छापा है और बैलका चिह्न होते हुए भी मूर्तिको महावीरकी मूर्ति लिखा है। प्रयाग संग्रहालयके विवरणोंमें पार्श्वके यक्षको गणपति मानकर लिखा है कि जैनियोंमें गणेशकी पूजा होती है। त्रिपुरी (मध्यप्रदेश) में एक मूर्तिके परिकरमें दो युगल मूर्तियोंको देखकर एक विद्वान्ने लिखा है कि यह अशोककी सन्तान संघमित्रा और महेन्द्रकी मूर्तियाँ हैं, जब कि मूल मूर्ति नेमिनाथकी है, जैसा कि शंख चिह्नसे लक्षित है। वास्तवमें परिकरकी मूर्तियाँ अम्बिका और गोमेध यक्षकी हैं।

दूसरी बात जिसकी ओर मैंने प्रस्तावनाके प्रारम्भमें संकेत किया है, वह है हमारे पुरातत्त्वों और कलाकृतियोंकी हृदयहीन उपेक्षा। 'खण्डहरोंके वैभव'में लेखकने विशेषकर मध्यप्रदेशके पुरातत्त्वोंका ही वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपने पैदल भ्रमणमें स्वयं देखा है। किन्तु इतने सीमित प्रदेशकी यात्रामें प्रायः पग-पगपर उसने इस 'वैभव'की जो दुर्गति देखी, उसे पढ़कर हृदय विकल हो उठता है। देखिये कितने भयानक हैं यह चित्र :—

१. यह पौनार है, (पवनार = प्रवरपुर—वर्धाके पास) महाराज प्रवरसेनका बसाया हुआ जो किसी समय मध्यप्रदेशकी राजधानी

गया। बेचारे राजा साहब क्या करते? उन्होंने हुक्म दिया—'कोई हर्ज नहीं यह बेकार मूर्तियाँ जो पड़ी हुई हैं, सब लाकर इस गढ़ेमें भर दो। मूर्तियाँ गढ़ेमें भर दी गईं। जसोमें इतिहासकी उपयोगिता है, यहाँ इतिहासको जस मिलता!

७. यह बहुरीबंद है, जबलपुरसे ४२ मील उत्तरकी ओर। यहाँ 'खनुवादेव'का निवास है। खनुवादेवकी मूर्ति श्याम पाषाणकी है। खूब, १३ फुट ऊँची। भव्य! निःसंदेह भव्य!! यहाँके हिंदू 'खनुवादेव'को इसलिए पूजते हैं कि वह क़ाबूमें रहें और डरके मारे सुविधाएँ देते रहें। 'खनुवादेव' सुविधाएँ देते हैं, क्योंकि वह डरते हैं। वह डरते हैं क्योंकि वह हर आते-जातेके हाथ जूतोंसे 'पूजते' हैं। भगवान् शान्तिनाथकी इस मूर्तिके पार-खियोंने पुरातत्त्व विभागसे लिखापढ़ी की; 'आंदोलन' भी किया; पर 'खनुवादेव'की यह पूजा बंद न हो सकी। पूजाके मामलेमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करती! हमारा राज्य स्वतंत्र है, हमारा राज्य 'सैक्यूलर' है; हम इतिहास की रक्षा करते है!

लीजिए, एक और सुन लीजिए। प्रत्यक्ष लेखकके ही शब्दोंमें रोहणखेड़ (मध्यप्रदेश) की घटना :—

८. "मेरे सम्मुख ही एक संन्यासीने जो वहाँके बालाजीके मंदिरमें रहते थे और मुझे पुरातन अवशेष बताने चले थे, लट्ठसे दक्षिणकी खडगा-सन जैन-प्रतिमाके मस्तकको धड़से अलग कर प्रसन्न हुए।" जी हाँ, आपने ठीक पढ़ा है—"धड़से अलगकर प्रसन्न हुए!'

यह रोहणखेड़ है। यहाँ संन्यासी प्रसन्न होता है, और इतिहास फूट-फूटकर बिलखता है! इस प्रसंगका और आगे बढ़ना ठीक नहीं।

काम आ गई। इतिहासकी आत्मा शस्त्रोंकी धारपर समाधिमें विलीन हो गई। अब केवल इतिहासका भूत मुनिजीके कागज़में चिपटा बैठा है!

४. यह पद्मपुर है, गोंदिया तहसीलमें—महाकवि भवभूतिकी जन्म-भूमि! यहाँ खेत-खेतमें जैन-मूर्तियां मिलती हैं। इतिहास खेतोंमें बो दिया गया है। ध्वंसकी फ़सल लहलहा रही है!

५. यह डोंगरगढ है, सचमुच दुर्गमगढ़! यहांकी मूर्तियाँ उपकरणोंके लालित्यके कारण बड़ी सुंदर और अद्वितीय हैं। संतोषकी बात हो सकती थी कि यहाँ इन मूर्तियोंकी पूजा होती है। पर लज्जाकी बात है कि अहिंसाके अवतार, जैन-तीर्थंकरकी मूर्तिके आगे पूजाके दिनोंमें आज भी बकरीका बच्चा जीवित गाड़ा जाता है। यहाँ इतिहास पूजता है!

६. यह जसो है, विन्ध्यप्रदेशकी प्रसिद्ध पुरातत्त्वभूमि। इसकी मुख्यता यह है कि इसे 'जैन-मूर्तिका नगर' कहा जाता है। बड़े कामकी हैं ये मूर्तियाँ। इन मूर्तियोंकी बड़ी सुन्दर सीढ़ियाँ बनती हैं। और वह देखिए, तालाबपर हर धोबीका हर पाट चिकना-चिकना, मजबूत-मज़बूत इन्हीं मूर्तियोंका बना है। और, सुनिए मुनिजीकी बात। कहते हैं—'किसानोंके शौचालयसे एक दर्जन मूर्तियाँ मैंने उठवाईं।' जसोकी बात मैं कह रहा हूँ। इसी जसोमें एक तालाब है। इसी जसोमें एक राजा साहब थे, उन राजा साहबका एक हाथी था। एक दिन वह बेचारा हाथी मर गया। दूर कहाँ ले जाते, तालाबके किनारे गाड़ दिया। जहाँ गाड़ा वहाँ एक गढ़ा रह

खण्डहर-दर्शन

भारतवर्षका सांस्कृतिक वैभव खण्डहरोंमें बिखरा पड़ा है। खण्डहर मानवताके भव्य प्रतीक हैं। भारतीय जीवन, सभ्यता और संस्कृतिके गौरवमय तत्त्व पाषाणोंकी एक-एक रेखामें विद्यमान है। वहाँकी प्रत्येक कृति सौन्दर्यका सफल प्रतिनिधित्व करती है। जनजीवनका उन्नतम रूप और प्रकृतिका भव्य अनुकरण कलाकारोंने संस्कृतिके पुनीत प्रकाशमें, कलाके द्वारा जिस उत्तम रीतिसे किया है, वही हमारी मौलिक सम्पत्ति है।

खण्डहरोंके सौन्दर्य सम्पन्न अवशेष हृत्तंत्रीके तारोंको झंकृत कर देते हैं। हृदयमें स्पंदन उत्पन्न कर देते हैं। प्रकृतिकी सुकुमार गोदमें पले कलात्मक प्रतीकोंके दर्शनसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। रसपूर्ण आकृतियाँ "रसोऽयमात्मा"की अमर उक्तिपर मुहर लगा देती हैं। आन्तरिक वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और मानव कुछ क्षणोंके लिए अन्तर्मुख हो, आत्म दर्शन करने लगता है। आत्मीय विभूतियोंके प्रति सम्मानसे मस्तक झुक जाता है। जीवनमें अदम्य उत्साह छा जाता है। कलात्मक कृति रूपी लतासे परिवेष्टित खण्डहर, कलाकारोंको या दृष्टिसम्पन्न मनुष्योंको नन्दन वन-सा लगता है। वहाँके कण-कणमें संस्कृति और साधनाके मौन स्वर गुंजरित होते हैं। एक-एक ईंट व पाषाण अतीतका मौन संदेश सुनाते हैं। वहाँकी मृतिकाका संसर्ग होते ही मानस पटलपर उच्चकोटिके भाव त्वरितगतिसे बहने लगते हैं। कलाकार अपने आपको खो बैठता है। उसकी दृष्टि शिल्प गौरवसे स्तंभित हो जाती है, जैसे अर्थ गौरवके साहित्यिक की। तन्मयता, वाणीविहीन भाषाका काम करती है। जीवनका सत्य प्राप्त करनेके लिए एकाग्रता वांछनीय है। कलाकारका दृष्टिकोण जितना निर्मल, व्यापक, शुद्ध और बलिष्ठ होगा और जितनी रस-ग्रहण शक्ति

इतना हमें यह समझनेके लिए पर्याप्त होना चाहिए कि जिस इतिहासकी सृष्टि करके हमारे देशने अपना ही नहीं मानव जातिका मस्तक ऊँचा किया था, उसे हम पैरों तले रौंदकर नष्ट कर रहे हैं। हम कहते हैं अनार्योंने, म्लेच्छोंने, मुसलमानोंने भारतीय मूर्तिकलाकी उच्चतम अभिव्यक्तियोंको नष्ट कर डाला। अब जब हम यह बात कहें तो हमें पौनारका, कैलझरका, नागराका, पद्मपुरका, डोंगरगढ़का भी ध्यान जाना चाहिए। हमें जसोके विगत महाराज और रोहणखेड़के संन्यासीको भी इसी सूचीमें याद कर लेना चाहिए। अपनी-अपनी शक्ति भर हम इन कला-कृतियोंको इन अज्ञानियों और असहिष्णुओंके हाथसे बचायें, इस तरह जैसे हम सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं।

'खंडहरोंका वैभव' प्रकाशित करके भारतीय ज्ञानपीठ पाठकोंका ध्यान भारतीय पुरातत्त्वकी गरिमा और सुरक्षाकी आवश्यकताकी ओर आकर्षित करना चाहता है। पुस्तकका विषय गम्भीर है, भाषा भी तदनुकूल गम्भीर मालूम देगी। पर, जो पढ़ने और समझनेकी चीज है उसे मन लगाकर पढ़ना ही चाहिए। राष्ट्रोंका निर्माण ज्ञानके प्रति इतना श्रम तो चाहता ही है।

पुरातत्त्वके विषयमें प्रत्येक लेखक सावधानीसे लिखनेका प्रयत्न करता है, पर विस्मृत अतीतको अंधकारसे निकालकर पढ़नेमें अनुमानके धुँधले प्रकाशमें काम चलाना पड़ता है। सतत अनुसन्धान ही निश्चयात्मक ज्ञान-ज्योति देता है। अनुसन्धान सम्बन्धी ऐसी पुस्तकोंको पाठकोंसे आदर मिले तो पुरातत्त्व के विद्वान् अपने श्रमके लिए अधिकाधिक प्रेरित हों। 'ज्ञानपीठ' अपनी सेवाकी अंजलि चढ़ा रहा है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन,
सम्पादक
लोकोदय हिन्दी ग्रन्थमाला

तीव्रतर होगी, उतनी ही निकटताका वह पाषाणोंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है व विगत गौरवका रस वहीं चूता है। देह-गौणत्व ही देहीके रहस्यको प्राप्त कर सकता है। वहाँ चक्षुदर्शन महत्त्व नहीं रखता पर अन्तरदर्शनकी प्रधानता रहती है। "ज्योतिः पश्यति रूपाणि"का संचार-साक्षात्कार खण्डहरोंमें होता है। वहाँ अन्तरमन तृप्त होकर नवीन भावनाओंको जन्म देता है। तभी तो वैभवकी झांकी होती है। वहाँका वैभव प्रेरक होता है।

प्रसंगतः एक बातकी स्पष्टता आवश्यक है। वह यह कि खण्डहरोंका यथार्थ आनन्द और वास्तविक रहस्य प्राप्त करना है, व कलात्मकताके मौलिक भावोंको समझना है तो आप जब कभी किसी कलात्मक खण्डहरमें जायें तो एकाकी ही जायें। क्योंकि सामूहिक निरीक्षणसे खण्डहरोंका ऐतिहासिक व कालिक महत्त्व तो समझा जा सकता है, पर उसकी आत्माका ज्ञान नहीं होता, न सौन्दर्यका समुचित बोध ही होता है। खण्डहरोंकी अनुभूति वाणीकी अपेक्षा नहीं रखती, वह हृदयस्थ भावोंकी ब्रह्माण्ड-व्यापिनी कविता है जो चिरमौनमें ही अपना और सम्पूर्ण लोक-जीवनका सच्चा परिचय देती है। खण्डहर संस्कृति, प्रकृति और कलाका त्रिवेणी संगम है, जहाँ सत्यं शिवं सुन्दरम्का साक्षात्कार होता है। वह साक्षात्कार मस्तिष्कसे नहीं पर हृदयसे होता है। मस्तिष्क तथ्यतक सीमित रहता है जब हृदय सत्यको खोजता है। अनुभूतिका व्यक्तिकरण ही यदि कविता है तो मैं कहूँगा कि साहित्यिक भाषामें खण्डहर महाकाव्य है।

अपने विहारमें—पाद भ्रमणमें जहाँ मुझे खण्डहर मिल जाते हैं—चाहें वे किसी भी सांस्कृतिक परम्परासे सम्बन्धित क्यों न हों—वहाँ मेरी प्रसन्नताका वेग गतिशील हो जाता है। मेरा लेखनकार्य व चिन्तन वहींपर होता है। मुझे वहाँ प्रेरणा मिलती है। मानसिक शान्तिका अनुभव होता है। आध्यात्मिक भाव जाग्रत होते हैं। वहाँपर बिखरे हुए जीर्णशीर्ण-त्रुटित-अखंडित्व कलात्मक प्रतीकोंकी भावपूर्ण व सुकुमार रेखाओंमें मुझे तो आत्मलक्ष्मी

संस्कृतिके महान् साधकोंका चिन्तन परिलक्षित होता है। सर्वांगीण विकसित जीवन तत्त्व और साधनाका सत्य, अपेक्षाकृत पुरातन होते हुए भी चिरनवीन तत्त्वोंका उत्तम संस्करण ज्ञात होता है। उनके निरपेक्ष सौन्दर्य व शैल्पिक ओचरों में अनुप्राणित होता हूँ।

धर्म और कला

भारतीय कलाके उज्ज्वल अतीतसे अवगत होता है कि उसने धर्मके विकासमें महान् योग दिया है या यों कहना चाहिए कि सापेक्षतः धर्माश्रित कलाका विकास अधिक हुआ है। पुरातन मन्दिर, प्रतिमा आदि उपर्युक्त पंक्तियोंके समर्थन के लिए पर्याप्त है। कलाने आध्यात्मिक वृत्ति जागरणमें मानवताकी जो सहायता की है, वह अनुकरणीय है। भाव जागरणके लिए रूप शिल्पकी मानव जीवनमें तब तक आवश्यकता है, जब तक वह अप्रमत्त दशाको प्राप्त नहीं हो जाता। वह रूप शिल्प आत्मोत्थानमें सहायक भावोंका प्रतिविम्ब होना चाहिए, जिससे अन्तःवाणीके उन्नत आदर्शकी पूर्ति हो सके। इसलिए कहा गया है—

> दि स्टुडियो आव दि आर्टिस्ट आव टुडे।
> वड्बी टेम्पल आव ह्यूमैनिटी टुमारो॥

उपर्युक्त पंक्तियोंसे कलाकी सोद्देश्यता स्पष्ट है। उद्देश्य है मानव को सच्चे अर्थोंमें मानव बनाना। धर्मका भी कर्तव्य यही है कि मानवीय गुणके विकास द्वारा आत्माको निरावृत बनाना। गुण विकास और साधनामें साधक तत्त्वोंका पुष्टीकरण कलाके द्वारा होता है। सम्पूर्ण भारतमें धर्म-मूलक कितनी भी उत्कृष्ट कलाकृतियाँ खण्डहरोंसे उपलब्ध की जा सकती हैं और कितनी ही आज भी उपेक्षाके कारण दैनन्दिन नष्ट हो रही हैं। उन सबका सीधा सम्बन्ध धर्म या लोकोत्तर जगत्से होते हुए भी, उनका लौकिक महत्त्व किसी भी दृष्टिसे अल्प नहीं। आत्मस्थ सौन्दर्यको उद्बुद्ध करनेमें निमित्त होनेके कारण तथाकथित कृतियाँ या पार्थिव आवश्यकताओंमें

जन्म लेनेवाली कला भौतिक होते हुए भी आध्यात्मिक कोटिमें ही आती है, किन्तु उनसे हमारे पूर्व कालीन लोकजीवन एवं नृतत्त्व शास्त्रपर जो प्रभाव पड़ा है वह अध्ययनकी मूल्यवान् सामग्री है। तात्पर्य कलामें जीवनके उभयपक्षोंका अनुपम विकास स्पष्ट है।

दृष्टिकोण

किसी भी वस्तु विशेषको देखने-परखनेका प्रत्येक व्यक्तिका अपना दृष्टिकोण होता है। वस्तुका महत्त्व भी दृष्टिपरक होता है। सौन्दर्य-दृष्टिहीन हृदय अत्युच्च कलाकृतिपर आकृष्ट नहीं होता। पर सौन्दर्य-दृष्टि-सम्पन्न कलाकार टूटी-फूटी कलाकृति या खण्डहर पर न केवल मुग्ध ही हो जाता है, अपितु उसकी गहन गवेषणामें अपना समस्त जीवन समर्पित कर देता है। जिस प्रकार दार्शनिक परिभाषामें नित्यानित्य पदार्थ विज्ञानकी सुदृढ़ परम्परा विकसित हुई है, ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य-दर्शनके उपकरणोंको लेकर विभिन्न परम्पराओंका उद्भव हुआ है—होता रहता है। अमुक वस्तुमें ही सौन्दर्य है या अमुक प्रकारका उपादान ही सौन्दर्य व्यक्तीकरणके लिए उपयुक्त है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। न कलाके व्यापक क्षेत्रमें ऐसे एकान्तवादकी कल्पना ही सम्भव है। वह तो अनेकान्तवादकी सुदृढ़ शिलापर आधृत है। तात्त्विक दृष्ट्या सौन्दर्य वस्तुगत न होकर व्यक्तिगत है। हृदयहीन सौन्दर्य-सम्पन्न वस्तुसे आनन्द नहीं पा सकता और लौकिक दृष्टिसे उपेक्षित, खंडित सौन्दर्य-विहीन वस्तुसे भी दृष्टि-सम्पन्न मानव आनन्दानुभव कर सकता है। आत्मस्थ सौन्दर्य, समुन्नित चित्तवृत्ति एवं अन्तर दृष्टिके विकास पर ही पार्थिव सौन्दर्य दर्शन निर्भर है। शिल्पी या कलाकारके अनवरत श्रम और उदात्त विचार परम्पराका मूल्यांकन हृदय ही कर सकता है न कि अर्थ या मस्तिष्क। जहाँ शिल्पीकी हृदयगत भावना सुकुमार रेखाओंमें प्रवाहित होती है, वहाँ अर्थ गौण हो जाता है। कलाकृति देखते ही कला समीक्षक कलाकारकी सराहना करता है न कि उस लक्ष्मीपुत्र की, जिसने

भव्य कृति सृजित करवाई। आज अनगढ़ कृतिको देखकर भी हमारे हृदयमें इसलिए क्षोभ उत्पन्न नहीं होता कि हममें यह दृष्टि ही कहाँ जो दीर्घकालव्यापी साधनाके श्रमका उचित मूल्यांकन कर सके। पुरातन कलाकृतिको देखकर तात्कालिक नैतिक चरित्रका और पूर्व परम्पराका कलामें जो विकास हुआ है, उस पर विचार करनेवाले हैं कितने? भावना-को भावना ही हृदयंगम कर सकती है न कि शुष्क विचार।

पुरातत्त्वान्वेषण

खण्डहर दर्शकका मानसिक स्तर अध्ययनकी दृष्टिसे बहुत ही उच्च कोटिका होना चाहिए। तभी वह वहाँ बिखरे हुए सांस्कृतिक वैभवकी झांकी पा सकेगा। पुरातत्त्वान्वेषणमें अभिरुचि रखनेवाले व्यक्तिका इन निम्न-लिखित विषयोंका गम्भीर अध्ययन व मनन होना चाहिए:—

खण्डहरोंसे केवल शिल्पावशेष ही प्राप्त होते हैं ऐसी बात नहीं। कभी ताम्र व शिलोत्कीर्ण लिपियाँ, मुद्राएँ, प्राचीन शस्त्रास्त्र, आभूषण, भाजन तो कभी ग्रन्थस्थ वाङ्मय भी निकल पड़ता है। भूगर्भसे किसी भी प्रकारकी वस्तु निकलती है उसकी रक्षाके प्रयत्न, प्राप्त साधन-सामग्रीके आधारपर ऐतिहासिक व सांस्कृतिक तत्त्वोंकी गवेषणा एवं कला व सभ्यताके क्रमिक विकासकी मौलिक परम्पराओंका व्यवस्थित अध्ययन करना आदि समस्त कर्त्तव्योंका अन्तर्भाव पुरातत्त्वान्वेषणमें होता है।

१. शिल्पस्थापत्य—प्राक्कालीन इमारतोंकी निर्माण शैली और उनमें विकसित कलाका अभ्यास करना और प्राचीन शिल्प-स्थापत्यपर प्रकाश डालनेवाले वास्तु-विषयक साहित्यिक ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अध्ययन व मनन करना। अध्ययन करते समय इस बातका भलीभांति ध्यान रखना चाहिए कि ग्रन्थस्थ शिल्प-परम्परा, कला द्वारा पत्थर, काष्ठ व अन्य धातु पर कहाँतक सफलतापूर्वक अवतरित हो सकी है। एवं उसमें कलाकारोंने कौन-कौनसे सामयिक परिवर्तन किये हैं। ऐसे शिल्प प्रतीकोंसे संस्कृति और सभ्यताके

क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र एवं फरगुसन, विन्सेन्ट स्मिथ, डा० कुमारस्वामी, बर्जेस व कनिंघम आदि विद्वानोंके साहित्य परिशीलन पर उपयुक्त दृष्टिका विकास हो सकता है।

२. मूर्ति-शास्त्र—भूमिसे प्राप्त या अन्य किसी स्थानसे उपलब्ध जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म सम्बद्ध प्रतिमाओंका सशास्त्र अध्ययन। कलाकार को उक्त विषयका जितना सूक्ष्म ज्ञान होगा उतना ही वह अन्वेषणके क्षेत्रमें यशस्वी होगा। अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण कभी-कभी ख्याति-प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता भयंकर भूल कर बैठता है। खंडहरोंके वैभवमें ऐसी भद्दी भूलोंका परिमार्जन किया गया है। मूर्तिशास्त्रका अध्ययन तुलनामूलक होना चाहिए। प्रान्तीय प्रभावोंपर विशेष रूपसे ध्यान देना आवश्यक है।

३. उत्कीर्ण व उठे हुए—लेख भी खण्डहरोंसे या कभी-कभी खेतोंमें प्राप्त होते हैं। इनको पढ़नेके लिए और बिना कालसूचक लेखोंके समयादि स्थिर करनेके लिए एवं तद्गत ऐतिहासिक तत्त्व प्राप्त्यर्थ पुरातन लिपियोंका गंभीर सक्रिय अध्ययन वांछनीय है। बिना लिपिज्ञानके कला-कार अपनी साधनामें सफल न हो सकेगा। मान लीजिए, कभी आप किसी खंडहरमें निकल गये, वहाँ एक लेखपर आपकी दृष्टि पड़ी, किंतु लिपि विषयक आपका ज्ञान सीमित है, आप उसे नहीं पढ़ सकते हैं, न आपके पास केमरा है। पर पुरातत्त्वमें रुचि रखनेके कारण जिज्ञासा अवश्य ही होती है कि इसमें क्या है। उस समय मनमें बड़ा उद्वेग होता है। यदि इस आकस्मिक प्राप्त सामग्रीकी उपेक्षा करते हैं तो वह शिला ग्रामीण द्वारा भंग व चटनी पीसनेके निमित्त उठवा ली जाती है, बहुधा ऐसा हुआ है। इस समस्याको हल करनेके लिए स्वर्गीय पुरातत्त्वज्ञ बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर द्वारा एक प्रयोग मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि श्री मंगलसागरजीको प्राप्त हुआ था जो इस प्रकार है।

ढाई तोला स्वच्छ मोममें डेढ़ तोला काजल मिलाया जाय, उष्ण करके मथा जाय, तदनन्तर मोटी पेन्सिलके समान दण्डाकृतिमें ढालकर ३६

घंटे पानीमें भिगा दिया जाय, आवश्यकता पड़नेपर इस प्रकार व्यवहारमें ला सकते हैं। पतला काग़ज़ लेखके ऊपर जमा लें, एक ओरसे पूर्व निर्मित पेन्सिल काग़ज़ पर आहिस्ता आहिस्ता घिसी जाय। लिपि स्थान श्वेत हो जायगा और कागज श्याम। समझिए लेखकी प्रतिलिपि आप प्राप्त कर चुके। फोटोग्राफकी अपेक्षा इस परसे ब्लॉक भी बहुत साफ बनता है।

४. मुद्रा-शास्त्र—पुरातन खण्डहरोंसे मुद्राएँ भी प्राप्त होती हैं। खण्डहरोंके निकट भरनेवाले साप्ताहिक बाजारोंमें कभी-कभी पुरातन मुद्राएँ उपलब्ध हो जाती हैं। व्यापारी उन्हें गलाकर रजत या स्वर्ण प्राप्त कर लेते हैं[१]। पर कलाकारको चाहिए कि मुद्राशास्त्रका व्यवस्थित अध्ययन करें एवं तदुपरि उत्कीर्णित लिपियोंमें राजा महाराजादिका अन्यान्य साधनों द्वारा अस्तित्वकाल प्रकट करें। मुद्राएँ इतिहासकी सर्वाधिक विश्वस्त सामग्री हैं और हमारी संस्कृतिका मौलिक विकास किसी-किसी मुद्राओंमें बहुत स्पष्टतः परिलक्षित होता है। मुद्राशास्त्र केवल आंग्ल परम्पराकी देन नहीं है पर १४ वीं शतीमें इसके अध्ययनका सूत्रपात हो चुका था। ठक्कुर फेरूने[२] द्रव्यपरीक्षा नामक स्वतंत्र ग्रन्थ ही मुद्राशास्त्रपर वि० सं० १३७५ में प्रस्तुत किया था। प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थोंमें आनेवाले मुद्राके उल्लेखोंको न भूलें।

---

[१] मैंने मध्यप्रान्तके कई नगरोंमें देखा है और सिवनीमें श्रीयुत घन्नीलालजी चुन्नीलालजी नाहटा और मालू खुशालचंदजीके पास ऐसी सिक्कोंकी पर्याप्त सामग्री अनायास ही एकत्र हो गई हैं। प्रसन्नताकी बात है कि वे स्वर्ण-लोभसे पुराने सिक्कोंको न गलाकर सुरक्षित रखते हैं। मुझे भी कुछ मुद्राएँ आपने महाक्षत्रप रुद्रदामनकी प्रदान की थीं, जो घनसौर, लखनादौन व छपारासे प्राप्त हुई थीं। आज भी चातुर्मासके बाद कभी-कभी निकल पड़ती हैं।

[२] विशेषके लिए देखें "ठक्कुर फेरू और उनके ग्रन्थ" शीर्षक मेरा निबंध विशाल भारत जून-जुलाई १९४८।

५. ग्रन्थ-साहित्य—मेरा तात्पर्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ व दस्तावेजोंसे है। मेरा अनुभव है कि इतिहास और कलाके क्रमिक विकासपर प्रकाश डालनेवाली जो सामग्री स्वतंत्र ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती वह पुराने ज्ञानभण्डारोंके फुटकर पत्रोंमें मिल जाती है। जैन इतिहासका जहाँ तक प्रश्न है मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि इसकी प्रचुर सामग्री फुटकर पत्रोंमें बिखरी पड़ी है। समाजकी असावधानीसे दैनन्दिन दीमकोंके उदरमें इतिहास समाता जा रहा है।

६. अतिरिक्त वस्तु—निरीक्षण—इस विभागमें सूचित सामग्रीका अध्ययन विशेष रूपसे अपेक्षित है। यद्यपि वर्ण्यवस्तु सामान्य-सी ज्ञात होती है पर बिना इसपर समुचित अध्ययन किये कलाकारकी दृष्टि पूर्ण नहीं होती न निरीक्षण शक्तिका ही विकास होता है। आजके वैज्ञानिक—शोध-प्रधान युगमें खण्डहरोंके अन्वेषणमें रुचि रखनेवाले विद्यार्थियोंको भूगर्भ-शास्त्रका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। बिना इस ज्ञानके न तो खुदाई की जा सकती है और न उसमें पायी जानेवाली वस्तुओंका काल निर्देश ही। एक ही खण्डहरकी खुदाईमें कभी-कभी भिन्नकालीन वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनकी आयु खण्डहरसे कई वर्ष पूर्वकी भी संभव है। दीवालके थरोंमें भी अलग-अलग शताब्दियोंकी मृत्तिका व भवन-निर्माण शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। खुदाई करानेवाला यदि सावधानीसे कार्य न करेगा तो एक स्थान पर विभिन्न सभ्यताओंके सांस्कृतिक परिज्ञानसे वंचित रह जायगा। खुदाईमें निकलनेवाले मृत्तिकाके मनके, प्राचीन शस्त्रास्त्र, पुराने कलापूर्ण बरतन, शिरस्त्राण, आभूषण और बालकोंके खिलौने आदि मृण्मूर्तियाँ वगैरह अनेक प्रकारका सामान निकलता है। कभी-कभी एक ही वस्तु ऐसी निकल पड़ती है जो इतिहासपर गहरा प्रकाश डालती है। इन समस्त विषयोंका परिज्ञान सुयोग्य शोधकके चरणोंमें बैठकर प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कलाकार नृतत्त्व-शास्त्रकी उपेक्षा न करें, क्योंकि मानव जातिकी विभिन्न

परंपराओंका भौतिक इतिहास भी इन कृतियोंको समझनेमें सहायक होता है।

७. **इतिहास, सभ्यता और संस्कृति**—का गंभीर व तुलनात्मक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, यही तो वास्तविक चक्षु या प्रेक्षणशक्तिका मूलस्रोत है। राजनैतिक और भौगोलिक इतिहास व संस्कृतिका समुचित ज्ञान न हो तो उपकरणाश्रित सभ्यताको आत्मसात् करना असंभव हो जायगा। इतिहासके द्वारा ही तो कलामें कालक्रम विभाजन संभव है। समय-समयपर सामाजिक परिवर्त्तनके कारण सभ्यता पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वास्तविक ज्ञान उपर्युक्त अन्वेषणपर अवलंबित है। आवश्यकीय शास्त्रीय व पारंपरिक अनुभवमूलक ज्ञानके अतिरिक्त पुरातत्त्व विभाग व प्राच्य विद्या सम्मेलनके वार्षिक वृत्तांत एवं साहित्य, संस्कृति और कलापर अधिकारी विशिष्ट विद्वानोंके निबंधोंका मनन भी आवश्यक है। अध्ययन जितना क्रियात्मक होगा कलाकार उतनी ही गवेषणामें सफलता प्राप्त कर सकेगा।

मध्यप्रदेशके पुरातत्त्व

"खंडहरोंके वैभवका" मुख्य भाग मध्यप्रदेशके पुरातत्त्वसे सम्बद्ध है। मध्यप्रदेश ऐसा भू-भाग है, जहाँ संस्कृतिके मुखको उज्ज्वल करनेवाली विपुल कलात्मक राशिके रहते हुए भी शोधकोंकी दृष्टिसे अद्यावधि उपेक्षित ही रहा है। जनरल कनिंघम और राखालदास बनर्जी, डा० हीरालाल आदि कुछ विद्वानोंने अपने संस्कृतिपरक ग्रन्थोंमें प्रसंगतः प्रांतकी कलात्मक संपत्तिका उल्लेख किया है; किंतु उसकी व्यापकताको देखते हुए वह नगण्य है। जिन्होंने स्वयं अरण्य व खंडहरोंमें भ्रमणकर एतद्विषयक अनुभव प्राप्त किया है, उनका मत है कि जितनी गवेषणा हो चुकी है और उनका जो महत्त्व पुरातत्त्वविभाग द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण व सौंदर्यसंपन्न साधन आज गवेषणाकी प्रतीक्षामें है।

मध्यप्रांतमें एक नहीं पर दर्जनों ऐसे खण्डहर विद्यमान हैं व उनमें ऐसी-ऐसी कला संपन्न सामग्री सुरक्षित है जहाँ पुरातत्त्वविभागके उच्च वेतनभोगी कर्मचारी नहीं पहुँच सके हैं। ऐसी स्थितिमें उनकी रक्षाका उल्लेख ही व्यर्थ है। स्वतंत्र भारतकी सरकार क्या इन अवशेषोंकी रक्षाके लिए सक्षम नहीं है?

मध्यप्रदेश

मैंने अनुभव किया कि जिस अवशेषोंको, जिन खंडहरोंमें प्रथम यात्रा में मैंने देखा था वे दूसरी यात्रामें दृष्टिगोचर नहीं हुए। इनमेंसे कुछ-एक जनता द्वारा नष्ट कर दिये गये, एवं कथित कलाप्रेमी ग्रामीणोंकी आँखें बचाकर उठा ले आये और कभी-कभी सरकारी अफ़सर मन-पसन्द कला-कृतियाँ अपने ड्राइंग रूमको सजानेके लिए उठा ले आये। जनरल कनिंघमने बहुतसे ऐसे अवशेषोंका वर्णन अपनी रिपोर्टमें किया है जिनका पता डाक्टर हीरालालको न लग सका और डा० हीरालाल व श्री राखालदास बनर्जीने जिन मूल्यवान् कलात्मक प्रतिमाओंकी चर्चा अपने ग्रंथोंमें की है, उनमें से बहुसंख्यक मूर्तियाँ सूचित स्थानोंपर मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुईं, संभव है जिन कृतियोंका उल्लेख मैंने अपने 'खण्डहरोंके वैभव' में किया है वे भी शायद कुछ वर्षोंके बाद न रहें इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

उपेक्षा

जो मूल्यवान् साधन नष्ट हो गये हैं, गिट्टी बन सड़कोंपर बिछ गये; मकानोंकी नीवोंमें भर गये, उनकी चर्चा अब व्यर्थ है। यदि विगत अनुभवसे प्रान्तीय कलाकार व शासनने लाभ नहीं उठाया तो अवशिष्ट सामग्रीसे भी वंचित रहना पड़ेगा। पुरातन वस्तु या पुरातन प्रतिमाओंको नष्ट करनेके सैंकड़ों प्रयोगोंमेंसे एकके उल्लेखका लोभ संवरण नहीं कर सकता। दक्षिण-कोसलमें आदिवासियोंमें मोहिनीकी पुड़िया खूब प्रसिद्ध है। इसे बैंगा

(आदिवासी समाजका पुरोहित) नवदंपतिको पारस्परिक स्नेहसंवर्द्धन व सौंदर्य परिवर्द्धनार्थ प्रदान करता है। प्राचीन मूर्तियोंका मुखसौंदर्य अनुपम रहता है। ऐसी मूर्तियोंके मौलिक सौंदर्यवाले स्थानको बारीक छेनीसे खरोंच लिया जाता है। पपड़ियोंका चूर्ण ही मोहिनीकी पुड़िया है, बैंगा और समाजके सदस्योंका मानना है कि इसे लगानेसे मूर्तिके समान अपना भी मुखमंडल सौंदर्यसे उद्दीपित हो उठता है। इस अंधपरंपराने सहस्राधिक मूर्तियोंके सौंदर्यका निर्दयतापूर्वक अपहरण किया। इस प्रकार कलाके महत्त्वको न जाननेवाले वर्गकी ओरसे भयंकर आघात, इन संस्कृति के मूक प्रतीकोंको सहना पड़ता है।

आज प्रांतमें ऐसा कलाकार नहीं जो शोधकी साधनामें अपने आपको खपा दे। पुरातत्त्वविभाग भी पूर्णतया उदासीन है, वेतनभोगी, कर्मचारी के पास उतना समय नहीं कि वह खण्डहरोंमें पथराये हुए प्रत्येक प्रतीककी अन्तरध्वनि सुन सके। प्रांतीय शासनकी उपेक्षापूर्णनीति तो बहुत ही खलती है, न तो शासनने कभी स्वतंत्र रूपसे एतद्विषयक अन्वेषण प्रारंभ किया एवं न स्वतंत्र कार्य करनेवाले कलाकारोंको प्रोत्साहित ही किया। हाँ, सांस्कृतिक व लोककल्याणकी पारमार्थिक भावनासे उत्प्रेरित होकर कार्य करनेवालोंके बीच रोड़े अटकानेका कार्य अवश्य किया। उनपर घृणित आरोप लगानेमें शासनके जी-हुजूरियोंको तनिक भी संकोच नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि शोध विषयक कार्य शासनको सुहाता नहीं है।

महाकोसलके जैन-पुरातत्त्व पर नवीन प्रकाश

कला और संस्कृतिके विकासमें युगका बहुत बड़ा साथ रहता है। सूचित प्रदेशके जैन पुरातत्त्वपर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।

खण्डहरोंके वैभवमें पृष्ठ १३१ से १८४ में महाकोसलके जैन पुरातत्त्वपर प्रकाश डाला गया है, किंतु उल्लिखित प्रकाश विषयक फर्मे छपनेके बाद मुझे महाकोसलके नवीन खंडहरोंकी यात्रा करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ।

मूक विषयसे सम्बन्ध होनेके कारण उपलब्ध नवीन तथ्योंका उल्लेख आवश्यक हो गया।

पृष्ठ १६५में सूचित किया जा चुका है कि महाकोसलमें प्राचीन स्थापत्य विषयक जैन खण्डहरोंमें आरंगका ही एक मंदिर है किंतु अत्र मैं संशोधन करता हूँ। उपर्युक्त मंदिरकी कोटिके दो और मंदिरोंका अस्तित्व पनागर व वरहटामें पाया गया है निःसन्देह यह दोनों मंदिर न केवल स्थापत्य-कलाके भव्य प्रतीक ही हैं अपितु कुछ नवीन तथ्योंको लिये हुए हैं। वरहटाका मंदिर संपूर्ण महाकोसलके मंदिरोंका सफल प्रतिनिधित्व करता है। वहाँकी अति विशाल जैन-मूर्त्तियाँ पांडवोंके नामसे आज भी पूजी जाती हैं। संस्कृति, प्रकृति और कलाके संगम स्थान वरहटामें १५० से अधिक व अत्यल्प खंडित तीर्थंकरोंके ये प्रतीक सरोवरके धोबी-घाटोंमें लगे हुये हैं। कुछ-एक मूर्त्तियें का उलटाकर चटनी व भंग पीसनेमें प्रयुक्त होती हैं। कलचुरियोंके समय वरहटा जैनधर्म व संस्कृतिका महाकेन्द्र था। वह आज यह उपेक्षित अरक्षित व समाज द्वारा विस्मृत खण्डर मात्र रह गया है।

पनागर (ज़िला होशंगाबाद) दूधी नदीके किनारे बसा हुआ है। इस नदीके तटपर अतिविशाल व सुंदर कोरणी युक्त जैनमंदिर था जो अभी-अभी मिटा है। एक ही इस मंदिरके संपूर्ण अवशेष यत्रतत्र १२ मीलकी परिधिमें छाये हुये हैं। किंतु मंदिरका व्यास रिक्त स्थानसे आंका जा सकता है। मंदिरमेंसे यों तो ५० प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई थीं, सब लेखयुक्त थीं। सलेख मूर्तियोंकी सामूहिक उपलब्धि पनागरको छोड़कर अन्यत्र महाकोसलमें कहीं नहीं हुई। संपूर्ण लेख तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्धसे संबद्ध हैं। महाकोसलकी मूर्ति-निर्माण कलापर इन लेखोंसे कुछ प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध लेख ये हैं।

प्रतिमा १८×१८ इंच

१. "संवत् १२४४ फाल्गुन सुदि ४ गुरौ उ······सवाल्यवये साधु देह सुत साधु तोहट भार्या साकसोया प्रणमति नित्यं ॥

प्रतिमा १९ × २० इंच

२. ॥ संवत् १२६८ वर्षे वैसाष शुदि १० रवौ आचार्य श्री ध्रुव (ध्रुव) कीर्ति गुरुपदेशेन साहु पाल्ह भार्या आमिलि ललिया सुत साधु थीरू भार्या वल्हा वल्हासुत महिपति धणपति प्रणमन्ति नित्यं ॥

प्रतिमा २२ × १६ इंच

३. संवत् १२६४ वर्षे वैसाष सुदि १० रवौ गृहपति साधु आल्ह भ्राता···हसील पितापुत्र प्रणमन्ति नित्यं ॥

४. "जैवान्वये साधु वरणसामि तद्भार्या रत्ना सुत लाहू प्रणमन्ति सं० १२२५" ॥

मूर्त्तियाँ स्निग्ध हैं। सुडदर्शन तो होता ही है साथ ही मौर्यकालीन चमकका आभास भी मिलता है।

जैन-प्रभाव

महाकोसलमें जैनसंस्कृतिके व्यापक प्रभावके कारण हिन्दू और बौद्ध-धर्मकी मूर्त्तियोंपर जैनकलाका प्रभाव पड़ा है। बरहटामें खड्गासनमें द्विभुजी विष्णुकी एक मूर्त्ति उपलब्ध हुई है, जो दीमर चौतरेपर पड़ी है। इसका सिर जैन-मूर्त्तिके समान मुकुटविहीन है। केश भी वैसे ही गोल गुच्छोंकित्नान है। जब विष्णुकी मूर्त्ति मुकुटसहित और चतुर्भुजी होती है। ध्यानी विष्णुमें भी जैन-मूर्त्तिका ही प्रभाव है।

सोनियामें, शंकरमूर्त्तिपर भी जैन प्रभाव[१] है। शिवमूर्तिमें जटाका

---

[१] सुप्रसिद्ध गवेषक बाबू कामताप्रसादजी जैन के ता० २०-४-५२ के पत्रसे विदित हुआ कि इन्दौरके संग्रहालयमें आपने एक ऐसी शिवमूर्त्ति देखी थी जो बिल्कुल जैन मूर्ति ही लगती थी। उनका मानना है कि भगवान् ऋषभदेवको शिवरूपमें अंकित किया गया है। संभव है दृष्टि सम्पन्न कलाकार शोधमें तन्मय हो जायँ तो ऐसी और भी रचना मिल जाँय।

रहना आवश्यक माना गया है। यही एक ऐसी मूर्ति है जिसपर केश नहीं है और भोलाशंकर कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े हैं। पार्वती, नन्दी, कार्तिकेय, शिवगण भी विद्यमान हैं। पद्मासन और खड्गासन जैन-मूर्ति विधान-शास्त्रकी मौलिक देन है।

त्रिपुरीकी बौद्ध व हिन्दू प्रतिमाओंमें ध्यानी मुद्रा व अष्टप्रातिहार्यका क्रमशः अंकन पाया जाता है। जैन मूर्तियोंमें इनका अंकन सोद्देश्य है। तीर्थंकरोंकी जीवनीके साथ अष्टप्रातिहार्यका सम्बन्ध है। पर बौद्ध और हिन्दू-धर्मनान्य नेताओंकी मूर्तियोंमें इसका अंकन किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। ज्ञात होता है कलाकारोंने इसे भी अन्य कलोपकरणोंके समान समझकर खोद देते रहे होंगे।

अश्रुतपूर्व एक प्रतीक

इतिहासके मध्यकालमें संत-परम्पराका प्रभाव बहुत बढ़ चुका था। संत-साहित्य और जीवनमें समन्वयवादी भावना मूर्त रूप धारण किये थी। कलात्मक प्रतीक युगका प्रतिनिधित्व करते हैं। मुझे अपनी खोजमें एक प्रतीक ऐसा मिला है जो भारतमें अपने ढंगका प्रथम है। संतोंको समन्वय-वादी साधनाका मूर्त रूप कलामें व्यक्त करने वाली यह प्रथम कृति है। एक ही प्रस्तर शिलापर जैन, शैव और वैष्णव संस्कृतिके प्रतीक खुदे हुए हैं। शिलाके मध्य भागमें भगवान् भोलाशंकर पद्मासन लगाये बैठे हैं, दोनों ओर शेषशायी व बांसुरी लिये विष्णुकी प्रतिमा उत्कीर्णित है। तन्निम्न भागमें दोनों ओर ५ जिन मूर्तियाँ खड्गासनस्थ विराजमान हैं। शंकरका पद्मासनमें बैठना और जिनमूर्तिका वैदिक मूर्तियोंके साथ अंकित करना यह जैन प्रभावका प्रमाण है, साथ-साथ समन्वयका कलात्मक प्रतीक भी।

अन्वेषक

यहांपर मैं कुछ-एक विद्वानोंका परिचय दे रहा हूँ जिन्होंने प्रान्तके इतिहास व पुरातत्त्वपर आंशिक प्रकाश डालकर अपने गौरवकी परम्पराको

अक्षुण्ण बनाये रखा। ऐसे विद्वानोंमें स्व० डॉ० हीरालालजीका स्थान प्रथम पंक्ति में आता है।

डॉ० हीरालाल

आपने सर्वप्रथम हिन्दीमें गजेटियर तैयार किये और प्रान्तीय विद्वानोंको इस पुनीत कार्यके लिए प्रोत्साहित किया। इनके व इनकी परम्पराका अनुधावन करनेवाले विद्वत्समाजने जो गजेटियर तैयार किये उनमें पुरातत्त्व सामग्रीका अच्छा संकलन है। मुझे भी अपने अन्वेषणोंमें उनसे भारी मदद मिली है। स्पष्ट कहा जाय तो थोड़ा बहुत भी मध्यप्रान्तका गौरव आज विद्वत्समाजमें है, वह डॉ० साहब की शोध के कारण ही। पर खेदकी बात है कि वह डॉ० साहब जैसे विद्वान्‌को पाकर भी प्रान्तीय विद्वान् उनकी शोधविषयक-परम्परा कायम न रख सका। उनके लिखे गजेटियरके परिवर्द्धित संस्करणोंका प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। डॉ० सा० राष्ट्रकूट व कलचुरियोंके माने हुए विद्वान् थे।

पं० लोचनप्रसादजी पाण्डेय—आपने मध्यप्रान्तके इतिहास व पुरातत्त्व की महान् सेवा की है। जंगलोंमें घूम-घूमकर लेखोंका संग्रह करना, उनका संपादन कर उचित स्थान पर प्रकाशित करवाना, यही आपके जीवनकी साधना रही है और आज भी जारी है। महाकोसलके शिला व ताम्रलेखोंको आपने योग्यतापूर्वक सम्पादनकर "महाकोसल रत्नमाला" के भागोंमें प्रकट किया है। आपकी "महाकोसल हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी" (बिलासपुर) आज भी शोधकार्यमें तन्मय है।

स्व० योगेन्द्रनाथ सील—ये सिवनीके सुप्रसिद्ध वकील व नागरिक थे। आपको प्रान्त "मध्य प्रदेशका इतिहास" के लेखकके नाते ही जानता है। पर आपने जैन-पुरातत्त्व और इतिहासकी जो मूक सेवा की है, बहुत कम लोगोंको ज्ञात है। आपने मध्यप्रान्तके ऐतिहासिक स्थानोंको २५ वर्ष पूर्व देखा था, सभीके नोट्स भी आपने लिये थे। इनकी दैनन्दिनी

मैंने गतवर्ष उनके सुयोग्य पुत्र श्री नित्येन्द्रनाथ सीलके पास देखी थी। इसके प्रकाशनसे जैन-पुरातत्त्वकी कई मौलिक सामग्रीपर अभूतपूर्व प्रकाश पड़नेकी संभावना है। घनसौरकी खोज आपने ही की थी, जहाँ ५२ जैन मंदिरोंके खण्डहर उन दिनों थे। आज तो केवल पाषाणोंका ढेरमात्र है।

इनके अतिरिक्त स्व० यादव माधव काले, ब्योहार श्री राजेन्द्रसिंहजी, श्री प्रायगदत्तजी शुक्ल, श्री एन० एल० सिंह, डॉ० हीरालालजी जैन, श्री वा० वि० मिराशी आदि सरस्वती पुत्रोंने प्रान्तकी गरिमाको प्रकाशित करनेमें जो श्रम किया है और आज भी कर रहे हैं, उनसे बहुत आशा है कि वे अपने शोध-कार्य द्वारा छिपी हुई या दैनन्दिन नष्ट होनेवाली कलात्मक सम्पत्तिके उद्धारमें दत्तचित्त होंगे।

खण्डहरोंका वैभव

समय-समयपर लिखे गये पुरातत्त्व व मूर्तिकला विषयक १० निबंधोंका संग्रह है। तीन वर्ष से कुछ पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ काशीके उत्साही मंत्री बाबू अयोध्याप्रसादजी गोयलीय व लोकोदेय ग्रन्थमालाके सुयोग्य सम्पादक बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैनने मुझसे कहा था कि मैं उन्हें अपने चुने हुए निबंधोंका संग्रह तैयार दूँ। पर मेरे प्रमादके कारण बात यों ही टलती गई। परंतु श्री गोयलीयजी काम करवानेमें ऐसे कठोर व्यक्ति हैं कि उनको टालना, मेरे-जैसेके लिए किसी भी प्रकार संभव न था। उनके ताने तक़ाजे भरे उपालंभ पूर्ण पत्रोंने मुझे संग्रह शीघ्र तैयार करनेको विवश कर दिया। प्रमाद जीवनोन्नतिमें बाधक हुआ करता है पर इस वैभवके लिए तो वह वरदान ही सिद्ध हुआ। इसका अनुभव मुझे इन पंक्तियोंके लिखते समय हो रहा है।

बात यों है। मुझे १९४९ के बाद बनारससे विन्ध्यप्रदेश होकर अपने पूज्य गुरुवर्य्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराजके साथ पुनः मध्य प्रान्त आना पड़ा। इतः पूर्व १९४०-१९४५ तक हम लोग मध्यप्रान्तके

विभिन्न नगर-ग्राम-खण्डहर-वनोंमें विचर चुके थे। उस समय भी मैंने विहारमें आनेवाले खण्डहरों और वनोंमें बिखरे शिल्पावशेषोंके यथामति नोट्स लिये थे। कुछ एकका प्रकाशन भी "विशाल भारत" में हुआ था। जब पुनः मध्यप्रदेश आना पड़ा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। इससे धार्मिक-लाभ तो हुआ ही, पर साथ ही तीन लाभ और भी हुए। प्रथम तो विन्ध्य-प्रदेशके कतिपय खण्डहरोंमें बिखरी हुई जैन-पुरातत्त्वकी सामग्रीका अनायास संकलन हो गया। यद्यपि विन्ध्यभूमिका मेरा भ्रमण अत्यन्त सीमित ही था, पर वहाँ जो साधन उपलब्ध हुए वे वहाँकी श्रमणसंस्कृति और कलाका भलीभाँति प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। द्वितीय लाभ यह हुआ कि कटनी तहसील स्थित बिलहरी आदिकी सर्वथा नवीन और पूर्णतया उपेक्षित जैनाश्रितशिल्प व मूर्तिकला-सम्पत्तिके दर्शन हुए। कलचुरि युगीन जैन मूर्तियोंका तब तक मेरा अध्ययन अपूर्ण ही रहता जबतक मैं इन खण्डहरोंको न देख लेता; क्योंकि तात्कालिक कलाकेन्द्रोंमें बिलहरीका भी स्थान था। पूर्व निरीक्षित खण्डहरोंको पुनः देखनेका अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि सम्पूर्ण तो नहीं देख पाया, किन्तु अल्पकालमें सीमित पुनर्विहारसे जो सामग्री उपलब्ध हुई उससे महाकोशलके जैन इतिहास और वैविध्य दृष्ट्या जैनमूर्ति कलापर जो नवीन प्रकाश पड़ा उससे मन प्रमुदित हुआ। दो-एक ऐसी कलाकृतियाँ प्राप्त हो गईं जो भारतमें अन्यत्र अनुपलब्ध हैं—एक तो सिलमनाबादका नवग्रह युक्त जिनपट्टक, दूसरा श्रमण-वैदिक समन्वयका प्रतीक व तीसरा जिनमुद्राका हिन्दू मूर्तियों पर सांस्कृतिक प्रभाव। यह श्रमण संस्कृतिके लिए महान् गौरवकी बात है।

तीसरा लाभ हुआ पुरातन सर्वधर्मावलम्बी अरक्षित-उपेक्षित कृतियोंका संकलन। जिस प्रकार महाकोसलके सांस्कृतिक विकासमें १५ सौ वर्षोंसे श्रमणपरम्पराने योग दिया उसी श्रमणपरम्पराके एक सेवक द्वारा विशृं-खलित कृतियोंका एकीकरण भी हुआ। यह बात मैं विनम्रता पूर्वक ही लिख रहा हूँ। इस संग्रहका श्रेय तो सम्पूर्ण जैन समाजको ही मिलना

चाहिए। केवल २ सप्ताहमें २५० कलात्मक प्रतीक संग्रहीत हुए जिसमें कुल २००) रु० लगभग व्यय हुआ। मेरे इस संग्रहमें कई अनुपम व अन्यत्र अनुपलब्ध कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनमेंसे कुछ-एकका परिचय वैभवमें आया है।

इस संग्रहके फलस्वरूप स्वतंत्र भारतके प्रान्तीय शासन द्वारा मुझे जो पुरस्कार प्राप्त हुआ, उसका उल्लेख न करना ही श्रेयस्कर है। पर इतना मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि किसी अन्य स्वाधीन राष्ट्रमें ऐसा पुरस्कार किसी कलाकारको प्राप्त होता तो वहाँकी स्वाभिमानी जनता शासनको अपदस्थ किये बगैर न रहती। बात ऐसी हुई कि मुझमें चाटुकारिताका बचपनसे अभाव रहा है और शासनको इस पवित्र सांस्कृतिक कार्यमें, आवेशयुक्त चिन्तनके कारण, राजनीतिकी गंध आयी[1]। अब भी शासन विवेकसे काम लें और आत्म शुद्धि करें। मेरा यह संग्रह "शहीद स्मारक" जबलपुरमें रखा जायगा। अच्छा है शहीदोंकी स्मृतिके साथ शासन द्वारा मेरे संग्रह प्राप्तिका इतिहास भी अमर[2] रहे।

---

[1] पर वास्तविक तथ्योंसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तात्कालिक प्रधान श्री माधवस्वरूपजी वत्स व उपप्रधान श्री हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव (दोनों अवकाश प्राप्त) पूर्णतया परिचित हैं।

[2] मुझे यहाँपर एक घटना याद आ जाती है जो मध्यप्रदेशके सुप्रसिद्ध साहित्यिक डा० बलदेवप्रसादजी मिश्रसे सुनी थी। वे एक बार किसी रेजीडेन्टको भोरमदेवका मंदिर (कवर्धा) बता रहे थे। उसने डा० साहबसे प्रश्न किया कि गोंडोंका इतिहास गोंडकालमें किसीने क्यों नहीं लिखा?, मिश्रजीने कहा कि गोंडकाममें प्रथा थी कि जो सर्वगुण सम्पन्न और सुशिक्षित पंडित होता था उसे गोंडशासक द्वारा विजयादशमीके दिन दन्तेश्वरीके सम्मुख चढ़ा दिया जाता था। ऐसी विकट स्थितिमें इतिहास कौन लिखता? इतिहास लिखकर या अपना पाण्डित्य प्रदर्शित कर काहेको कोई जान-बूझकर मृत्युको निमंत्रण देता। मैं तो किंवदन्ती ही मानता था। उस समयका गोंडवाना आजका महाकोसल हो गया है पर वृत्तिमें परिवर्तन तो आजके प्रगतिशील युगमें भी अपेक्षित है।

खण्डहरोंके वैभवमें मध्यप्रान्तके जैन, बौद्ध और हिन्दू पुरातत्त्वपर जो सामग्री प्रकट हुई है वह अन्तिम नहीं है, पर भविष्यमें की जाननेवाली शोधकी भूमिका मात्र है। इसमें प्रकाशित निबंधोंमें मुझे पूर्व प्रकाशित निबंधापेक्षया आमूल परिवर्तन व परिवर्द्धन करना पड़ा है। और संभव है भविष्यमें भी करना पड़े। शोधका विषय ही ऐसा है जिसकी थाह नहीं है। पुरातत्त्वान्वेषणमें छोटी-छोटी वस्तु भी शोधकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व रखती है। उसका तात्कालिक महत्त्व नहीं होता पर किसी घटना विशेषके साथ सम्बन्ध निकल आनेपर वह इतनी महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि उसके आधारपर प्रकाण्ड तद्विदोंको स्वमतपरिवर्तनार्थ बाध्य होना पड़ता है। मुझे खुदको जैन मंदिरोंके नवोपलब्धिके कारण अपना मत बदलना पड़ा।

इस वैभवमें मैंने न केवल खंडहर व वनस्थ कृतियोंका समावेश किया है, अपितु जो सजे-सजाये मंदिरोंमें सौन्दर्यसंपन्न कृतियाँ थीं उनका भी उल्लेख किया[1] है। क्योंकि मंदिरोंमें भी जैन पुरातत्त्वान्वेषणकी प्रचुर साधन-सामग्री विद्यमान हैं, पर हमारा कलापरक स्वस्थ व स्थिर दृष्टिकोण न होनेके कारण उनका महत्त्व सीमित हो गया है और हम उसमें कला व सौन्दर्यका उचित मूल्यांकन नहीं कर पाते। काश अब भी हम कुछ सीखें।

मध्यप्रान्तकी अवलोकित जैनाश्रित शिल्प, सामग्रीसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि कलचुरियोंको लगाकर आजतक जैनाश्रित कलाकी लता शुष्क नहीं हुई है। प्रत्येक शताब्दीके जैनमंदिर व मूर्तियाँ पर्याप्त उपलब्ध होती हैं। कई जगह जैन नहीं हैं पर जिन-प्रतीक विद्यमान हैं।

मैं प्रसंगतः एक बातका स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। वह यह

---

[1]मध्यप्रान्तीय जैनमंदिरोंमें सैकड़ों प्रतिमा लेख भी उपलब्ध हुए हैं। उनमेंसे मेरे विहारमें आनेवाले लेखोंका प्रकाशन मेरे "जैन धातु-प्रतिमा लेख"में हुआ है।

कि इसमें प्रकाशित निबंधोंमें १ व १० को छोड़कर शेष सबमें मैंने अपनी खोजको ही महत्त्व दिया है। प्रयागसंग्रहालयकी जैन मूर्तियोंपर यद्यपि श्री सतीशचन्द्रजी कालाका भी एक निबंध मेरे अवलोकनमें आया है, जिसकी कुछ स्खलनाओंका परिमार्जन मुझे इसी वैभवमें करना पड़ा है, जो परिवर्द्धन मात्र है। इतः पूर्व प्रयाग संग्रहालयकी जैनमूर्तिपर मेरा निबंध धारावाहिक रूपसे, ज्ञानपीठके मुखपत्र 'ज्ञानोदय'[1] में प्रकाशित हो चुका था। विन्ध्य और मध्यप्रदेशके पुरातत्त्वकी समस्त सामग्री सर्वप्रथम ही समुचित रूपसे वैभवमें प्रकाशित हो रही है। मैंने जो निबंध लेखन-की तारीखें डाली हैं वे परिवर्द्धित कालसे सम्बन्ध रखती हैं। मुझे जहाँतक स्मरण है मध्यप्रान्तके पुरातत्त्वपर इसको छोड़कर—मैं विनम्रता-पूर्वक ही लिख रहा हूँ, अन्यत्र कहीं पर भी विस्तृत रूपसे संकलित साधनोंका प्रकाशन नहीं हुआ[2] है। इतः पूर्व विद्वत्समाज द्वारा गवेषित शैल्पिक साधनोंका इसमें उपयोग नहीं किया है। मैंने समझ पूर्वक ही अपना क्षेत्र सीमित रखा है। जिन खण्डहर और शिल्पावशेष व मूर्तियोंका साक्षात्कार मैंने नहीं किया वे महत्वपूर्ण होते हुए भी उन्हें—इसमें स्थान नहीं दिया। मेरा ऐसा करनेका एक यह कारण भी है कि यदि भारतके प्रत्येक जिलेके विद्वान् अपने-अपने भू-भागोंकी कला-लक्ष्मीपर इस प्रकार प्रकाश डालने लगेंगे तो बहुत बड़ा सांस्कृतिक कार्य हो जायगा। कमसे कम जैन विद्वानोंसे और मुनि व पंडितोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि, अपने प्रान्तीय (या जहाँ हों वहाँके) संग्रहालयस्थ व विहार मार्गमें आने वाले अवशेषोंपर विवेचनात्मक प्रकाश अवश्य ही डालें।

---

[1] वर्ष १ अंक ३, ४, ५, सन् १९४९।

[2] मैंने सुना है कि पं० प्रयागदत्तजी शुक्लने अभी अभी "सतपुड़ाकी सभ्यता" नामक ग्रन्थ प्रकट किया है, पर प्रयत्न करनेपर भी इन पंक्तियोंके लिखते समय तक मैं उसे नहीं देख सका हूँ।

इन कार्यमें स्थानीय विद्वान् व मुनि ही अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। सरकारका मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है। न पुरातत्त्वविभागके भरोसे ही रहना उचित है। आपकी संस्कृतिके प्रति जितना आपको गौरव व अनुराग होगा, जितना आप श्रम करेंगे उतनी आशा, कम-से-कम मैं तो वैतनिक व्यक्तियोंसे नहीं करता, मेरा अनुभव मुझे मजबूर करता है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

इन पंक्तियोंके लिखे जानेके व वैभवके छपनेके बाद भी मुझे अपनी पैदल यात्रामें जैन और हिन्दू-पुरातत्त्व व मूर्तिकलाकी प्रचुर मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध हुई है, उनका उपयोग मैं भविष्यमें करूँगा।

आभार और कृतज्ञता

सर्वप्रथम मैं अपने परम पूज्य गुरुदेव शान्तमूर्ति उपाध्याय मुनि श्री सुखसागरजी महाराज व मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि मंगलसागरजी महाराजके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी छत्र-छायामें रहकर मैं कुछ सीख सका और उन्हींके कारण धार्मिक साधनाके साथ मेरी रुचि खण्डहरों-के अन्वेषणमें प्रवृत्त हुई। समय-समयपर उन्होंने अपने अनुभवोंसे मुझे लाभान्वित किया और स्वयं कष्ट सहकर भी मेरी शोध-साधनाकी गतिमें मन्दता नहीं आने दी। वर्ना जैन मुनिके लिए यह कार्य बहुत ही कठिन है।

श्रीयुत बाबू लक्ष्मीचन्दजी जैन व बाबू श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय-का मैं हृदयसे आभारी हूँ जिन्होंने अपनी पुष्पमालामें इसे स्थान दिया और तकाज़ोंसे पुनः-पुनः मुझे प्रेरित किया। यदि श्री गोयलीयजी मुझसे कठोरतासे काम न लेते तो शायद इसका प्रकाशन भी शीघ्र संभव न होता। उन्होंने हर तरहसे इसे सुन्दर बनानेमें जो श्रमदान दिया है, उसका मूल्य आभार या धन्यवादसे कैसे अंकित किया जा सकता है।

खण्डहरोंके वैभवमें प्रकाशित चित्रोंके कतिपय ब्लाक्स श्रीयुत राजेन्द्र-

सिंहजी व्योहार, (जबलपुर) सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू कामताप्रसादजी जैन, (अलीगंज), पं० श्री नेमिचन्दजी ज्योतिषाचार्य (आरा), बाबू दीपचन्दजी न.हटा (कलकत्ता) और बाबू घेवरचन्दजी जैनसे प्राप्त हुए हैं। तदर्थ मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ।

अन्तमें मैं प्रान्तीय राज्य-शासन व विद्वानोंसे विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि वे प्रान्तीय कलात्मक सम्पत्तिकी रक्षाके लिए तत्पर हों और अपने-अपने भू-भाग स्थित प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषादि साधनोंपर विवेचनात्मक प्रकाश डालकर एतद्विषयक विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करें।

खण्डहरोंका वैभव पुरातत्त्व विषयक शोधमें आंशिक सहायक हो सका और पुरातत्त्वके उपेक्षित-अरक्षित अवशेषोंके प्रति जनरुचि उत्पन्न करा सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

ता० १३-५-१९५३
मोद-स्थानक
मारवाड़ी रोड
भोपाल

मुनि कान्तिसागर

बौद्ध-पुरातत्त्व

आर्यावर्तकी तक्षण कलाके संरक्षण और विकासमें जैन-समाजने उल्लेखनीय योग दिया है, जिसकी स्वर्णिम गौरव-गरिमाकी पताका-स्वरूप आज भी अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-कौशलके उत्कृष्टतन प्रतीकरूप पुरातन मन्दिर, गुहा, प्रतिमाएँ, विशाल स्तम्भादि, बहुमूल्यावशेष, बहुत ही दुरवस्थामें अवशिष्ट हैं। ये प्राचीन संस्कृति और सभ्यताके ज्वलन्त दीपक-प्रकाश स्तम्भ हैं। अतीत इनमें अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूपछाँहमें रहकर इन्होंने अनुभव प्राप्त किया है। ये न केवल तात्कालिक मानव-जीवन और समाजके विभिन्न पहलुओंको ही आलोकित करते हैं, अपितु मानो वे जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों, वनों और गिरि-कन्दराओंमें खड़े-खड़े अपनी और तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक परिस्थितियोंकी वास्तविक कहानी, अति गम्भीर रूपसे, पर मूकवाणीमें, उन सहृदय व्यक्तियोंको श्रवण करा रहे हैं, जो पुरातन-प्रस्तरादि अवशेषोंमें अपने पूर्व पुरुषोंकी अमर कीर्तिलताका सूक्ष्मावलोकन कर नवीन प्रशस्त-मार्गकी सृष्टि करते हैं। यदि हम थोड़ा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करें तो विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रत्येक समाज और जातिकी उन्नत दशाका वास्तविक परिचय इन्हीं खण्डित अवशेषोंके गम्भीर अध्ययन, मनन और अन्वेषणपर अवलम्बित है। मेरा मन्तव्य है कि हमारी सभ्यताकी रक्षा और अभिवृद्धिमें किसी साहित्यादिक ग्रन्थापेक्षया इनका स्थान किसी भी दृष्टिसे कम नहीं। साहित्यकार जिन उदात्त, उत्प्रेरक एवं प्राणवान् भावोंको लेखनीके सहारे व्यक्तीकरण करता है, ठीक उसी प्रकार भाव जगत्में विचरण करनेवाला आनन्दोन्मत्त कलाकार पार्थिव उपादानों द्वारा आत्मस्थ भावोंको अपनी सधी हुई छैनीसे व्यक्त करता है। जनताको इससे सुख और आनन्दकी उपलब्धि होती है।

एक समय था ऐसे कलाकारोंका समादर सम्पूर्ण भारतवर्षमें, सर्वत्र

होता था। मानव सभ्यताका प्रेरणाप्रद इतिहास कलाकारों द्वारा ही सुरक्षित रह सका है। वे अपनी उच्चतम सौन्दर्य-सम्पन्न कलाकृतियों द्वारा जन जीवन-उन्नयनकी सामग्री प्रस्तुत करते थे। अतः प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहासमें इनका स्थान अत्युच्च है। जैनाचार्य श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने—जो अपने समयके बहुत बड़े दार्शनिक और प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थकार थे—अपने षोडशप्रकरणोंमें कलाकारोंके सम्बन्धमें जो विचार व्यक्त किये हैं, वे भारतीय कलाके इतिहासमें मूल्यवान् समझे जावेंगे। उनके हृदयमें कलाकारोंके प्रति कितनी सहानुभूति थी, निम्न शब्दोंसे स्पष्ट है—

> "कलाकारको, यह न समझना चाहिए कि वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है, पर अपना सखा और प्रारम्भीकृत कार्यमें परम सहयोगी मानकर उनको आवश्यक सुविधाएँ दे, सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिए, उनको किसी भी प्रकारसे ठगना नहीं चाहिए। समुचित वेतनके साथ, उनके साथ ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे उनके मानसिक भाव दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हों, ताकि उच्चतम कलाकृतिका सृजन कर सके।"

वास्तुकला

वास्तुकला भी ललितकलाका एक भेद है। शिल्पकला आवश्यकताओंकी पूर्तिके साथ सौंदर्यका संवर्द्धन भी करती है। जिस प्रकार प्राणीमात्रकी समवेदनाका सर्वोच्च शिखर संगीत है—ठीक उसी प्रकार शिल्पका विस्तृत और व्यापक अर्थ भवन-निर्माण है। जनतामें आम तौरपर शिल्पका सामान्य अर्थ ईंटपर ईंट या प्रस्तरपर प्रस्तर संजोकर रख देना ही शिल्प है, परन्तु वस्तुस्थितिकी सार्वभौमिक व्यापकताके प्रकाशमें यह परिभाषा मावश्यक ज्ञात नहीं होती—अपूर्ण है। शिल्पकी सर्वगम्य व्याख्या कलाके समान ही सरल नहीं है।

> प्रोफेसर मुल्कराज आनन्दने शिल्पकी परिभाषा यों की है—"शिल्प वही है जो निर्माण-सामग्रियों द्वारा उच्चतम कल्पनाओंके आधारोंपर बनाया जाय। उस शिल्पको हम अद्वितीय कह सकते हैं, जिसकी कला एवं कल्पनाका प्रभाव मनुष्यपर पड़ सके !"

उपर्युक्त दार्शनिक परिभाषासे अपेक्षतः कलाकारका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है—"मनुष्यपर प्रभाव" और "प्राप्त सामग्रियों द्वारा निर्माण" ये शब्द गम्भीर अर्थके परिचायक हैं। प्राप्त सामग्री अर्थात् केवल कलाकारके औजार एतद्विषयक साहित्यिक ग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु उनके वैयक्तिक चरित्र शुद्धिकी ओर भी व्यंग्यात्मक संकेत हैं। मानसिक चित्रोंकी परम्पराको सुनियंत्रित रूपसे उपस्थित करना ही कला है, जैसा कि समालोचकोंने स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमें शिल्पी केवल मिस्त्री ही नहीं रह जाता- अपितु उत्तम दार्शनिक एवं कलागुरुके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। प्रकृतिमें बिखरे हुए अनन्त सौन्दर्यकी अनुभूति प्राप्त करता है, कल्पनाओंके सम्मिश्रणसे वह निःसीम सौन्दर्यको विभिन्न उपादानों द्वारा ससीम करता है। सौन्दर्य-बोध 'स्व' आवश्यकतासे 'पर'का पदार्थ है, इसीलिए शिल्पीकी मानसिक सन्तानको भी कला कहा गया है।

कल्पनात्मक शिल्प-निर्माणमें जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है, वह अनुभवगम्य विषय है। जिनको प्राचीन खंडहर देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है—यदि उनके साथ कला प्रेमी और कलाके तत्त्वोंको जानने वाले रहे हों तब तो कहना ही क्या—वे तल्लीन हो जाते हैं, भले ही उनके मर्मस्पर्शी इतिहाससे परिचित न हों। इन खंडहरों एवं ध्वस्त अवशेषोंमें कलाकारको सत्यका दर्शन होता है। तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है, तात्पर्य यह कि मानव संस्कृतिके विकास और संरक्षणमें जिनका भी योग रहा है, उनमें शिल्पकारका स्थान बहुत ऊँचा है।

भारतीय वास्तुकलाका इतिहास यों तो मानव विकास युगसे मानना

पड़ेगा, पर विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे कला-समीक्षकोंने मोहन-जो-दड़ो एवं हरप्पा माना है। इस युगके पूर्व—जहाँतक समझा जाता है—बाँस, लकड़ी और पत्तोंकी झोपड़ियोंका युग था। वह अधिक महत्त्वपूर्ण था। उस सामान्य जीवनमें भी संस्कृति थी। जीवन सात्विक भावनाओंसे ओत-प्रोत था। प्रकृतिकी गोदमें जो वैचारिक मौलिक सामग्री मिलती है, उसे ही कलाकार जनहितार्थ कलोपकरण द्वारा मूर्त रूप देता है। इस प्रकार दैनन्दिन वास्तुकलाका विकास होता गया, परन्तु आजसे तीन हज़ार वर्ष पूर्वकी विकसित वास्तु प्रणालीके क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली मौलिक सामग्री अद्यावधि अनुपलब्ध-सी है। यद्यपि प्रासंगिक रूपसे वेद, ब्राह्मण और आगम तथा जातकोंमें संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु वे जिज्ञासा तृप्त नहीं कर सकते। मोहन-जो-दड़ो एवं हरप्पा अवशेषोंसे ही सन्तोष करना पड़ रहा है। शिल्प द्वारा स्तुतिका समर्थन ऐतरेय ब्राह्मणसे होता है— ओं शिल्पानी शसति देवशिल्पानि।"

शिशुनाग वंशके समय निःसन्देह भारतीय वास्तु प्रणालिका उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ थी, बल्कि स्पष्ट कहा जावे तो उन दिनों भारत और वेबीलोनका राजनैतिक सम्बन्धके साथ कलात्मक आदान-प्रदान भी होता था, जैसा कि आज भी वेबीलोनमें भारतीय शिल्प-कलासे प्रभावित अवशेष पर्याप्त मात्रामें विद्यमान हैं। मौर्य, सुंग-कालकी कलाकृति एवं खण्डहरोंके परिदर्शनसे स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों प्राणवान शिल्पियोंकी परम्परा सुरक्षित थी। यदि मानसारको गुप्त कालकी कृति मान लिया जाय तो कहना होगा कि न केवल तत्कालमें भारतीय तक्षण कला ही पूर्ण रूपेण विकसित थी, अपितु तद्विषयक साहित्य सृष्टि भी हो रही थी। यों तो विक्रम-की प्रथम शताब्दीके विद्वान् आचार्य पादलिप्तसूरिकी निर्वाणकलिकासे कुछ झाँकी मिल जाती है। ब्रह्मसंहितामें भी मूर्ति विषयक उल्लेख हैं। कवि कालिदास और हर्षने भी अपने साहित्यमें ललितकलाका उल्लेख किया है। ऐसी स्थितिमें वास्तुशास्त्रका अन्तर्भाव हो ही जाना चाहिए।

भले ही तद्विषयक पुष्ट-सिद्धान्त लिखित रूपमें उपलब्ध न हों। अजन्ता, जोगीमारा, सिद्धण्णवास एवं तदुत्तरवर्तीय, एलोरा, चाँदवड़, एलीफेण्टा आदि अनेकों गुफाएँ हैं, जो भारतीय तक्षण और गृह-निर्माणकलाके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। वास्तुकलाका प्रवाह समयकी गति और शक्तिके अनुरूप बहता गया, समय-समयपर कलाविज्ञोंने इसमें नवीन तत्त्वोंको प्रविष्ट कराया, मानो वह स्वकीय सम्पत्ति ही हो। निर्माण-पद्धति, औज़ार आदिमें भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। जब जिस विषयका सार्वभौमिक विकास होता है, तब उसे विद्वान् लोग लिपिबद्ध कर साहित्यका रूप दे देते हैं। जिससे अधिक समयतक मानवके सम्पर्कमें रह सकें, क्योंकि कल्पना जगत्के सिद्धान्तोंकी परम्परा तभी चल सकती है, जब सुयोग्य एवं प्रतिभा-सम्पन्न उत्तराधिकारी मिलें।

जैन-पुरातत्त्व

पुरातत्त्व शब्दमें अर्थ-गांभीर्य है। व्यापकता है। इतिहासके निर्माणमें इसकी उपयोगिता सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। भारतीय कलाकारोंने किसी भी प्रकारके उपादानोंको अपनाकर कला-नैपुण्यसे उनमें जीवनका संचार किया। आत्मस्थ-अमूर्त भावोंको मूर्त रूप दिया—अतः इस श्रेणीमें आनेवाली कृतियोंको, रूप शिल्पात्मक कृतियाँ कहें तो अनुचित न होगा। संगीत और काव्यमें भावोंकी प्रधानता रहती है। इसमें भी वही बात है। आबू, देलवाड़ा, खजुराहो और ताजमहल किसी काव्यसे कथमपि कम नहीं हैं। काव्य और संगीतसे रूपशिल्पमें हमें भले ही भिन्नत्वके दर्शन होते हों, परन्तु भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। यहांपर मुझे ललित कलाके सूक्ष्म और स्थूल भेदोंकी चर्चामें नहीं पड़ना, परन्तु इतना भी कहनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता कि उच्चकला वही है, जिसके व्यक्तीकरणमें यथासाध्य सूक्ष्म उपादानोंका उपयोग किया जाय, उपादानमें जितनी सूक्ष्मता होगी, कला भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इस

दृष्टिसे पुरातत्त्वकी कृतियाँ तीसरी श्रेणीमें आती हैं। कारण कि इसमें भाव-व्यक्तीकरणके लिए बहुत मोटे आधारका सहारा लेना पड़ता है। इस कलासे दो लाभ होते हैं। एक वह आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायता करती है और दूसरी अपने युगकी विशेषताओंको सुरक्षित रखती हुई भावी उन्नतिका भी सूक्ष्म संकेत करती है। शाश्वत सत्यकी ओर उत्प्रेरित करनेवाली भाव-परम्परा आधार तो चाहेगी ही। इसमें ऐतिहासिक संकेत हैं। पार्थिव कला आध्यात्मिक प्राणसे धन्य हो जाती है। न केवल वह आनन्द ही देती है, पर शाश्वत सौंदर्यकी ओर खींच ले जाती है। इसीलिए त्याग प्रधान आदर्शपर जीवित रहनेवाली श्रमण-संस्कृतिमें भी रूपशिल्प की परम्पराका जन्म हुआ।

जैन-पुरातत्त्वका अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अभीतक इस विषयपर समुचित प्रकाश डालनेवाली सामग्री अन्धकाराच्छन्न है। अजैन विद्वानोंके विवरण हमारे सम्मुख हैं, जो कई खंडहरोंपर लिखे गये हैं, परन्तु वे इतने भ्रान्तिपूर्ण हैं कि उनमें सत्यकी गवेषणा कठिन है, कारण कि जिन दिनों यह कार्य हुआ उन दिनों विद्वान् जैन-बौद्धका भेद ही नहीं समझते थे—आज भी कम ही समझते हैं। अतः यह सम्मिश्रण अध्यवसायी विद्वान् ही पृथक् कर सकते हैं। जैनोंने कलाके प्रकाशमें कभी भी अपने उपकरणोंको नहीं देखा। अजैनोंने इन्हें धार्मिक वस्तु समझा, परन्तु जैन-तीर्थ-मन्दिर और मूर्ति केवल धार्मिक उपासनाके ही अंग नहीं हैं, परन्तु उनमें भारतीय जनजीवनके साथ कला और सौंदर्यके निगूढ़ तत्त्व भी सन्निहित हैं। विशुद्ध सौंदर्यकी दृष्टिसे ही यदि जैन-पुरातन अवशेषोंको देखा जाय तो, उनकी कल्पना, सौष्ठव और उत्प्रेरक भावनाओंके आगे नतमस्तक होना पड़ेगा। बिना इनके समुचित अध्ययनके भारतीय शिल्पका इतिहास अपूर्ण रहेगा। प्रसंगतः एक बातका उल्लेख मुझे कर देना चाहिए कि जैनोंने न केवल पूर्व परम्परामें पली हुई शिल्प-कला और उनके उपकरणोंकी ही रक्षा की, अपितु सामयिकताको ध्यानमें रखते

हुए, प्राचीन परम्पराको संभालते हुए, नवीनतम भावना और कलात्मक उपकरणोंकी सफल सृष्टि भी की। सामान्य वस्तुको भी सँजोकर कलात्मक जीवनका परिचय दिया। यद्यपि मंदिरों और गुफाओंको छोड़कर जैनाश्रित वास्तुकलाके प्रतीक उपलब्ध नहीं होते हैं, पर जो भी विद्यमान हैं वे उत्कृष्ट कलाके प्रतीक हैं। उनमें मानवताका मूक सन्देश है। सौम्य और समान भाववाली परम्परा जैनाश्रित पुरातन अवशेषोंके एक-एक अंगमें परिलक्षित होती है। इनकी कला केवल कलाके लिए न होकर जीवनके लिए भी है। अरस्तूने कहा है कि **"उस कलासे कोई लाभ नहीं, जिससे समाजका उपकार न होता हो।"** जैनाश्रित कला जनताके नैतिक स्तरको ऊँचा उठाती है। समत्वका उद्बोधन कर जनतंत्रात्मक विचार-पद्धतिका मूक समर्थन करती है। त्यागपूर्ण-प्रतीक किसी भी देशके गौरवको बढ़ा सकते हैं।

प्राचीनता

जैन-पुरातत्त्वका इतिहास कबसे शुरू किया जाय? यह एक समस्या है। कारण कि मोहन-जो-दड़ोकी खुदाईसे जो अवशेष प्राप्त किये गये हैं, उनमें कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं, जिन्हें कुछ लोग जैन मानते हैं। जबतक वे निःसंशय जैन सिद्ध नहीं हो जाते, तबतक हम जैन-पुरातत्त्वके इतिहासको निश्चयपूर्वक वहाँ तक नहीं ले जा सकते। यद्यपि तत्कालीन एवं तदुत्तरवर्त्ती सांस्कृतिक साधनोंका अध्ययन करें, तो हमें उनके जैनत्वमें शंका नहीं रहती। कारण आर्योंके आगमनके पूर्व भी यहाँपर ऐसी संस्कृति थी, जो परम आस्तिक और आध्यात्मिक भावोंमें विश्वास करती थी। वैदिक-साहित्यके उद्भट विद्वान् प्रो० चैत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय तो कहते हैं कि वे लोग श्रमण संस्कृतिके उपासक थे। इतिहास भी इस बातकी साक्षी देता है कि आर्योंको यहाँ आकर संघर्ष करना पड़ा था। काफी संघर्षके बाद भी वे लोग आर्योंमें मिल नहीं सके। कारण कि उनकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति थी, जो उनसे कहीं अधिक सबल और व्यापक थी। वह श्रमण संस्कृति ही होनी चाहिए।

यहाँपर प्रश्न यह उठेगा कि कुषाण और मोहन-जो-दड़ोकी कड़ियोंको ठीकसे सँजोनेवाली मध्यवर्ती सामग्री प्राप्त है या नहीं? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि अभी पक्षपात रहित अन्वेषण ही कहाँ हुआ है? बहुत-से प्राचीन खंडहर भी खुदाईकी राह देख रहे हैं। प्रत्यक्षतः इतना कहना उचित होगा कि कुषाणकालीन जो अवशेष मिले हैं, उनकी और मोहन-जो-दड़ोंसे प्राप्त सामग्रीमें, कलात्मक अंतर भले ही हो—स्वाभाविक भी है,—परन्तु धर्मगत भिन्नता नहीं है। दोनोंकी भावनामें मतद्वैध नहीं है। आदर्शमें भी पर्याप्त साम्य है[१]। क्योंकि भारतीय शिल्पमें कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं, जो विशुद्ध जैन-संस्कृतिकी ही देन हैं—जैसे कि कायोत्सर्ग मुद्रा। प्राचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकतर इसी मुद्रामें प्राप्त हैं।

भारतीय-कला एक प्रकारसे प्रतीकात्मक है। प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शिल्पमें स्वधर्म-मान्य प्रतीकोंका प्रयोग करते आये हैं। कुछ प्रतीकोंमें इतनी समानता है कि उन्हें पृथक् करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ त्रिशूलको ही लें। त्रिशूल तीनों गुणोंपर विजय पानेका सूचक मानकर वैदिक संस्कृतिने अपनाया है। जैनोंने भी रत्नत्रयका प्रतीक माना है। कलिंगकी जैन-गुफाओंमें भी त्रिशूलका चिह्न है। मोहन-जो-दड़ोमें यही प्रतीक मिला है। धर्मचक्रका भी यही हाल है। जैन-बौद्ध कृतियोंमें अवश्य ही उत्कीर्णित रहता है।

यों तो जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका इतिहास कुषाण कालसे माना जाता है, क्योंकि इस युगकी अनेक कला-कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, परन्तु उपर्युक्त अन्वेषणके बाद एक सूत्र नया मिला है, जो इसका इतिहास २०० वर्ष और ऊपर ले जाता है।

जैन-साहित्यमें आर्द्रकुमारकी कथा बड़ी प्रसिद्ध है। वह अनार्य

---

[१] विशेष ज्ञातव्यके लिए देखें "मोहन् जोदड़ोकी कला और श्रमण-संस्कृति" "अनेकान्त" वर्ष १० अंक, ११-१२।

देशका रहनेवाला था। मगधके राजवंशके साथ उनकी पारस्परिक मैत्री थी। अभयकुमारने इनको जिन-प्रतिमा भिजवाई थी। बादमें वह भारत आता है और क्रमशः भगवान् महावीरके पास आकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करता[1] है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकारको प्रभासपाटणसे एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ था, इसमें लिखा है कि "बेबीलोनके नृपति नेबुचन्द्रनेज़ारने रैवतगिरिके नाथ नेमिके मंदिरका जीर्णोद्धार कराया था[2]।" जैन-साहित्य इस घटनापर मौन है। उन दिनों सौराष्ट्रका व्यापार विदेशोंतक फैला हुआ था, अतः उसी मार्गसे अधिकतर आवागमन जारी था। बहुत संभव है कि वह भी यहाँसे आया हो और पूर्व प्रेषित जिनमूर्तिके संस्कारके कारण मंदिरका जीर्णोद्धार करवाया हो, परन्तु इसके लिए और भी अकाट्य प्रमाणोंकी आवश्यकता है। हाँ, बेबीलोनके इतिहाससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि वहाँपर जो पुरातन-अवशेष-उपलब्ध हुए हैं, उनपर भारतीय-शिल्पका स्पष्ट प्रभाव है। वहाँकी न्याय-प्रणालिकापर भी भारतीय-न्याय और दण्ड-विधानकी छाया है[3]।

उक्त लेखसे स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व छठवीं शतीमें गिरिनारपर जैन-मन्दिर था। जूनागढ़से पूर्व "बावा प्यारा" के नामसे जो मठ प्रसिद्ध है, वहाँपर जैन-गुफाएँ उत्कीर्णित हैं।

बम्बईसे प्रकाशित दैनिक "जन्मभूमि" (२५-५-४१) में "पुरातत्व संशोधनका एक प्रकरण" शीर्षक नोट प्रकाशित हुआ था। उसमें एक नवोपलब्ध लेखकी चर्चा थी। इस लेखमें "तीरवस्वामी"का नाम था।

---

[1] मुनि-दीक्षा अंगीकार कर भगवान् महावीरके दर्शनार्थ जाते समय हस्त्यावबोधके भावोंका प्रस्तरपर अंकन किया गया है जो आबूकी विमलवसहीमें आज भी सुरक्षित है।

[2] टाइम्स आफ इण्डिया १९-३-३५

[3] महावीर-जैन-विद्यालय-रजत महोत्सव ग्रन्थ, पृ० ८०—४।

गुजरातके पुरातत्त्वज्ञ श्री अमृतवसंत पंड्याने इसे "तीरथस्वामी" पढ़ा, क्योंकि ब्राह्मीमें 'थ' और "व"में कम अन्तर है। अन्ततः तय हुआ कि "तीरथस्वामी"का सम्बन्ध जैनधर्मसे ही होना चाहिए। इस लेखकी लिपि क्षत्रप कालीन है। यह काल, सौराष्ट्रमें जैनउत्कर्षका माना जाता है। श्री पंड्याजीका मानना है कि "क्षत्रप कालीन सौराष्ट्रमें जैनधर्मका अस्तित्व सूचक जो लेख बावाप्यारा के मठमें उपलब्ध हुआ है उसके बादके लेखोंमें यही उपर्युक्त लेख आता है।"

मगधके शासक शिशुनाग और नन्द नृपति जैन-धर्मके उपासक थे। नन्दनृपति भगवान् महावीरके माता-पिता, भगवान् पार्श्वनाथ की अर्चना करते थे। भगवान् महावीर गृहस्थावासमें जब भाव मुनि थे और राज-महलमें कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े थे, उस समयके भावोंको व्यक्त करनेवाली गोशीर्ष चन्दनकी प्रतिमा विद्युन्माली देव द्वारा निर्मित हुई एवं कपिल केवली द्वारा प्रतिष्ठापित हुई। बादमें वीरभयपत्तनके राजा उदायी व पट्टरानी प्रभावती द्वारा पूजी जाती रही। इस घटनाका उल्लेख प्राचीन जैन-साहित्यमें तो पाया ही जाता है, परन्तु इन्हीं भावोंको व्यक्त करनेवाली एक धातु-प्रतिमा भी उपलब्ध हो चुकी है। जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

'तित्थोगाली पइन्नय'से ज्ञात होता है कि नन्दोंने पाटलीपुत्रमें ५ जैन स्तूप बनवाये थे, जिनका उत्खनन कल्कीके द्वारा धनकी खोजके लिए हुआ। चीनी यात्री श्युआन् च्युआङ्ने भी इन पंच जैन-स्तूपोंका उल्लेख यात्राविवरण[1]में करते हुए लिखा है कि अबौद्ध राजा द्वारा वे खुदवा डाले गये। पहाड़पुरसे प्राप्त ताम्र-पत्र (ईसवी ४७६)से फलित होता है कि आचार्य गुहनन्दी व उनके शिष्य 'पंचस्तूपान्वयी' कहलाते[2] थे।

---

[1]On Yuan Chawang's travels in India, P. 96

[2]एपिग्राफिया इंडिया। वॉ० XX पेज ५९।

खारवेलके लेखसे स्पष्ट है कि नन्द-कालमें जैन-मूर्तियाँ थीं। सातवीं शतीमें भी श्रमण-संस्कृति, कलिंगमें उन्नतिके शिखरपर थी। खारवेलके लेखकी अन्तिम पंक्तिमें जीर्ण जलाशय एवं मंदिरके जीर्णोद्धारका उल्लेख है। वहाँपर उसी समय चौबीस तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ बैठाई। लेखान्तर्गत जलाशय ऋषितड़ाग ही होना चाहिए। इसका उल्लेख बृहत्कल्पसूत्रमें आया है। वहाँपर मेला लगा करता था। स्व० डा० वेनीमाधव बड़ुआने इसे खोज निकाला था। अपने स्वर्गवासके कुछ मास पूर्व मुझे उन्होंने एक मानचित्र भी बताया था।

उपर्युक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें निश्चयतः जैन-मूर्तियोंका अस्तित्व था। मौर्यकालीन जैन-प्रतिमाएँ तो लोहानीपुर (जो पटना ही का एक भाग है) से प्राप्त हो[1] चुकी हैं। लोहानीपुरमें १४ फरवरी १९३७ में प्राप्त हुई थीं। मूर्ति हल्के हरे रंगके पाषाणपर खुदी है। इसकी पॉलीस स्फटिककी वस्तु है। शताब्दियोंतक भू-गर्भमें रहते हुए भी उसकी चमकमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं आया, जो मौर्य-कालीन शिल्पकी अपनी विशेषता है। स्वर्गीय डा० जायसवालजीने इसका निर्माणकाल गुप्तपूर्व चार सौ वर्ष स्थिर किया है। मूर्ति २½ फुट ऊँची है।

मौर्य-सम्राट् सम्प्रति वीरशासनकी प्रभावना करनेवाले व्यक्तियोंमें अग्रगण्य हैं। सम्प्रतिद्वारा विदेशोंमें प्रचारित जैन-धर्मके अवशेष, आज भी वहाँ बसनेवाली जातियोंके जीवनमें पाये जाते हैं। यूनानकी 'समनिमा जाति' श्रमण परम्पराकी ओर इंगित करती है। कहा जाता है कि सम्प्रतिने लाखों जिन-प्रतिमाएँ व मन्दिर बनवाये थे। अद्यावधि गवेषित पुरातत्त्व सामग्रीसे उपर्युक्त पंक्तियोंका लेश मात्र भी समर्थन नहीं होता। आज सम्प्रतिद्वारा निर्मित जो मूर्त्तियाँ घोषित की जाती हैं और उनकी विशेषताएँ बतलाई जाती हैं वे ये हैं—लम्बकर्ण, बगलसे

---

[1] जैन एंटीक्वेरी भाग ५, अंक ३में चित्र प्रदर्शित है।

सम्बद्ध हाथ, पद्मासनके निम्न भागमें विभिन्न प्रकारके खुदे हुए बोर्डर-वेलबूटे, आदि मूर्तिकलाका अभ्यासी सहसा इसपर विश्वास नहीं कर सकता। कारण कि उपर्युक्त श्रेणीकी मूर्त्तियाँ जिनकी अद्यावधि उपलब्धि हुई है, वे सब श्वेत संगमरमरपर खुदी हैं, जब कि मौर्यकालमें इस पत्थरका, मूर्त्ति-निर्माणमें उपयोग ही नहीं होता था, बल्कि उत्तरभारतमें भी सापेक्षतः इस पत्थरने कई शताब्दी बाद प्रवेश किया है। सच कहा जाय, तो अधिकतर जैन-मूर्त्तियाँ कुषाण-काल बाद की मिलती हैं। मध्यकालमें तो जैन मूर्त्ति-निर्माण-कला बड़ी सजीव थी। सम्प्रति द्वारा संभव है कुछ मूर्त्तियोंका निर्माण हुआ हो, और आज वे उपलब्ध न हों।

स्तूप-पूजा

प्राप्त साधनोंके आधारपर, दृढ़तापूर्वक, जैन-पुरातत्त्वका इतिहास ईसवी पूर्व आठवीं शतीसे प्रारंभ करना समुचित जान पड़ता है। मगध उन दिनों ही नहीं, बल्कि सूचित शताब्दीसे पूर्व, श्रमण-संस्कृतिका महान् केन्द्र था। उस समय जैनाश्रित शिल्प-कृतियाँ अवश्य ही निर्मित हुई होंगी, पर उतनी प्राचीन जैन-कलात्मक सामग्री, इस ओर उपलब्ध नहीं हुई। मेरा तो जहाँतक अनुमान है कि अभीतक मगधमें पुरातत्त्वकी दृष्टिसे खनन-कार्य बहुत ही कम हुआ है।

कुषाण-काल पूर्व मगधमें स्तूप-पूजाका सार्वत्रिक प्रचार था। अपने पूज्य पुरुषोंके सम्मानमें या जीवनकी विशिष्ट घटनाकी स्मृति-रक्षार्थ स्तूप बनवानेकी प्रथाका सूत्र-पात किसके द्वारा हुआ, अकाट्य प्रमाणोंके अभावमें निश्चयरूपसे कहना कठिन है। पर जो ग्रन्थस्थ वाङ्मय हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसपरसे तो यही कहना पड़ता है कि इस प्रकारकी पद्धतिका सूत्रपात जैनपरम्परामें ही सर्वप्रथम हुआ।

युगादिदेवको, एक वर्ष कठोर तपके बाद श्रेयांसकुमारने, आहार कराया था, उस स्थानपर कोई चलने न पावे, इस हेतुसे, एक थूम-स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख 'धर्मोपदेशमाला"की वृत्तिमें इस प्रकार आया है—

जंमि पएसे गहिया, मिक्खा मा तत्थ कोई चलणेहि,
ठाहि ति रि (२)-यणेहिं, कओ थूभो कुमरेण[1] भत्तीए ॥

थूभ विषयक और भी दो-एक उल्लेख ग्रन्थमें आये हैं।

इसी प्रकार जैनकथा साहित्यमें थूभ-स्तूप विषयक प्रमाण मिलते हैं। इनका अध्ययन वांछनीय है।

अष्टापद पर्वतपर इन्द्र द्वारा तीन स्तूप स्थापित करनेका उल्लेख श्रीजिनप्रभसूरि अपने "विविधतीर्थकल्प"में इस प्रकार करते हैं—

रत्नत्रयमिव मूर्तं स्तूपत्रितयं चित्रितयस्याने।
यत्रास्थापयदिन्द्रः स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥

पृ० ३१

प्राचीन तीर्थमालाओंमें कई स्तूपों—थूभोंकी चर्चा है।

यों तो पुरातन विश्वसनीय जैन-स्तूप[2] मथुरामें उपलब्ध हुए हैं; परन्तु मेरा विश्वास है कि ईसवी पूर्व छठवीं शती मगधमें बना करते थे। भगवान् महावीरके निर्वाण-स्थानपर एक स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख जैन-साहित्यमें आता है। पावापुरीसे एक मील दूर आज भी एक भग्न स्तूप विद्यमान है। ग्रामीण जनताका विश्वास है कि यही भगवान् महावीरका निर्माण-स्थान है। आचार्य श्रीजिनप्रभसूरिजीने विविधतीर्थ[3] कल्पान्तर्गत अपापावृहत्कल्पमें जो उल्लेख किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

तहा इत्थव पुरीए कत्तियअमावसारयणीए भयवओ निव्वाणट्ठाणे मिच्छदिट्ठीहिं सिरिवीरथूभट्ठाणठावियनागमंडवे अज्ज वि चाउवण्णिय-

---

[1] धर्मोपदेशमाला, पृ० ८८।

[2] धर्मोपदेशमाला-ग्रन्थमें इसे "दिव्वमहाथूभ" कहा गया है।

[3] पृष्ठ ४४।

लोश्रा जत्तामहूसवं करिंति॥ तीए चेव एगरत्तिए देव याणु भावेणं कुवायङ्गिअजलपुण्णमल्लियाए दीवोपज्जलइ तिल्लं विणा।

श्राज यद्यपि स्तूप मण्डपाच्छादित तो नहीं है, पर अजैन जनता, श्राज भी इसे बहुत ही सम्मानपूर्वक देखती है। एवं कार्तिक अमावस्याको उत्सव भी मनाती है। उल्लेखसे ज्ञात होता है कि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीमें महावीर-निर्वाण-स्थानके रूपमें यह स्तूप प्रसिद्ध था। यदि वहाँ निर्वाण सूचक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान होता, तो जिनप्रभसूरिजी उसका उल्लेख अवश्य ही करते। श्रद्धाजीवी जैन-समाज इस स्तूपको विस्मृत कर चुका है। इसकी ईंटें राजगृहीकी ईंटोंके समान हैं। व्यासको देखते हुए ऐसा लगता है कि किसी समय यह बहुत विस्तृत रूप में रहा होगा।

संभव है, खोज करने पर और भी जैन-स्तूप उपलब्ध हों। जैन-बौद्ध-स्तूपोंके भेदोंको न समझनेपर पुरातत्त्वविज्ञ कैसी भूलें कर बैठते हैं, इसपर डाक्टर स्मिथके विचारकी ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ।

पिछली शताब्दियोंका इतिहास इस बातकी साक्षी देता है कि कुषाणोंके बाद भारतमें जैनाश्रित कृतियोंका व्यापक रूपसे सृजन आरम्भ हो गया था। प्रांतीय प्रभाव उनपर स्पष्ट है। ऐसी प्राचीन सामग्रीमें मगधकी कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। ऐल, गुप्त, सोम, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चौलुक्य और बाघेलाओंके समयमें भी अनेकों महत्त्वपूर्ण जैनाश्रित कृतियाँ निर्मित हुईं। इनमेंसे कुछेक तो सम्पूर्ण भारतीयकलाका प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। आबू, खजुराहो, राणकपुर, श्रवणबेलगोल, देवगढ़, जैसलमेर और कुंभारिया आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वास्तुकलाके साथ मूर्तिकलामें भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। उत्तर पश्चिम कृतियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बद्ध हैं और दक्षिण पूर्वकी दिगम्बर सम्प्रदायसे।

भारतीय जैन-शिल्पका अध्ययन तबतक अपूर्ण रहेगा; जब तक वास्तु-कलाके अंग-प्रत्यंगोंपर विकासात्मक प्रकाश डालनेवाले साहित्यकी विविध

शाखाओंका यथावत् अध्ययन न किया जाय, क्योंकि तक्षणकला और उसकी विशेषतामें परस्पर साम्य होते हुए भी, प्रान्तीय भेद या तात्कालिक लोकसंस्कृतिके कारण जो वैभिन्न्य पाया जाता है, एवं उस समयके लोक जीवनको शिल्प कहाँतक समुचित रूपसे व्यक्त कर सका है, उस समयकी वास्तुकला विषयक जो ग्रन्थ पाये जाते हैं, उनमें जिन-जिन शिल्पकलात्मक कृतियोंके निर्माणका शास्त्रीय विधान निर्दिष्ट है, उनका प्रवाह कलाकारोंकी पैनी छैनी द्वारा प्रस्तरोंपर परिष्कृत रूपमें कहाँतक उतरा है? यहाँतक कि शिल्पकला जब तात्कालिक संस्कृतिका प्रतिबिम्ब है, तब उन दिनोंका प्रतिनिधित्व क्या सचमुच ये शिल्पकृतियाँ कर सकती हैं? आदि अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्योंका परिचय, तलस्पर्शी अध्ययन और मननके बाद ही सम्भव है। जैन-अवशेषोंको समझनेके लिए सारे भारतवर्षमें पाये जानेवाले सभी श्रेणीके अवशेषोंका अध्ययन भी अनिवार्य है, क्योंकि जैन और अजैन शिल्पात्मक कृतियोंका सृजन जो कलाकार करते थे, वे प्रत्येक शताब्दीमें आवश्यक परिवर्त्तन करते हुए एक धारामें बहते थे, जैसा कि वास्तुकलाके अध्ययनसे विदित हुआ है। प्रान्तीय कलात्मक अवशेषोंको ही लीजिए, उनमें साम्प्रदायिक तत्त्वोंका बहुत ही कम प्रभाव पायेंगे, परन्तु शिल्पियोंकी जो परम्परा चलती थी, वह अपनी कलामें दक्ष और विशेषरूपसे योग्य थी। मध्यकालके प्रारम्भिक जो अवशेष हैं उनको बारहवीं शतीकी कृतियोंसे तौलें तो बिहार, मध्यप्रान्त और बंगालकी कलामें कम अन्तर पायेंगे। मैंने कलचुरि और पालकालीन जैन तथा अजैन प्रतिमाओंका इसी दृष्टिसे संक्षिप्तावलोकन किया है, उसपरसे मैंने सोचा है कि १०-१२ तक जो धारा चली—वही अन्य प्रान्तोंको लेकर चली थी, अन्तर था तो केवल बाह्य आभूषणोंका ही—जो सर्वथा स्वाभाविक था। तात्पर्य यह है कि एक परम्परामें भी प्रान्तीय कला भेदसे कुछ पार्थक्य दीखता है। प्राचीन लिपि और उनके क्रमिक विकासका ज्ञान भी विशेष रूपसे अपेक्षित है। मूर्त्तिविधानके अनेक अंगोंका ठोस अध्ययन होना अत्यंत

आवश्यक है। इतिहास और विभिन्न राजवंशोंके कालोंमें प्रचलित कलात्मक शैली आदि अनेक विषयोंका गंभीर अध्ययन पुरातत्त्वके विद्यार्थियोंको रखना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानका क्षेत्र विस्तृत है। यह तो सांकेतिक ज्ञान ठहरा।

शिल्पकी आत्मा वास्तुशास्त्रमें निवास करती है, परंतु जैन-शिल्प-का यदि अध्ययन करना हो तो हमें बहुत कुछ अंशोंमें इतर साहित्यपर निर्भर रहना पड़ेगा, कारण कि जैनोंने शिल्पकलाको प्रस्तरोंपर प्रवाहित करने-करानेमें जो योग दिया है, उसका शतांश भी साहित्यिक रूप देनेमें दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता। यों तो वाराहमिहिरकी संहितामें जैन-मूर्त्तिका रूप प्रदर्शित है, परंतु जहाँतक वास्तुकलाके क्रमिक विकासका प्रश्न है, जैन-साहित्य मौन है।

प्रसंगानुसार कुछ उल्लेख अवश्य आते हैं, जिनका सम्बन्ध शिल्पके एक अंग प्रतिमाओंसे है। यक्ष एवं यक्षिणियोंके आयुध, स्वरूप आदिकी चर्चा 'निर्वाणकलिका'में दृष्टिगोचर होती है। नेमिचंदका 'प्रतिष्ठासार' आचारदिनकर (वर्द्धमानसूरिकृत) और ठक्कुर फेरुकृत 'वास्तुसार' आदि कुछ ग्रंथोंके नाम लिये जा सकते हैं, परंतु इन ग्रंथोंके उल्लेख मूर्त्तिकता और मंदिरादि निर्माणपर कुछ प्रकाश डालते अवश्य हैं, किंतु बहुत कुछ अंशोंमें मानसारका स्पष्ट अनुकरण है। मंडनने यद्यपि स्वतंत्र ग्रंथ बनाये पर वे काफी बादके हैं। जब जैन-समाजमें कलाके प्रति स्वाभाविक रुचि न थी, केवल अनुकरण प्रवृत्तिका जोर था। समरांगण सूत्रधार, रूपमंडन और देवतामूर्तिप्रकरण जैसे ग्रंथोंसे हमारा मार्ग अवश्य ही थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठा-विषयक साहित्यमें भी कुछ सूचनाएँ मिल जाती हैं, वे भी एकांगी ही हैं। बारहवीं सदीके कुछ ग्रंथोंमें चर्चा है[1] कि आर्य खपुट और उसौर वाचक उमास्वातिने भी 'प्रतिष्ठाकल्प'-की रचना की थी। परंतु आज तक उनकी ये कृतियाँ अंधकारके गर्भमें

---

[1] 'गणधरसार्द्धशतक वृत्तिमें इसकी सूचना है।

हैं। ऐसी स्थितिमें जैनाश्रित शिल्पकलाकी कृतियोंका अध्ययन बड़ा जटिल और असाध्य हो जाता है। समुचित साहित्यके प्रकाशके बिना शिल्पकलाका अध्ययन बहुत कठिन है। एक तो विषय भी आसान नहीं, तिसपर आवश्यक साधनोंका अभाव। साहित्यसे प्रकाशकी आशा छोड़कर वर्तमानमें कलात्मक कृतियोंके प्रकाशमें ही हमें अपना मार्ग खोजना होगा। विषय कठिन होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है। श्रम और बुद्धि-जीवी विद्वान् ही इन समस्याओंको सुलझा सकते हैं।

आज भी गुजरात-काठियावाड़में 'सोमपुरा' नामक एक जाति है, जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्पविद्याके संरक्षण एवं विकासपर ध्यान देना है। ये जैन-शिल्पस्थापत्यके भी विद्वान् और अनुभवी हैं। इन लोगोंकी मददसे एक आदर्श जैन-शिल्पकला सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिए। इसमें इन बातोंका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके शिल्पोल्लेख साहित्यमें आये हैं—वे पाषाणपर कहाँ कैसे और कब उतरे हैं, इनका प्रभाव विशेषतः किन-किन प्रान्तोंके जैन-अवशेषोंपर पड़ा है, बादमें विकास कैसे हुआ; अजैनसे जैनोंने और जैनसे अजैन कलाकारोंने क्या लिया-दिया आदि बातोंका उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिए। काम निःसन्देह श्रमसाध्य है, पर असम्भव नहीं है, जैसा कि अकर्मण्य सोच बैठते हैं।

अध्ययनकी सुविधाके लिए जैनाश्रित शिल्पकला कृतियोंका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

१ प्रतिमा,
२ गुफा,
३ मन्दिर,
४ मानस्तम्भ,
५ इतर भाव-शिल्प,
६ लेख।

१—प्रतिमा

जैन-पुरातत्त्वकी मुख्य वस्तु है मूर्ति। जैन-साहित्यमें इसकी अर्चनाका विशद् वर्णन है, परन्तु उपलब्ध मूर्तियोंका इतिहास ईस्वी पूर्व ३००से ऊपर नहीं जाता। यों तो मोहन-जो-दड़ो और हरप्पाके अवशेषोंकी कुछ आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें जिन-मूर्ति कहा जा सकता है, पर यह प्रश्न अभी विवादास्पद-सा है। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ पटना संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। इसपरकी पालिश ही इसका प्रमाण है कि वे मौर्य युगीन हैं। सम्प्रति सम्राट् द्वारा अनेक मूर्तियाँ बनवानेके उल्लेख आते हैं, पर मूर्तियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। जो मूर्तियाँ सम्प्रतिके नामके साथ जोड़ी जाती हैं, वे इतनी प्राचीन नहीं हैं। काफी बादकी प्रतीत होती हैं। मथुरामें जैन मूर्तियोंका निर्माण पर्याप्त परिमाणमें हुआ। आयागपट्ट भी मिले हैं। डा० बूल्नर कहते हैं—"आयागपट्ट यह एक विभूषित शिला है, जिनके साथ 'जिन'की मूर्ति या अन्य कोई पूज्य आकृति जुड़ी हुई रहती है। इनका अर्थ "पूजा या अर्पणकी तख्ती" कर सकते हैं, कारण कि अनेक शिलोत्कीर्ण लेखोंके उल्लेखानुसार "अर्हतोंकी पूजा"के लिए ऐसी शिलाएँ मंदिरमें रखी जाती थीं। ये आयागपट्ट कलाकी दृष्टिसे भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते थे। चारों ओर विभिन्न अलंकरणोंके मध्य भागमें पद्मासनस्थ जिन रहते हैं। कुछ आयागपट्टोंमें लेख भी मिले हैं। इन्हें जैनोंकी मौलिक कृति कहें तो अत्युक्ति न होगी। इन पट्टकोंपर ईरानी कलाका प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैनाश्रित कलाके ये प्रयत्न विशुद्ध असाम्प्रदायिक हैं।

इन आयागपट्टकोंमें त्रिशूल एवं धर्मचक्र[1]के चिह्न भी पाये जाते हैं जो जैनधर्ममान्य मुख्य प्रतीक हैं।

---

[1]धर्म चक्र—यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तुतः धर्मचक्रका इतिहास क्या है? यों तो श्रमण-संस्कृतिकी एक धारा बौद्धधर्मसे इसका

कुषाणकालीन जैनमूर्त्तियाँ भारतशिल्पकी अनन्य कलाकृतियाँ हैं। उन दिनों मूर्त्तिकला उन्नतिके शिखरपर थी। कला और सौन्दर्यके साथ

संबंध आमतौरसे माना जाता है। बौद्ध-संस्कृतिसे प्रभावित इतिहासकारोंने माना है कि वह बौद्धपरम्पराकी मौलिक देन है। वे मानते हैं कि वाराणसीके पास सारनाथमें भगवान् बुद्धने प्रथम देशना देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया, और अशोकने इस प्रतीकको राजकीय संरक्षण दे इसे और भी व्यापक बना दिया, परन्तु वास्तविक सत्य तो कुछ और है। बात यह है कि यह प्रतीक मूलतः जैनोंका है। यों तो पौराणिक साहित्यसे स्पष्ट भी है कि इसकी प्रवर्तना जैनधर्मके प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव तीर्थंकरके द्वारा तक्षशिलामें हुई। यह तो हुई पौराणिक अनुश्रुति, परन्तु विशुद्ध साहित्यिक उल्लेखके अनुसार देखें तो भी जैन उल्लेख ही प्राचीन ठहरता है जो आवश्यक सूत्र निर्युक्तिमें इस प्रकार है—

"ततो भगवं विरहमाणो बहलीविसयं गतो, तत्थ बाहुबलीस्स रायहाणी तक्खसिला णामं तं भगवं वेताले य पत्तो, बाहुबलीस्स, वियाले णिवेदितं जहा सामी आगतो। कल्लं सव्विड्ढिए वंदिस्सामि त्ति ण णिग्गतो, पभाते सामी विहरंतो गतो। बाहुबलीवि सविड्डिए णिग्गतो, जहा दसन्न विभासा, जाव सामीं ण पेच्छति, पच्छा अधितिं काऊण जत्थ भगवं वुत्थो तत्थ धम्मचक्कं चिन्धकारेति। तं सव्वरयणमयं जोयणपरिमंडलं, जोयणं च ऊसितो दंडो, एवं केई इच्छति। अन्ने भणंति—केवलनाणे उप्पन्ने तहिंगतो, ताहे सलोगेणं धम्मचक्कचिभूती अक्खाता, तेण कतंति।"

—आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, पृष्ठ १८०—१८१

पटना आश्चर्यगृहमें ताम्रका एक धर्मचक्र सुरक्षित है, जो जैन-विभागमें रखा गया है।

विभिन्न अलंकरणोंसे विभूषित थीं। इस युगकी मूर्त्तियाँ आदि जैनाश्रित-शिल्पपर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट है। उन दिनों पद्मासन और खड्गासन तथा सपरिकर और अपरिकर दोनों प्रकारकी मूर्त्तियाँ बनती थीं। उस समयका परिकर सादा था। मथुरा जैनसंस्कृतिका व्यापक केन्द्र था। आज भी वहाँपर खुदाईकी अपेक्षा है।

बुद्धमूर्त्ति इन्हीं जैनमूर्त्तियोंका अनुकरणमात्र हैं। कुछ लोगोंका अनुमान है कि मोहन-जो-दड़ोकी कलाका प्रभाव जैनमूर्त्तियोंपर पड़ा है। मूर्त्तिकलाका व्यापक प्रचार होते हुए भी उस समयका साहित्य मौन है। हाँ, आगमोंमें इनकी अर्चना-विधिका विशद वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसी स्थितिमें सिन्धु-सभ्यताके प्रभावकी कल्पना काम कर सकती है। पर एक बात है। मोहन-जो-दड़ो और कुषाणयुगके बीचकी शृंखला जोड़नेवाली सामग्री नहीं मिलती है। केवल साहित्यिक उल्लेखोंसे ही संतोष करना पड़ता है। हाँ परवर्ती साहित्यमें संकेत अवश्य मिलता है, पर वह नाकाफ़ी है।

भारतके विभिन्न कोनोंमें जैनमूर्त्तियोंकी उपलब्धि होती ही रहती है। 'जिन'की मौलिक मुद्रा एक होते हुए भी परिकरमें प्रान्तीय प्रभाव पाया जाता है। मुखाकृतिपर भी असर होता है। इन मूर्त्तियोंका नृतत्त्व-शास्त्रकी दृष्टिसे अध्ययन करें तो उनको इन विभागोंमें बाँटना होगा। उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय और पूर्वभारतीय; उत्तरभारतीय—गुजरात, राजस्थान, पंजाब, महाकोसल, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और उत्तरप्रदेशकी प्रतिमाओंमें एक ही शैली मिलती है। मुखाकृति, शरीराकृति और अन्य उपकरणोंमें काफी साम्य है। दक्षिणभारत द्राविड़ सभ्यताका दुर्ग माना जाता है। अतः वहाँकी जैन-मूर्त्तियोंपर भी उसका प्रभाव है। उपर्युक्त सूचित शैलीसे काफी भिन्नत्व है। पूर्वीभारतकी मूर्त्तियाँ तो अपना स्वतन्त्र स्थान रखती हैं। वहाँके कलाकारोंने अपने प्रान्तके उपकरणोंका

खूब प्रयोग किया है। उनकी मुखाकृति और नासिका तथा परिकरकी रचना-शैली ही स्वतन्त्र है। वर्णित तीनों प्रकारकी कला-कृतियाँ भूगर्भसे प्राप्त हो चुकी हैं।

उत्तरभारतीय मूर्त्तिकलाके उत्कृष्ट प्रतीक मथुरा, लखनऊ और प्रयागके संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। बहुसंख्यक प्रतिमाएँ पुरातत्त्वविभागकी उदासीनताके कारण खण्डहर और अरण्यमें जंगली जातियोंके देवोंके रूपमें पूजी जाती हैं। उत्तरभारतके खण्डहर और जंगलोंमें, पाद-भ्रमण कर मैंने स्वयं अनुभव किया है कि सुन्दर-से-सुन्दर कला-कृतियाँ आज भी उपेक्षित हैं। इनकी रक्षाका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं है। उत्तरभारतीय मूर्त्तियोंके परिकरको गम्भीरतासे देखा जाय तो भरहुत और साँचीके अलंकरणोंका समन्वय परिलक्षित हुए बिना न रहेगा। मूर्त्तिके मस्तकके पीछेका भामंडल और स्तम्भ तो कई मूर्त्तियोंमें मिलेंगे। पूजोपकरण भी मिलते है, जो स्पष्टतः बौद्ध-प्रभाव है।

उड़ीसाके उदयगिरि और खंडगिरिमें इस कालकी कटी हुई जैन-गुफाएँ हैं, जिनमें मूर्त्तिशिल्प भी हैं। इनमेंसे एकका नाम रानी-गुफा है। यह दो मंजली है और इसके द्वारपर मूर्त्तियोंका एक लम्बा पट्टा है, जिसकी मूर्त्तिकला अपने ढंगकी निराली है। उसे देखकर यह भाव होता है कि वह पत्थरकी मूर्त्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काष्ठपरकी नक्काशी है[१]!

मुझे उड़ीसामें विचरण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सम्बलपुर और कटक ज़िलेमें बहुत-से जैन अवशेष अरक्षित दशामें पड़े हैं। इस ओर काष्ठका काम पर्याप्त होता है। मुझे भी एक काष्ठकी जैनप्रतिमा प्राप्त हुई थी। उड़ीसाकी कला का एक जैन-मंदिरका सम्पूर्ण तोरण आज भी

[१]भारतीय मूर्तिकला, पृ० ६० ।

पटनाके दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्ण जालानके संग्रहमें सुरक्षित है। इसपर चतुर्दश स्वप्न और कलश उत्कीर्णित हैं। जैन-दृष्टिसे इस ओर अन्वेषण अपेक्षित है[1]।

उत्तरभारतीय जैनमूर्त्तिकलामें सामाजिक परिवर्तन और प्रान्तीय प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरणार्थ महाकोसल और गुजरातको ही लें। महाकोसल और विन्ध्यप्रान्तकी जैन-मूर्त्तियाँ भावोंकी दृष्टिसे एक-सी हैं, पर उनके परिकरोंमें दो तीन शताब्दी बाद काफी परिवर्त्तन होते रहे हैं। अष्टप्रातिहार्यके अतिरिक्त श्रावकोंकी जो मूर्त्तियाँ सम्मिलित होती गईं, उनसे परिवर्त्तनकी कल्पना हो सकती है। कुषाणकालीन प्रभामंडल सादा था, गुप्तकालमें अलंकरणोंसे अलंकृत हो गया और गुप्तोत्तर कालमें तो वह पूरी तौरसे, इतना सज गया कि मूल प्रतिमा ही गौण हो गई। महाकोसल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशोंके परिकरोंमें साँचीके प्रभावके साथ कलचुरियोंके समयकी मूर्त्तिकलामें व्यवहृत उपकरणोंका भी प्रभाव है। मेरा जहाँतक विश्वास है महाकोसलका परिकर बड़ा सफल और सजीव बन पड़ा है। इसके विकासमें सिंहासनके आकारोंमें स्वतंत्रता और मौलिकता है। प्रभामंडल और छत्र भी अपने हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि कुछ मूर्त्तियाँ तेवर और बिलहरीमें ऐसी भी मिली हैं, जिनपर सम्पूर्ण शिखराकृति आमलक, कलशके भाव खुदे हैं। अपने आपमें वे मन्दिरका रूप लिये हुए हैं। एक और विशेषता है। इस ओर दिगम्बर जैनोंका प्राबल्य है। अतः बाहुबलीजी भी परिकरमें सम्मिलित हो गये हैं। तीर्थंकरोंके जीवनकी मुख्य घटनाएँ भी आ जाती हैं। इसपर मैंने अन्यत्र विचार किया है।

---

[1] "बाँकुड़ा ज़िला तो बिल्कुल अछूता ही है जो ओरिसाकी सीमापर है। लाल पाषाणपर जैन अवशेष प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। श्री राखालदास बनरजीने कुछ अन्वेषण किया था, पर वह प्रकाशित न हो सका। मुझे श्रीकेदार बाबू (सं० मोडर्न रिव्यू) ने यह सूचना दी थी।

खड्गासन मूर्तियाँ जो गुप्तोत्तरकालीन और सपरिकर हैं, उनपर गुप्तमंदिरोंकी शैलीका बहुत असर है। ऐसी एक खड्गासनस्थ प्रतिमा मेरे निजी संग्रहमें सुरक्षित है। इसका परिकर बड़ा सुन्दर और सर्वथा मौलिक है। इसमें दोनों ओर दो उड़ते हुए कीचक बतलाये गये हैं। पेट भी निकले हुए हैं, मानों सारा वज़न उन्हीं पर हो। ऐसी आकृति गुप्तकालीन मन्दिरोंके स्तम्भोंमें खुदी हुई पाई गई है।

गुजरातमें विकसित सपरिकर मूर्तिकलाके प्रतीक आबू व पाटनमें विद्यमान हैं। वहाँपर भी प्रान्तीय उपकरणोंका व्यवहार हुआ है। सापेक्षतः विशाल प्रतिमाएँ (खड्गासनस्थ) विन्ध्यभूमि और महाकोसलमें मिलती हैं। थोड़े बहुत प्रान्तीय भेदोंको छोड़ दें तो स्पष्टतः उत्तरीयकला परिलक्षित होगी।

पूर्वीय कलाकृतियाँ मगध और बंगालमें मिलती हैं। मगध और बंगालके परिकर बिलकुल अलग ढंगके होते हैं। मगधके कलाकारोंने 'पाल' प्रभावको नहीं भुलाया। वहाँ प्रस्तरके अतिरिक्त चूनेके पलस्तर-की प्रतिमाएँ भी मिलती हैं।

उत्तर और पूर्वीय जैनमूर्तिकलाकी परंपरा १४वीं शताब्दीके बाद रुक-सी जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तियाँ बनती न थीं। पर उनमें कलात्मक दृष्टिकोणका अभाव स्पष्ट है।

दक्षिणभारतीय जैन-मूर्तिकलाका इतिहास ईस्वी पूर्व २००-१३०० तकका माना जाता है। इस ओर भी जैनोंका सार्वभौमिक व्यक्तित्व बड़ा उज्ज्वल रहा है। विभिन्न राजवंशोंने अपने-अपने समयमें शिल्पकी उन्नतिमें योग दिया है। दक्षिणभारतीय मूर्तिकलाके उत्कृष्ट प्रतीक आज भी सुरक्षित हैं। भावोंकी अपेक्षा यहाँकी मूर्तियोंमें भले ही समानता प्रतीत होती हो, पर कलाकी दृष्टिसे उनमें काफी अंतर है—जो देश-भेदके कारण स्वाभाविक है। उनका अंग-विन्यास और मुखाकृति द्राविड़ियन

हैं। उनका प्रभामण्डल आदि परिकरके उपकरण दोनों शैलियोंसे सर्वथा भिन्न हैं।

धातु प्रतिमाएँ—

कलाकार आत्मस्थ सौन्दर्यको उत्प्रेरक कल्पनाके सम्मिश्रणसे उपादान द्वारा रूप प्रदान करता है। इसमें उपादानकी अपेक्षा आन्तरिक सुकुमार भावोंकी ही प्रधानता रहती है। तात्पर्य कि उपादान कैसा ही क्यों न हो, यदि कलाकारमें सौंदर्य-सृष्टिकी उत्कृष्ट क्षमता है, तो वह भावोंका व्यक्तीकरण सफलतापूर्वक कर देगा। जैनाश्रित कलाकारोंने यही किया। इसीकारण जैन-मूर्त्ति-कलामें सभी प्रकारके उपादानोंका सफलतापूर्वक उपयोग हुआ।

सुरक्षाकी दृष्टिसे धातुकी उपयोगिता विशेष मानी गई है। प्रस्तर-मूर्त्तिमें खण्डित होनेकी संभावना रहती है। कालान्तरमें पपड़ियाँ पड़ जातीं हैं। कभी-कभी भक्तकी असावधानीसे उपांग .खण्डित हो सकता है; पर धातु मूर्त्तियाँ इन सबका अपवाद हैं। अभीतक पुरातत्त्वके विद्वान् मानते आये थे कि धातुकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिमाएँ बुद्धदेव ही की उपलब्ध होती हैं, जैन लोग धातु-मूर्त्ति-निर्माण कलामें बहुत ही पश्चात्पद हैं, परन्तु गत दश वर्षोंमें अनुसन्धानद्वारा जितनी भी जैन-धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, वे न केवल धर्म एवं जैनाश्रित कलाकी दृष्टिसे ही महत्त्वकी हैं, अपितु भारतीय मूर्त्तिनिर्माण परम्पराके इतिहासका नवीन अध्याय खोलती हैं। इन मूर्त्तियोंने प्रमाणित कर दिया है कि गुप्त कालमें इस प्रकारकी कलाकृतियोंका सृजन न केवल उत्तरभारत या बिहारमें ही होता था, अपितु पश्चिम भारतवासी शिल्पी भी एतद्विषयक मूर्त्तिनिर्माण पद्धतिसे अनभिज्ञ न थे। उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओंका विवेचनात्मक इतिहास उपलब्ध नहीं है, पर तद्विषयक सामग्री पर्याप्त है। अब समय आ गया है कि बिशृंखलित कड़ियोंको एकत्र कर शृंखलाका रूप दें।

धातुमूर्ति-निर्माण-कलाका केन्द्र कुर्किहार या नालिन्दा माना जाता रहा है। यहाँ बौद्ध-संस्कृतिके उपकरणोंको कलाचार्यों द्वारा रूपदान दिया जाता था। यों भी बौद्धोंने, सापेक्षतः रूप-निर्माणकलामें पर्याप्त उन्नति की है। जब अनुकूल उपकरण मिल जायँ, तो फिर चाहिए ही क्या। चीनी पर्यटकोंके यात्रा-विवरणों व तात्कालिक ग्रन्थस्थ उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि 'मगध' प्राचीन कालमें श्रमण परम्पराका महाकेन्द्र था। गुप्त-कालमें जैन-संस्कृति उन्नत रूपमें थी। यद्यपि इस कालकी शिल्पकृतियाँ आज मगधमें कम उपलब्ध होती हैं, पर राजगृहकी विभिन्न टोंकोंपर एवं पाँचवीं टोंकके भग्न जैन-मंदिरमें जो जैन-मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, वे न केवल गुप्तकालीन मूर्तिकलामें व्यवहृत अलंकरणोंसे विभूषित हैं, अपितु कुछ एक तो ऐसी भी हैं जिनकी तुलना गुप्तकालीन बौद्ध मूर्त्तियोंसे सरलतापूर्वक की जा सकती है। उन दिनों जैन-धातु-मूर्त्तियोंका निर्माण मगधमें हुआ था या नहीं? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु पटना आश्चर्य गृहमें जैन-धातु-मूर्त्तियोंका अच्छा-सा संग्रह सुरक्षित है। साथ ही एक धर्मचक्र भी है। इन कृतियोंपर लेखका अभाव होते हुए भी ये गुप्तोत्तर और गुप्त कालके मध्यकी रचनाएँ हैं। कारण कि मगधकी क्रमिक विकसित मूर्त्ति-परम्पराके अध्ययनकी स्पष्ट छाप है। उपर्युक्त संग्रह मगधसे ही प्राप्त किया गया है।

भारत-कला-भवन (बनारस)में एक सुन्दर लघुतम जैन-धातु-मूर्ति देखी थी, जो मूलतः स्वर्णगिरीके भट्टारककी थी, जैसा कि कटनीके एक जैन तरुण द्वारा ज्ञात हुआ। यह गुप्तकालीन है।

कुछ वर्ष पूर्व बड़ौदा राज्यान्तर्गत विजापुरके निकट महुडी ग्रामके कोटयर्कजीके मन्दिरमें खुदाईके समय, चार अत्यन्त सुन्दर व कलापूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाएँ, अन्य स्थापत्योंके साथ उपलब्ध हुई थीं। जिनमेंसे तीन तो बड़ौदा पुरातत्त्व विभागने अधिकृत कर लीं, एवं एक उसी मन्दिरके महंतके संरक्षण में हैं। सीमेंटसे दीवालमें जड़ दी गई है। इन चारों मूर्त्तियों

के चित्र, रिपोर्ट आफ दि आर्क्योलाजिकल सर्वे बड़ौदा स्टेट १९३७-३८में प्रकाशित हैं। मूर्त्ति विज्ञानका सामान्य अभ्यासी भी इसके जैन होनेकी लेशमात्र भी शंका नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें तात्कालिक पुरातत्त्व विभागके प्रधान डाक्टर हीरानन्द शास्त्रीने, इन कृतियोंको बौद्ध घोषित कर दिया। जब कि इनपर खुदे हुए लेख भी, जैनपरम्परासे जुड़े हुए हैं। शास्त्रीजीके भ्रान्त मतका निरसन डाक्टर हँसमुखलाल सांकालिया[1] व श्रीयुत साराभाई[2] नवाबने भलीभाँति कर दिया है। डाक्टर शास्त्रीजीने इन मूर्तियोंके अध्ययनमें जैन-दृष्टिकोणका बिलकुल उपयोग नहीं किया है, जैसा कि उनके द्वारा उपस्थित किये गये मन्तव्योंसे ज्ञात[3] होता है। डाक्टर शास्त्रीजी इन मूर्त्तियोंमें-से, दीवालमें लगी मूर्तिका समय सातवीं शती स्थिर करते है। उनके असिस्टेंट श्री गद्रे ई० स० ३०० मानते हैं और श्री साराभाई नवाब "वैरिगण" शब्दसे इससे भी दो शताब्दी आगे ले जाते हैं, पुरातन धातु प्रतिमाओंमें यही एक मूर्ति सलेख है।

जैन-मूर्त्ति-कलाके विषयमें विद्वानोंमें एक भ्रम फैला हुआ है। "प्राचीनतर मूर्त्तियोंमें, केश, कंधोंपर खुले गिरे होते हैं। प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्त्तियोंके न तो 'उष्णीष' होता है न 'ऊर्णा' परन्तु मध्यकालीन प्रतिमाओंके मस्तकपर एक प्रकारका हल्का शिखर मिलता है।"[4] उपर्युक्त पंक्तियोंमें सत्यांश बहुत कम है। पुरातन जैन-धातु-प्रतिमाओंमें एवं कहीं-कहीं प्रस्तर प्रतिमाओंमें भी 'उष्णीष' व 'ऊर्णा'का अंकन स्पष्टतः मिलता है, एवं स्कंध प्रदेशपर फैले हुए बाल तो केवल ऋषभदेव स्वामी

---

[1] बुलेटिन आफ दि डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टिट्यूट, मार्च १९४०।

[2] भारतीय विद्या भाग १, अंक २, पृष्ठ १७९-१९४।

[3] रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे बड़ौदा स्टेट १९३७-३८।

[4] वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २२६।

की मूर्त्तिमें मिलेंगे। यह उनकी विशेषता है। इसकी सप्रमाण चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ।

यह लिखनेका एकमात्र कारण यही है कि उल्लिखित जैन-धातु-प्रतिमामें, जो प्राचीन हैं, 'उष्णीष' 'ऊर्णा' स्पष्ट हैं। मूर्त्तिपर लेख उत्कीर्णित है—

नम [:] सिद्ध [नम्] वैरिगणत.... उप[रि] का-आर्य-संघ-श्रावक-" अभी-अभी बड़ौदा राज्यान्तर्गत अँकोटक[1]—अकोटाके अवशेषोंमेंसे पुरातन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाओंका अन्यतम संग्रह प्राप्त हुआ है। बड़ौदामें मगनलाल दर्जीके यहाँ खुदाईके समय भी धातु-मूर्त्तियोंका अच्छा संग्रह उपलब्ध हुआ है। इनमेंसे कुछ एकका परिचय वहाँके ही श्रीयुत उमाकान्त[2] प्रेमानन्द शाहने व पंडित लालचन्द्र[3] भगवानदास गांधीने अपने लेखोंमें दिया है।

नवोपलब्ध मूर्त्तियाँ भारतीय जैनमूर्त्ति-विधानमें क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकें, ऐसी क्षमता है। इन प्रतिमाओंमें एक प्रतिमा ऐसी है, जिसपर

ओं देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य ॥

---

[1]गुजरातकी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रीसे परिपूर्ण नगरोंमें इसकी भी परिगणना की जाती है। विक्रमकी नवीं शताब्दीमें लाटेश्वर सुवर्ण-वर्ण—कर्क राज्य-कालमें अंकोटक भी चौरासी ग्रामोंका मुख्य नगर था। शक संवत् ७३४, विक्रम संवत् ६६६के दान-पत्रसे विदित होता है कि नवम-दशम शताब्दीमें अंकोटकका सांस्कृतिक महत्त्व अत्यधिक था। जैनोंका निवास भी प्राप्त मूर्त्तियोंसे प्रमाणित होता है।

[2]जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बरोरा, वॉ० १, नं० १, पृ० ७२-७९।

[3]जैन-सत्यप्रकाश, वर्ष १६, अंक १०।

शब्द अंकित[1] हैं। श्रीशाहका ध्यान है कि यह जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, 'विशेषावश्यकभाष्य'के रचयिता ही हैं। इसके समर्थनमें वे उपर्युक्त लेखकी लिपिको रखते हैं—जिसका काल ईस्वी पाँच सौ पचाससे छह सौ पड़ता है। वलभीके मैत्रकोंके ताम्र-पत्रोंकी लिपिसे यह लिपि मेल रखती है।

सापेक्षतः यह मूर्त्ति, कलाकी दृष्टिसे भी, प्राप्त मूर्त्तियोंमें पुरातन जँचती है। प्रकाशित चित्रोंपरसे मूर्त्तियोंका सौन्दर्य देखा जा सकता है। मध्य भागमें भगवान् युगादिदेवकी प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रामें है। तनपर वस्त्र[2] स्पष्ट है। चरणके निकट उभय मृग, साश्चर्य मुख-मुद्रामें ऊपरकी ओर झाँक रहे हैं। बाईं ओर कुबेर (द्विहस्त) और दाईं ओर अम्बिका[3] है। इसकी रचनाशैली स्वतंत्र है। पृष्ठ भागमें लेख उत्कीर्णित है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। श्रीशाह सूचित करते हैं कि मूर्त्तिके पास २ छिद्र हैं, उसमें २३ तीर्थंकरोंकी, प्रभावकी युक्त पट्टिका थी, अब भी दुरअवस्थामें हैं। मूर्त्ति 'सोष्णीष' है।

जीवन्तस्वामी—

उपर्युक्त प्रतिमाकी सामान्य चर्चा तो इस निबंध में हो चुकी है, परन्तु इस भाववाली प्रतिमाका सक्रिय स्वरूप कैसा था? और किस शतीतक

---

[1] एक अन्य प्रतिमापर "ओं निर्वृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्थ" लेख है।

[2] वस्त्र भी पुरातन शैलीका है। छोटे-छोटे फूलोंसे सुसज्जित किया गया है, जैसा कि उस कालकी अन्य मूर्त्तियोंमें देखा जाता है। उस समयकी वस्त्र-निर्माण-पद्धतिका परिचय इससे मिल सकता है। धोतीमें गाँठ बाँधनेका ढंग वसंतगढ़की प्रतिमाओंसे मिलता-जुलता है।

[3] अम्बिका देवीके तनपर पड़े हुए वस्त्र, उसकी आँख, नासिका, मुख-मुद्रा, आदिका तुलनात्मक अध्ययन, ताड़पत्रीय चित्रोंसे होना चाहिए।

कैसा रहा, आदि महत्त्वपूर्ण विषयपर, प्राप्त मूर्तिसे प्रकाश पड़ेगा। जीवन्त स्वामीकी मान्यताका सांस्कृतिक रूप कैसा था? इसका पता वसुदेवहिंडी[1] 'बृहत्कल्पभाष्य'[2]—निशीथचूर्णि[3] और त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र आदि ग्रन्थोंके परिशीलनसे लगता है[4]। यों तो कतिपय धातु-मूर्तियाँ भी इस नामकी मिलती हैं, पर उनमें 'जीवन्त'का अंकन न होकर, वीतरागावस्थाका सूचन करती हैं। हाँ, अंकोटसे प्राप्त प्रतिमा इस विषयपर प्रामाणिक प्रकाश डालती है। प्रतिमा दुर्भाग्यसे खंडित है। दाहिना हाथ टूट गया है। पादपीठ युक्त मूर्तिकी ऊँचाई १५ ३/४ इंच है। चौड़ाई ४ ३/४ इंच है। तीन टुकड़ोंमें विभक्त निम्न लेख उत्कीर्णित है—

"१ ओं देवधर्मोयं जिवंतसामि

२ प्रतिमा चन्द्र कुलिकस्य

३ नागीस्वरी (१ नागीश्वरी) श्राविकस्याः (काया:)

अर्थात्—ओं यह देवनिमित्त दान है, जीवन्तस्वामी प्रतिमाका, चन्द्र-कुलकी नागीश्वरी नामक श्राविकाकी ओरसे"

लेखकी मूललिपिमें 'त'के आगे स्थान छूटा हुआ है। सम्भव है 'न्' छूट गया हो। प्रकाशित लिपिकी तुलना, ई० स० ५९४-६००के बीचके वलभीके मैत्रकोंकी दानपत्रोंकी लिपिसे, की जा सकती है।

---

[1] भाग १, पृ० ६१।

[2] भाग ३, पृ० ७७६।

[3] ताडपत्रीय पोथी जो आचार्य श्री जिनकृपाचंद्रसूरि-संग्रह (सूरत)में सुरक्षित है। १२वीं शताब्दीकी यह प्रति सूरतके एक सज्जनसे वि० सं० १९९२में पूज्य गुरुवर्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराजको प्राप्त हुई थी। पाठ इस प्रकार है—

"अण्णया आयरिया वतिदिसं जियपडिमं वंदिया गता"।

[4] जैन-सत्यप्रकाश वर्ष १७, सं० ५-६, पृ० ९८-१०९।

हाँ इसकी मोड़में अन्तर अवश्य पड़ेगा,—पर बहुत थोड़ा। उपर्युक्त लेखमें प्रतिष्ठा कालका उल्लेख नहीं है, अतः लिपिके आधारपर ही कल्पना की जा सकती है। श्रीशाहने इसका आनुमानिक काल ई० स० ५५० लगभग स्थिर किया है।

प्रतिमा कलाका उच्चतम प्रतीक है। देखकर अन्तर्नयन तृप्त होते हैं। मस्तकपर मुकुट है। कर्णमें कुंडल, हाथोंमें बाजूबन्द व कड़े, गलेमें मौक्तिकमाला, कमरबन्द आदि राजकुमारोचित आभूषणोंसे विभूषित है। मुखमुद्रा प्रशान्त व प्रसन्न है। इसकी निर्माणशैली, सापेक्षतः स्वतंत्र जान पड़ती है।

इसी प्रकारकी धातुमूर्ति, आठवीं शतीकी, सं० १९५६में अकालके समय प्राप्त हुई थी, जो वर्तमानमें पिंडवाडामें सुरक्षित हैं[1]। प्रतिमा आदिनाथ भगवान्‌की है। चार फुटसे कुछ अधिक ऊँची है। ऐसी एक और प्रतिमा है, जिसपर इसप्रकार पाँच पंक्तिमें लेख उत्कीर्णित है—

१ ॐ नीरागत्वादिभावेन सर्व्वज्ञत्व विभावकं।
ज्ञात्वा भगवतां रूपं, जिनानामेव पावनं॥
द्रो—वयक

२ यशोदेव देव······भि···रिदं जैनं—कारितं युग्मसुत्तमं॥

३ भवशतपरंपरार्जित—गुरुकर्म्मरसो (जो)
······त...वर दर्शनाय शुद्धसज्झनचरणलाभाय॥

४ संवत ७४४।

५ साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम्॥[2]

---

[1] इसका पूर्ण परिचय "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (बनारस)के नवीन संस्करण भा० १८, अं० २, पृ० २२१-२३१में, मुनि श्री कल्याणविजयजी द्वारा दिया गया है।

[2] वीतरागत्वादि गुणसे सर्वज्ञत्व प्रकट करानेवाली, जिनेश्वर भगवन्तों-

इस प्रकारके मूर्त्ति लेख कम मिलते हैं। जिनमें मूर्त्ति-निर्माणका कारण व लाभ बताये गये हों, और स्थपति का भी नामोल्लेख हो। धातु-प्रतिमाएँ, आठवीं शतीकी सूचित मंदिरमें हैं[१]।

वांकानेर (सौराष्ट्र) व अहमदाबादके मंदिरोंमें सातवीं आठवीं शताब्दीकी धातुमूर्त्तियाँ सुरक्षित हैं। इसी कालकी जैनधातु-मूर्त्तियाँ दक्षिण भारतमें भी पाई जाती हैं।

जोधपुरके निकट गाँवाणी तीर्थमें भ० ऋषभदेव स्वामीकी धातुमूर्त्ति ९३७ की है, लेख इस प्रकार है—

१ ॐ॥ नवसु शतेष्वब्दानां। सप्तत्रं (त्रि) शदधिकेश्वतीतेषु। श्रीवच्छलांगलाभ्यां

२ परमभक्त्या॥ नाभयेजिनस्यैषा॥ प्रतिमाऽषाढार्द्धमासनिष्पन्ना श्रीम-

३ तारेणकलिता। मोक्षार्थं कारिता ताभ्यां ज्येष्ठार्यपदं प्राप्तौ द्वावपि

की मूर्ति ही है। (ऐसा) जानकर......यशोदेव......आदिने यह जिनमूर्तियुगल बनवाया। शताधिक भव परम्परयोपार्जित कठिन कर्मरज ......(नाशार्थ एवं) सम्यग्दर्शन, विमल ज्ञान और चारित्रके लाभार्थ, वि० सं० ७४४ (में यह युगल मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा हुई) साक्षात्ब्रह्मा समान सर्व प्रकारके रूप (मूर्त्तियाँ) निर्माता शिल्पी शिवनागने इसे बनाया॥

श्री जैनसत्यप्रकाश वर्ष ७ अं० १-२-३, पृ० २१७।

[१] स्व० बाबू पूर्णचन्द्र नाहरके संग्रहमें ८वीं शतीकी एक मूर्ति है जिसमें कनाडी लेख है। मूर्त्ति अत्यन्त सुन्दर है।

"रूपम्" १९२४, जनवरी, पृ० ४८।

४ जिनधर्मवच्छलौ ख्यातौ। उद्योतनसूरेस्तौ ; शिष्यौ—श्रीवच्छ-बलदेवौ॥

५ सं० ९३७ अषाढार्द्धे।[1]

११वीं शताब्दी

श्री मगनलाल दर्जीके संग्रहकी धातुमूर्त्तियाँ अभी ही प्रकाशमें आई हैं, उसमें जो मूर्त्तियाँ हैं, उनकी संख्या तो अधिक नहीं है, पर ग्यारहवीं शतीके बाद या उससे कुछ पूर्व मूर्त्तिनिर्माणमें सामयिक परिवर्त्तन होने लगे थे, उनके क्रमिक विकासपर प्रकाश मिलता है। इसके समर्थनमें, लेखयुक्त अन्य प्रतीकोंकी भी अपेक्षा है, इनसे ज्ञात होगा कि हमारी धातुशिल्प परम्परा कितनी विकसित रही है। इनको मैं प्रान्तीय कला-सीमामें न बाँधकर भारतीय संस्करण कहना अधिक उपयुक्त समझूँगा।

श्वेताम्बर-जैन-परम्परामें निवृत्तिकुलीन आचार्य द्रोणाचार्यका स्थान महत्त्वपूर्ण है। ये राजमान्य आचार्य गुर्जरेश्वर भीमके मामा थे। श्री अभयदेवसूरि रचित नवांगवृत्तियोंके संशोधनमें आपने सहायता दी थी। ये स्वयं भी ग्रन्थकार थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातुमूर्त्ति[2] पर इस प्रकार लेख खुदा है—

"देवधर्मार्थं निवृतिकुले श्री द्रोणाचार्यैः कारितो जिनत्रयः। संवत् १००६"

स्व० बाबू पूर्णचंद्रजी नाहरके संग्रहमें सं० १०११,[3], 'कडी'[4]के जैन मंदिरमें शक ९१० (वि० १०४५), गोडीपार्श्वनाथ मंदिरमें (बम्बई) वि०

---

[1]जैनलेखसंग्रह भा० १ लेखांक १७०१।

[2]मगनलाल दर्जीके सग्रहसे प्राप्त हुई।

[3]जैनलेखसंग्रह, भा० १, ले० १३४, पृ० ३१।

[4]जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भा० १, पृ० १३२।

सं० १०६३[1], नाहर संग्रहमें सं० १०७७[2] की, कलकत्ता तूलापट्टी स्थित खरतरगच्छीय बृहत्मंदिर स्थित वि० सं० १०८३[3], सं० १०८४की भीमपल्ली[4] रामसेन स्थित मूर्ति, सं० १०८६की जैसलमेरीय प्रतिमा, ओसीया (राजस्थान) की सं० १०८८[5] की, और गौडीपार्श्वनाथ[6] मंदिर (बम्बई) की वि० सं० १०६०की मूर्तियोंके अतिरिक्त अभी भी अनेक मूर्तियाँ अन्वेषणकी प्रतीक्षामें हैं। उदाहरणार्थ बीकानेर[7] के चिन्तामणि

---

[1] भारतनां जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य प्लेट १७।

[2] जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २।

[3] जैन-धातु प्रतिमा लेख, पृ० १।

[4] जैनयुग व० ५ अं० १-३, "जैनतीर्थ भीमपल्ली और रामसेन" शीर्षक निबंध।

[5] जैनलेखसंग्रह, भा० १, ले० ७६२, पृ० १६५।

[6] श्री साराभाई नवाबने अपने "भारत ना जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य" नामक ग्रन्थमें (परिचय पृ० ७) सूचित करते हैं कि "इस प्रतिमामें मस्तकके पीछेकी जटा गरदन तक उतर आई है, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती"। पर मुझे ६ शतीकी धातुमूर्ति, जो सिरपुरसे प्राप्त हुई है, उसमें इस प्रतिमाके समान ही जटा है। मैंने ही साराभाईका ध्यान इस ओर, आजसे १२ वर्ष पूर्व आकृष्ट किया था।

[7] संवत् १६३३में तुरसमखानने सीरोही लूटी। वहींसे १०५० मूर्तियाँ सम्राट् अकबरके पास फतहपुर भेज दीं। सम्राट्ने विवेकसे काम लिया। अतः उन्हें गलाकर स्वर्ण न निकाला गया। बादशाहने अपने अधिकारियोंको कड़ा आदेश दे रखा था कि उनकी बिना आज्ञाके ये किसीको न दी जायँ। मंत्रीश्वर कर्मचंद्रने बादशाहको प्रसन्न कर यह कला सम्पत्ति प्राप्त की, मंत्रीश्वरने अपने चातुर्यसे भारतीय मूर्तिकलाकी मूल्यवान् सामग्री बचा ली। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि, पृ० २१७-१८

पार्श्वनाथ मंदिरके भूमिगृहमें १०५०से अधिक जैन-धातुमूर्तियाँ सुरक्षित हैं, इतना विराट् संग्रह एक ही स्थानपर शायद ही कहीं उपलब्ध हो। इसमें ९-१० शताब्दियोंकी दर्जनों कलापूर्ण प्रतिमाएँ हैं, कुछेक गुप्तकालीन भी जँचती हैं। पर उनकी संख्या अत्यन्त परिमित है।

११वीं शती बादकी धातुमूर्तियाँ भारतके विभिन्न भागोंमें प्राप्त होती हैं, पर उनकी विशद चर्चाका यह क्षेत्र नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कला और सौंदर्यकी उज्ज्वल परम्पराका प्रवाह १२वीं शती तक तो, ले-देकर चला, पर १३वींके बाद तो विलुप्त हो गया। मूर्तियाँ तो बाद भी, सापेक्षतः अधिक निर्मित हुईं; पर उनमें सौंदर्यका अभाव है। यद्यपि शिल्पिगणने पुरातन परम्पराके अनुकरणकी चेष्टा तो की है, पर रहे असफल। हाँ, लिपिका सौंदर्य अवश्य सुरक्षित रहा। कुछेक मूर्तियोंपर, पृष्ठ भागमें चित्र भी उकेरे गये हैं।

१३वीं शतीकी बादकी मूर्तियाँ प्रायः सपरिकर मिलेंगी। वह परिकर भी पुरातन नहीं, नवीन है। मेरा खयाल है कि बृहत्तर प्रस्तर मूर्तिगत परिकरोंका इनमें अनुकरण किया है। विस्तृत स्थानमें विभिन्न कलाके अलंकरणोंका व्यतिकरण सरल है, पर लघुतम स्थानमें अधिक उपकरण भरेंगे तो उसमें रससृष्टि असम्भव है। बाद ठीक वैसा ही हुआ।

जैनाश्रित मूर्तिकलाके इतिहासमें जितना महत्त्वपूर्ण स्थान मथुराके कलात्मक प्रतीक रखते हैं, उतना ही स्थान धातु प्रतिमाओंका भी होना चाहिए। पुरातन और अपेक्षाकृत नवीन मूर्तिविधानकी कड़ियाँ इनमें अन्तर्निहित हैं। नृतत्त्व शास्त्रीय दृष्टिसे भी इनकी उपयोगिता कम नहीं। नवोपलब्ध मूर्ति-संग्रहसे अब यह शिकायत नहीं रही कि जैन-समाज धातु-मूर्ति-निर्माणमें पश्चात्पद था।

काष्ठ-मूर्तियाँ

सापेक्षतः काष्ठ-प्रतिमाएँ कम मिलती हैं। विशेष करके इसका प्रयोग भवननिर्माणमें होता था। परन्तु जैनवास्तुविषयक ग्रन्थोंमें काष्ठ-

मूर्तिका उल्लेख आता है। श्रमणभगवान् महावीरके समय भी चंदनका प्रयोग मूर्तिनिर्माणमें हुआ था। मगधके पाल राजाओंने भी काष्ठप्रतिमाओं का सृजन किया था। अतः परम्परा प्राचीन है। उत्तरकालीन जैनोंने शायद इसका निर्माण इसलिए रोक दिया होगा कि सापेक्षतः इसकी आयु कम है। प्रतिदिन प्रक्षालसे वह शीघ्र ही जर्जर हो जाता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालयके आशुतोषसंग्रहालयमें एक जैनाश्रित मूर्ति-कलाकी जिनप्रतिमा है। इसकी प्राप्ति बिहारके विष्णुपुरके तालाबसे हुई थी। मेरे मित्र श्री डॉ० पी० घोषने इसका काल दो हज़ार वर्ष पूर्वका स्थिर किया है। प्रतिमाको देखनेसे ज्ञात होता है कि वह पर्याप्त समय जलमग्न रही होगी। क्योंकि उसमें सिकुड़न बहुत है। रेखाएँ भी कम नहीं हैं। डा० विलियम नार्मन ब्राउनने मुझे एक भेंटमें बताया था कि अमेरिकामें भी कुछ काष्ठोत्कीर्ण जिनमूर्तियाँ हैं, जिनका समय आजसे १५०० वर्ष पूर्वका है।

विवेकविलासमें प्रतिमा-निर्माण काममें आनेवाले काष्ठकी परीक्षाका उल्लेख इसप्रकार आया है—

"निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा।
विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मण्डलं भवेत्॥"

परीक्षाके अंगोंपर प्रकाश डालनेवाली और भी सूचनाएँ इसीमें हैं। प्रतिमा-निर्माणमें इन काष्ठोंकी परिगणना है—
चंदन, श्रीपर्णी, बेलवृक्ष, कदंब, रक्तचंदन, पियाल, ऊमर, शीशम[1]।

---

[1]कार्यं दारुमयं चैत्ये श्रीपर्ण्या चन्दनेन वा।
बिल्वेन वा कदम्बेन रक्तचंदनदारुणा॥
पियालोदुम्बराभ्यां वा क्वचिच्छिंशिमयापि वा।
अन्यदारूणि सर्वाणि बिम्बकार्ये विवर्जयेत्॥

रत्नकी मूर्तियाँ

श्रीसम्पन्न जैनसमाजने बहुमूल्य रत्नोंकी मूर्तियाँ भी बनवाईं। किंवदन्तियोंको यदि सत्य मान लिया जाय तो रत्नोंकी मूर्तिका इतिहास सर्वप्राचीन सिद्ध होगा, पर ऐतिहासिक व्यक्तिके लिए यह मानना कम सम्भव है। इस विभागमें शाश्वता जिनबिम्बोंको छोड़ भी दिया जाय तो स्थंभनपार्श्वनाथकी प्रतिमा सर्वप्राचीन ठहरेगी। यह अभी स्तंभ-तीर्थ—खंभात—में सुरक्षित है। इसका रत्न आजतक नहीं पहचाना गया। इसके बाद भी उत्तर-गुप्तकालीन रत्नमूर्तियाँ महाकोसलके आरंग (जि० रायपुर)में उपलब्ध हुई हैं। आजकल रायपुरके जैनमंदिरमें विद्यमान हैं। इनमें व्यवहृत रत्न सिरपुरकी मूर्तियोंकी जातिके हैं। इनकी मुखाकृति और रचनाकाल सिरपुरसे प्राप्त धातुमूर्तियोंके समान हैं। सोमवंशीय नरेशोंके समयकी मानना उचित जान पड़ता है। मध्यकालमें स्फटिकरत्नकी मूर्तियाँ बहुत ही विशाल रूपमें बनती थीं। रत्नोंमें यही एक ऐसा रत्न है, जिसकी शिलाएँ सापेक्षतः विशाल होती हैं। १७ वीं शताब्दीकी लेखयुक्त एक मूर्ति नासिकके जैन-मंदिरमें[1]

---

[1]लेख इस प्रकार है—

"संवत् १६६७ फागुण सुद ३ वटपद्र (बड़ौदा) वासि सा० खीमजी सुपुत्र माणिकजीकेन श्रीअंतरिक्षपार्श्वनाथबिं का० प्र० तपा० श्रीविजयदेवसूरिभिः।"

इस प्रतिमाके रजतमय सुन्दर परिकरपर भी इस प्रकार लेख खुदा है—

"संवत् १६६७ व० वै० वदि २ दिने नडिआदिनगरवासि उसवाल-वृद्ध ज्ञातीय राघण गोत्रीय सा० खीमजी भा० बाई तुलजा कुक्षिसंभूत पुत्र सा० माणिकजी, मेघजीनामाभ्यां श्रीअन्तरिक्ष पार्श्वनाथपरिकर कारितः प्रतिष्ठित तपागच्छेश भट्टारक श्रीविजयदेवसूरि पादैः सूरीश महम्न प्रदत्ताचार्य पदप्रतिष्ठित श्रीविजयसिंहसूरिभिः।"

लेखकके "जैन धातु-प्रतिमा-लेख"से

है। गुजरातमें इसका बाहुल्य है। पन्ना, हीरा और पुखराजकी कई मूर्तियाँ मिलती हैं। श्रवणबेलगोला, कलकत्ता और बीकानेरमें रत्न-मूर्तियाँ मिलती हैं। भरत-द्वारा रत्नमय बिम्ब अष्टापदपर बनवानेकी सूचना जैन-साहित्य देता है।

यक्ष-यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ

२४ तीर्थंकरके २४ यक्ष और २४ यक्षिणियाँ रहती हैं। तीर्थंकर प्रतिमामें दायें-बायें क्रमशः इनका अंकन रहता है। कुछेक प्रतिमा ऐसी भी पाई जा सकती हैं, जिनमें इनका अस्तित्व न भी हो, पर परिकरमें तो ये अपरिहार्य हैं, महाकोसलमें एक तोरण मुझे प्राप्त हुआ है, उसमें तीन तीर्थंकर प्रतिमाओंके अतिरिक्त अन्य ५ यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ हैं।

इनका इतिहास भी कुषाण-कालसे प्रारम्भ होता है। उस युगकी प्रतिमाओंमें इनका अंकन तो है ही, पर उसी समय इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ भी बनती थीं। उन दिनों अंबिकादेवीका रूप व्यापक-सा जान पड़ता है। कारण कि नेमिनाथकी अधिष्ठातृ होनेके बावजूद भी भगवान् युगादिदेवकी मूर्तिमें यह अवश्य देखी जाती है। १२वीं शताब्दीतक ऋषभदेवकी मूर्तियोंमें इनका रूप खुदा हुआ पाया गया है, जब कि वहाँ होनी चाहिए चक्रेश्वरी। उस समय अंबिकाकी सयक्ष मूर्तियाँ भी बनती थीं। मथुरामें ऐसी एक मूर्ति प्राप्त हुई है[1]। मगधके राजगृह

उपर्युक्त दोनों लेख एक ही निर्माता और प्रतिष्ठापकसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है कि मूर्तिकी प्रतिष्ठा फाल्गुनमें हुई और परिकर वैशाखमें बना। मूर्ति लघुतम होनेसे परिकरमें निर्माताका पूरा परिचय आ जाता है। नडिआद और बड़ौदाके भिन्न उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि दोनों स्थानोंपर निर्माताका व्यवसाय-सम्बन्ध होगा। सूचित संवत्में आचार्य श्रीका वहाँ गमन भी है।

[1] जैनसत्यप्रकाशके पर्युषणांकमें इसका चित्र प्रदर्शित है।

और गत वर्ष कौशाम्बीके खंडहरमें भी एक मूर्ति लेखकद्वारा देखी गई है। दायीं ओर गोमेध यक्ष और बायीं ओर अंबिका अपने बालकों सहित विराजमान है। मध्यमें आम्र-वृक्ष, उसकी दो डालें, मध्यमें जिनमूर्ति (मगधकी मूर्तिमें शंखका चिह्न भी स्पष्ट है) होती है। इस शैलीका प्रादुर्भाव कुषाणोंके समयमें हुआ जान पड़ता है। कारण कि कौशाम्बीकी मूर्तिका पत्थर मथुराका है और कुषाणयुगकी वस्तुओंमें वह निकली है। भू-गर्भशास्त्रकी दृष्टिसे भी प्राप्ति स्थानका इतिहास कुषाण युगसे सम्बद्ध है। मूर्तिकी यह परम्परा १४-१५ शताब्दी तक चली। इसका विकास महाकोसल तक, उधर मगध तक हुआ है। महाकोसलमें इस ढंगकी दर्जनों मूर्तियाँ मिलती हैं। अम्बिकाकी वृक्षपर झूलती हुई, सिंहारूढ़, सयक्ष, साधारण स्त्री-समान आदि कई मूर्तियाँ मिलती हैं। पर उनमें दो बालक, आम्रलुम्ब, सिंह और आम्रवृक्ष ज्योंका त्यों है। इनमेंसे कुछ रूप स्वतन्त्र महाकोसलीय हैं।

गुजरात, काठियावाड़ (ढंकपर्वतकी गुफामें) इलोरा आदि कई स्थानोंपर इनकी मान्यता व्यापक है। चक्रेश्वरीदेवीकी भी दो-तीन प्रकारकी प्रतिमा मिलती हैं। उत्तरभारतकी चक्रेश्वरी गरुड़वाहिनी, चतुर्भुजी और अष्टभुजी होती हैं। चतुर्भुजी और वाहन-विहीन भी मिलती हैं। महाकोसलमें तो चक्रेश्वरीका स्वतन्त्र मन्दिर है। चक्रेश्वरी गरुड़पर विराजित है और मस्तकपर युगादिदेव हैं। यह मन्दिर बिलहरीके लक्ष्मणसागरके तटपर है। राजघाट (बनारस) की खुदाईसे भी चक्रेश्वरी-की प्रतिमाका एक अवशेष निकला है। भारतकलाभवनमें सुरक्षित है।

प्राचीनकालीन जितनी अधिक और कलापूर्ण अम्बिकाकी मूर्तियाँ मिलती हैं, उतनी ही मध्यकालीन पद्मावती[1]की। वह पार्श्वनाथजीकी

---

[1]पाटन, प्रभासपत्तन, शत्रुञ्जय और विन्ध्याचल आदि कई स्थानोंमें पद्मावतीकी बैठी हुई मूर्तियाँ तो काफ़ी मिलती हैं, पर खड़ी

अधिष्ठातृ है। जहाँतक मंत्रशास्त्रका प्रश्न है, पद्मावतीसे सम्बन्धित ही अधिक मन्त्र मिलते हैं। यंत्रमें भी इसीका साम्राज्य है। विन्ध्याचलमें इनकी गुफा है। विन्ध्यप्रदेशमें तो बड़ी विशाल प्रतिमाएँ मिलती हैं। इनके मंत्रकल्प भी कम नहीं हैं। इन देवियोंको खड़ी और बैठी कई प्रकारकी मूर्तियाँ मिलती हैं। विजया, कालीकी भी मूर्तियाँ मिलती हैं। यों तो ज्वालामालिनीकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति मैंने आजसे ८ वर्ष पूर्व केलझरमें देखी थी, पर इनका प्रचार सीमित है। १६ विद्या देवियोंकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ आबूके मधुच्छत्रमें मिली हैं। २४ शासन देवियोंकी सवाहन, सायुध और सामूहिक विशाल प्रतिमा प्रयाग-संग्रहालयमें सुरक्षित है। जैनमूर्तिकलाके क्रमिक विकासपर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

देवियोंमें सरस्वतीकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन-संस्कृतिके अनुसार जिनवाणी ही सरस्वती है। जिनागम ही उसका मूर्तरूप है। पर मध्यकालमें जैन-दृष्टिसे सरस्वतीकी मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। इनके परिकरमें तथा मस्तकपर जिनमूर्तियाँ उकेरी जाती थीं और उपकरण भी जैनाश्रित कलाके रहते थे। ऐसी मूर्तियोंमें बीकानेर-स्थित सरस्वती (जो आजकल न्यू एशियन एण्टिक्केरियन म्यूज़ियम दिल्लीमें सुरक्षित है) मूर्तिकलाका उत्कृष्ट प्रतीक है। इतनी विशाल और मनोज्ञ देवीमूर्तियाँ कम ही मिलेंगी। यों तो पश्चिमभारतमें जैनाश्रित मूर्तिकलाकी परम्परामें

प्रतिमाएँ बहुत ही कम। वर्धा ज़िलेके सिन्दी ग्राममें दि० जैन-मन्दिरमें एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण पद्मावतीकी खड़ी प्रतिमा, भूरे पत्थरपर उत्कीर्णित है। मस्तकपर भगवान् पार्श्वनाथजी विराजमान हैं। यह अनुपम कलाकृति उपेक्षित अवस्थामें धूलमें ढँकी हुई है। इस प्रतिमाको बारहवीं शतीके आभूषणोंका भंडार कहें तो अत्युक्ति न होगी।

इनका भी निर्माण प्रचुर परिमाणमें हुआ है। दक्षिण भारतके जैनोंने भी सरस्वतीको मूर्त रूप दिया था[1]।

देवीमूर्तियाँ अधिकतर पहाड़ियों और गुफाओंमें मिलती हैं, पर लोग सिन्दूर पोतकर उन्हें इतना विकृत कर देते हैं कि मौलिक तत्त्व ढँक जाता है। बकरे चढ़ाने लगते हैं। मैंने चांदवड़में स्वयं देखा है। पासकी पहाड़ियोंमें एक गुफामें जैनमूर्तियाँ हैं, उनके आगे यह कुकृत्य १९३९ तक होता रहा।

सापेक्षतः यक्ष प्रतिमाएँ कम मिलती हैं। क्षेत्रपाल और माणिभद्रकी कुछ मूर्तियाँ दृष्टिगत हुई हैं। यक्षोंमें गोमुख, षण्मुख, यक्षराज, धरणेन्द्र, कुबेर, गोमेध, ब्रह्मशान्ति और पार्श्वयक्षकी प्रतिमाएँ स्वतन्त्र मिली हैं। पार्श्वयक्षको पहचाननेमें लोग अक्सर ग़लती कर बैठते हैं[2]। कारण कि उनकी मुखाकृति, उदर, आयुध गणेशके समान ही होते हैं। इन यक्षोंकी स्वतंत्र प्रतिमाओंमें उनका व्यक्तित्व झलकता है। परिकरान्तर्गत यक्ष मूर्ति इतनी संकुचित होती है कि यदि शिल्प-ग्रन्थोंके प्रकाशमें उन्हें देखें तो भ्रम हो जायगा। उदाहरणार्थ ऋषभदेवके यक्ष गौमुखको ही लें। कुछ मूर्तियोमें तो ठीक रूप मिलेगा पर बहुसंख्यक ऐसी मिलेंगी कि उनकी मुखाकृति आयुध और वाहन कुछ भी शास्त्रीय उल्लेखसे साम्य नहीं रखते। यहाँपर एक बातकी चर्चा कर देना उचित होगा। 'कुबेर' की प्रतिमा ऋषभदेवके परिकरमें अक्सर रहती है, परन्तु वह कुबेर जैन-शिल्प-का प्रतीत नहीं होता। कारण कि उसमें रत्नशैली, नकुल, फाँस एवं मोदक या सुरापात्र रहते हैं, जबकि जैन कुबेर चार मुख और आठ हाथोंवाला होता है[3]।

---

[1] तिरुपत्तिकुनरम्।

[2] श्रीमहावीर स्मृति ग्रन्थ भा० १, पृ० १९२।

[3] तत्तीर्थोत्पन्नं कुबेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुडवदनं।

यक्ष-मूर्तियोंके निर्माणपर समाजने कम ध्यान दिया है। इसका एक कारण है। प्रत्येक मन्दिरमें रक्षकका स्थान क्षेत्रपालका होता है और अधिष्ठाताका स्वरूप जिनमूर्तिमें तो रहता ही है। क्षेत्रपालकी उच्च कोटि की मूर्ति श्रवणबेलगोलामें है। अन्यत्र तो केवल नालिकेरकी स्थापना करके सिन्दूर चढ़ाते जाते हैं।

श्रमण-स्मारक व प्रतिमाएँ

भारतीय धर्मका प्रत्येक सम्प्रदाय, अपने आदरणीय महापुरुषोंका सम्मान कर, गौरवान्वित होता है। उनके स्वर्गवासके बाद पूज्य पुरुषोंके प्रति अपनी हार्दिक भक्ति प्रदर्शनार्थ, या उनकी स्मृति रक्षार्थ, समाधियाँ, स्तूप या ऐसे ही अन्य स्मारक बनवाता है। उनका पूजन करता है। कथित स्मारक यों तो भारतमें अगणित प्राप्त होते हैं, पर यहाँ तो श्रमणपरम्परासे सम्बद्ध स्मारकोंकी विवेचना ही अपेक्षित है।

आचार्य व अन्य मुनिवरोंके स्मारकके लिए, जैन-साहित्यमें इन शब्दों का व्यवहार देखा जाता है, निसिहिया, निषीदिका, निसीधि, निशिद्धि, निषिद्धि और निषिद्धिगे आदि शब्द एक ही भावको व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं 'स्तूप'का व्यवहार भी इसी अर्थमें हुआ जान पड़ता है। मध्यकालीन जैनमुनियोंकी प्रशस्ति व निर्वाण-गीतोंमें 'थूभ' 'थंभ' 'तूप' (थूप नहीं) 'थंभउ' ये शब्द 'स्तूप'के ही पर्यायवाची हैं। १९ वीं शती तक इसका व्यवहार हुआ है।

शिलोत्कीर्ण लेख भी उपर्युक्त कोटिके स्मारकोंपर अच्छा प्रकाश

गजवाहनमष्टभुजं वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणि बीजपूरक—
शक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिं चेति"। वास्तुसार, पृ० १६०
दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार कुबेरका स्वरूप ऐसा होना चाहिए:—
'सफलकधनुर्दण्डपद्मखड्गप्रदरसुपाशवरप्रदाष्टपाणिम्।
गजगमनचतुर्मुखेन्द्रचापद्युतिकलशांकनतं यजे कुबेरम्॥'

डालते हैं। महामेघवाहन महाराज खारवेलके 'हाथीगुफा' वाले लेखकी १४ वीं पंक्तिमें "का य नि सी दी या य" शब्द व्यवहृत हुआ है। जो किसी अर्हत-समाधि या स्तूपका द्योतक है। कलिंग श्रमण-संस्कृतिका महान् केन्द्र रहा है। वहाँ इस प्रकारके स्मारक बहुतायतमें पाये जाते हैं। डा० वेनीमाधव वडुआने मुझे ऐसे कई स्मारकोंके चित्र भी (१९४७ ई०) में बताये थे।

उनमें कुछ तो ऐसे भी थे, जहाँ आज भी मेले व यात्राएँ भरती हैं। पर यह अन्वेषण प्रकाशित होनेके पूर्व ही डा० बडुआ संसारसे चल बसे। मुझे एक अंग्रेजी निबन्ध आपने प्रकाशनार्थ दिया था, पर कलकत्ता विश्व-विद्यालयके एक प्रोफेसरने मुझसे, अवलोकनके बहाने हड़प ही लिया।

अन्वेषकोंने, जैन-बौद्धका मौलिक भेद न समझ सकनेके कारण बहुत-से जैन-स्तूपोंकी गणना बौद्ध-स्तूपोंमें कर डाली। आज भी ऐसे प्रयास होते देखे जाते हैं।

पुरातन जैन-साहित्यमें उल्लेख आता है कि वहाँ पर धर्मचक्रभूमिके स्थानपर 'सम्प्रति'ने एक स्तूप बनवाया था। मथुराके कुषाण कालीन जैन-स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं। राजावलीकथासे प्रमाणित है कि कोटिकापुरमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामीका स्तूप था। इनके तीसरे पट्टपर आर्य स्थूलभद्र हुए, इनका स्तूप पाटलिपुत्र (पटना) में है। परन्तु आश्चर्य है कि जैन-पुरातत्त्वज्ञोंका ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया, जब कि पुरातन यात्रियोंने इसका उल्लेख अपने यात्रा वर्णनमें किया है।

श्रीस्थूलभद्रजीका स्मारक

आचार्य श्री स्थूलभद्रजी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आप आचार्य भद्रबाहु स्वामीके पास, नेपालमें 'वाचना' ग्रहणार्थ गये थे। वे पटनाके ही निवासी थे। इनका स्वर्गवास भी पटनामें ही वीर नि० संवत् २१९ और ईस्वी पूर्व ३११ में हुआ था।

दाह-स्थानपर शिष्यों द्वारा स्तूप भी बनवाया गया था। यह स्तूप आज भी गुलज़ारबाग़ स्टेशनके पिछले भागमें है। जहाँपर इस स्तूपका निर्माण किया गया है, वह भूमि कुछ ऊपरको उठी हुई है। इस स्थानको वहाँके लोग कमलदह कहते हैं। वस्तुतः इसका मूल नाम कमलद्रह जान पड़ता है। पटनामें यही एक ऐसा जलाशय है, जिसमें कमल उत्पन्न होते हैं। मिथिलाके सुप्रसिद्ध कवि विद्यापतिको यह स्थान अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने अपने साहित्यमें भी इसका उल्लेख किया है, ऐसा कहा जाता है। आज भी सरोवरका अवशेष जो बच गया है, उसमें भी कमल होते हैं। पुरातन पाटलिपुत्रकी स्मृतिको सुरक्षित रखनेवाले अगमकुआँ व पुरातन खुदाईमें निकले खण्डहर समीप ही पड़ते हैं। भगवान् बुद्धके पाटलिपुत्र आवागमनपर उनके तात्कालिक निवास-स्थानके विषयमें जो उल्लेख आता है, उसमें आम्रवनकी चर्चा है, जहाँ मगध निवासियोंने बुद्धदेवका चरण-स्पर्शोंके द्वारा स्वागत किया था। यह सब लिखनेका एक मात्र कारण यह है कि स्थूलभद्रकी समाधि इन सब स्थानोंके इतनी समीप पड़ती है कि उन दिनों यह स्थान नगरका अन्तिम भाग था।

सांस्कृतिक दृष्टिसे इस समाधि-स्थानका विशेष महत्त्व है। जैनोंके उभय सम्प्रदाय मान्य स्मारकोंमें इसकी गणना होती है। अब हमें देखना यह है कि स्तूपका प्राचीनत्व हमें किस शताब्दी तक ले जाता है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूआन्-चुआङ् ने जिसे विद्वानोंने यात्रियोंका राजा कहा है, अपने यात्रा-विवरणमें स्थूलभद्रके उपर्युक्त स्मारकका उल्लेख किया है। उसने इस स्थानको पाखण्डियोंका स्थान कहा है, जो स्वाभाविक है; क्योंकि उन दिनों धार्मिक असहिष्णुता बढ़ी हुई थी। 'निवास-स्थान'से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय यह स्थान आजकी अपेक्षा बहुत ही विस्तृत रहा होगा, एवं जैन मुनि-गणके लिए निवासकी भी समुचित व्यवस्था रही होगी; क्योंकि ४० वर्ष पूर्व यह समाधि-स्थान कई एकड़ भूमिको सम्बद्ध किये हुए था, पर जैनोंकी उदासीनताके कारण आज कुछ

एकड़ोंमें यह सीमित हो गया है। चीनी यात्रीका यह उल्लेख इस बातको सिद्ध करता है, न केवल उन दिनों पाटलिपुत्रमें जैनोंकी प्रचुरता ही थी, अपितु सार्वजनिक दृष्टिसे इस स्तूपका महत्त्व पर्याप्त था। होना भी चाहिए। कारण कि स्थूलभद्र न केवल नन्दराजके प्रधान मंत्रीके पुत्र ही थे, अपितु मगधकी सांस्कृतिक लोकचेतनाके अन्यतम प्रतीक भी। जिस टीलेपर स्थूलभद्रकी समाधि बनी हुई है उसके एक भागका आजसे कुछ वर्ष पूर्व खनन हुआ था, तब तेरह हाथसे भी अधिक लम्बा मानव-अस्थि-पिंजर निकला था। संभव है और भी ऐतिहासिक वस्तु निकली होंगी। गुप्त पूर्वकालीन ईंटें तो आज भी पर्याप्त मात्रामें निकलती हैं। उन्हींपर तो यह स्थान टिका हुआ है। यूआन चुआंङ्के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी तक किसी भी व्यक्तिने इस स्थानका उल्लेख किया हो, ज्ञात नहीं। सत्रहवीं शतीके बाद जिन जैन-यात्री व मुनियोंका आवागमन इस प्रान्तमें होता रहा, उनमेंसे कुछेक मुनियोंने अपनी यात्राको ऐतिहासिक दृष्टिसे पद्योंमें लिपिबद्ध किया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस प्रकारके वर्णनात्मक उल्लेखों का महत्त्व है। विजय[1] सागर, जय[2] विजय और सौभाग्य[3] विजय ने अपनी तीर्थ मालाओंमें स्थूलभद्र-स्तूपका उल्लेख किया है।

स्थूलभद्रके स्थानके निकट ही सुदर्शनश्रेष्ठि[4]की समाधि भी

---

[1] प्रा० तीर्थ-माला, पृष्ठ ५।

[2] प्रा० तीर्थ-माला, पृष्ठ २२।

[3] प्रा० तीर्थमाला, पृष्ठ ८०।

[4] अस्या सम्यग्दशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठी दधिवाहनभूपस्य राज्ञ्याऽभयाख्यया सम्भोगार्थमुपसर्ग्यमाणः। क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीयनिष्कम्पशीलसम्पत्प्रभावाकृष्टशासनदेवता सान्निध्यात् शूलां हेमसिंहासनतामनैषीत; तरिवारिं च निशितं सुरभिसुमनोदाम भूय मनोदामनयत्॥१०॥
विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६५-६६।

बनी हुई है, इसका उल्लेख चीनी-यात्रीने नहीं किया, पर व्यापक उल्लेख में इसका अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। सुदर्शनका सौन्दर्य अनुपम था। दधिवाहन राजाकी रानी अभयाकी इच्छापूर्ति न कर सकनेके कारण इनको कुछ समतक लौकिक कष्ट सहन करना पड़ा, बादमें मुनि हो गये। प्रतिशोधकी भावनासे उत्प्रेरित होकर अभयाने, जो मरकर व्यंतरी हुई थी, मुनिपर उपसर्ग[1] किये। समभावके कारण सुदर्शनको केवलज्ञान हो गया। यह घटना पाटलिपुत्रमें घटी। प्रथम घटनाका सम्बन्ध चम्पासे है। द्वितीय घटनाके स्मृतिस्वरूप, पटनामें एक छतरी व चरण विद्यमान हैं।

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब मगध व तिरहुत देशमें श्रमण संस्कृतिका प्राबल्य था, जैसा कि स्मिथ[2] साहबके वक्तव्यसे सिद्ध है "एक उदाहरण लीजिए—जैन-धर्मके अनुयायी पटनाके उत्तर वैशालीमें और पूर्व बंगालमें आजकल बहुत कम हैं; परन्तु ईसाकी सातवीं सदीमें इन स्थानोंमें उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी।" उन दिनों अपने आदरणीय महामुनियोंके और भी स्मारक अवश्य ही बनवाये होंगे, परन्तु या तो वे कालके द्वारा कवलित हो गये या बहुसंख्यक अवशेषोंको हम स्वयं भूल गये। स्मिथने एक स्थानपर ठीक ही लिखा है कि "उसने (श्यूआंन् च्युआङ्) ईसाकी सातवीं सदीमें यात्रा की थी और बहुतसे जैन स्मारकों-का हाल लिखा, जिनको लोग अब भूल[3] गये।" आगे डाक्टर विन्सेण्ट ए० स्मिथ लिखते हैं कि पुरातत्त्व गवेषियोंने जैन-धर्म व संस्कृतिका समुचित ज्ञान न होनेके कारण, उच्चतम जैनाश्रित कलाकृतियोंको बौद्ध घोषित कर दीं।

---

[1] तत्रैव सुदर्शन श्रेष्ठि महर्षिरभया राज्ञ्या व्यन्तरीभूतया भूयस्तर-मुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत्। विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६९।

[2] वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३३।

[3] वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३४।

श्रवणबेलगोलाके जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरणसे संबंध रखनेवाले, मुनि आर्यिकाओं व श्रावक-श्राविकाओंके लेखयुक्त कई स्मारक हैं। जिनमें सर्व प्राचीन समाधि-मरणका लेख शक संवत् ५७२का है।

कण्ह मुनिकी मूर्ति मथुरामें पाई गयी है[1]।

दशम शताब्दीके पूर्वके स्मारकोंकी संख्यामें अधिकतर चौतरे व चरणोंका ही समावेश होता है; धारवाड़ ज़िलेसे प्राप्त शिलालिपियोंसे ज्ञात होता है कि, उस ओर भी अर्हतोंकी 'निषिदिकाएँ' बनती थीं। दक्षिण भारतका, जैन दृष्टिसे अद्यावधि समुचित अध्ययन नहीं हुआ। यदाकदा जो सामग्री प्रकाशमें आ जाती है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ मुनियोंके स्मारक पर्याप्त रूपमें पाये जाते हैं। इनपर खुदे हुए लेख भी पाये जाते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दीके बाद तो आचार्य व मुनियोंकी स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ बनने लगी थीं। उपर्युक्त पंक्ति सूचक कालके बाद जिन जैनाश्रित मूर्ति कला विषयक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ, उनमें आचार्य-मूर्ति निर्माण करके किंचित् प्रकाश डाला गया है। किन्तु पुरातन स्तूप प्रथाका सर्वथा लोप नहीं हुआ था। चौदहवीं सदीके आचार-दिनकरमें आचार्य-मूर्त्ति प्रतिष्ठा विधान स्वतंत्र उल्लिखित है, चौदहवीं सदीके सुप्रसिद्ध विद्वान् ठक्कुर फेरूने ज्योतिषसार नामक ग्रन्थमें आचार्य-प्रतिष्ठाका मुहूर्त भी अलगसे दिया है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दीके बाद गुरु-मूत्तियोंका निर्माण ज़ोरोंपर था। प्राकृत भाषाके धुरंधर कवि व शास्त्र विख्याता परम तपस्वी श्री जिनवल्लभसूरि, अपभ्रंश साहित्यके मर्मज्ञ तथा सुप्रसिद्ध कवि श्री जिनदत्तसूरि, संस्कृत साहित्यकी सभी

---

[1] दि जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज़ आफ मथुरा प्लेट XVII.

शास्त्रोंके पारगामी विद्वान् व अनेक ग्रन्थ रचयिता आचार्य हेमचन्द्रसूरि[१], कुशल कवि श्रीदेवचन्द्रसूरि[२] और पृथ्वीराज चौहानकी राज-सभाके विद्वत् मुकुटमणि श्रीजिनपतिसूरि[३], सुप्रसिद्ध दार्शनिक अमरचन्द्रसूरि[४], श्रीजिनप्रबोधसूरि,[५] संगीत-विशारद श्रीजिनकुशलसूरि,[६] मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक व जैन स्तुति स्तोत्र साहित्यमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाले श्रीजिनप्रभसूरि, अकब्बर प्रतिबोधकर युगप्रधान श्री-जिनचन्द्रसूरि,[७] श्रीहीरविजयसूरि तथा श्रीविजयदेवसूरि[८] आदि अनेक जैनाचार्योंकी स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। प्राचीन शिल्प विषयक

---

[१]आचार्य हेमचन्द्रसूरिकी मूर्त्ति प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, शत्रुंजय तीर्थपर इनकी छत्री बड़ी प्रसिद्ध है।

[२]ये चापोत्कट वंशीय वनराजके गुरु शीलगुणसूरिके पट्ट शिष्य थे। पंचासरा पार्श्वनाथ (पाटन, उत्तर गुजरात) के मन्दिरमें इनकी मूर्त्ति विद्यमान है।

[३]इनका स्वर्गवास विक्रम संवत् १२७७ आषाढ़ सुदी १०के दिन पालनपुर (गुजरात) में हुआ था। तदनन्तर १२८० वैशाखसुदी १४के दिन पालनपुरमें इनकी मूर्त्ति जिनहितोपाध्याय द्वारा स्थापित हुई थी। दाह-संस्कार स्थानपर श्रीसंघ द्वारा स्तूपका निर्माण हुआ था।

[४]इनकी प्रतिमा पाटनमें टाँगड़िया वाड़ाके जैन-मन्दिरमें विद्यमान है, जिसपर इस प्रकार लेख खुदा है—

संवत् १३४६ चैत्र वदी ६ शनौ श्री वायटीय गच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पंडित श्री अमरचन्द्रसूरिः पं० महेन्द्र शिष्य मदन चन्द्राख्याख्येन कारता शिवमस्तु।

[५]पाटनमें इनकी प्रतिमा विद्यमान है।

[६]इनकी प्रतिमा शत्रुंजय तीर्थपर चौमुखजीकी टोंकमें प्रतिष्ठित है।

[७]इनकी प्रतिमाएँ राजस्थानमें प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

[८]इनकी मूर्त्ति गौडीपार्श्वनाथ मंदिर बम्बईमें तीसरे मंजलेपर सुरक्षित है।

पुरातन जितनी भी गुरु-मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, वे सब बारहवीं शतीके बादकी ही हैं। जिनकी प्रतिमाएँ बनी हैं, वे आचार्य भी अधिकतर इस समय बादके ही हैं। गुरु-मूर्त्तियोंका शास्त्रीयरूप निर्धारित न होनेके कारण उनके निर्माणमें एकरूपता नहीं रह सकी है।

उपलब्ध आचार्य प्रतिमाओंमें आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि और श्रीजिन-कुशलसूरि ही ऐसा महापुरुष हुए हैं, जिनकी मूर्त्ति या चरण सम्पूर्ण भारतमें प्रायः पाये जाते हैं। मध्यकालीन जैनसमाज इनके द्वारा उपकृत हुआ है। श्वेताम्बर जैन-परम्परामें इन दोनोंका स्थान अनुपम है।

आचार्य-मूर्त्ति-निर्माण पद्धतिका विकास न केवल, श्वेताम्बर परम्परा-में ही हुआ अपितु दिगम्बर परम्परा भी इससे अछूती नहीं है। प्रतिष्ठा-पाठके निम्न उल्लेखसे फलित होता है—

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमर्पादशाम्।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम् ॥७०॥

कारकलके जैन-स्मारकोंका परिचय देते हुए, कुन्थुनाथ तीर्थंकरके बगलकी निषदिकामें स्थित कतिपय मूर्त्तियोंका परिचय, श्री पंडित के० भुजबली शास्त्रीके शब्दोंमें इस प्रकार है—"१, कुमुदचन्द्र भ० २, हेमचन्द्र भ० ३, चारुकीर्ति पंडित देव ४, श्रुतमुनि ५, धर्मभूषण भ० ६, पूज्यपाद स्वामी। नीचेकी पंक्तिमें क्रमशः १, विमलसूरि भ० २, श्रीकीर्ति भ० ३, सिद्धान्तदेव ४, चारुकीर्त्तिदेव ५, महाकीर्त्ति ६, महेन्द्र-कीर्त्ति। इस प्रकार उक्त इन व्यक्तियोंकी मूर्त्तियाँ छह-छहके हिसाबसे तीन-तीन युगल रूपमें बारह मूर्त्तियाँ खुदी हैं।"[1]

गृहस्थ-मूर्तियाँ—

राजाओंकी जितनी भी प्राचीन मूर्तियाँ भारतमें उपलब्ध हुई हैं उनमें सर्वप्राचीन अजातशत्रु और नन्दिवर्धनकी हैं। वे दोनों जैनधर्मके

---

[1] वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५२,

उपासक थे। इतिहासमें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दिवर्धनने जब कलिंगको हस्तगत किया, तब वहाँसे एक जैनमूर्ति उठा लाया था। इसीसे इनके जैनत्वका पता चल जाता है। यों तो जैनमूर्तिके परिकरमें यक्ष-यक्षिणीके निम्न भागमें गृहस्थ युगलकी कृति दृष्टिगत होती है, पर वस्तुपाल, तेजपाल, सपर्वाक, वनराज[1] चावड़ा, मोतीशाह[2] आदि कई गृहस्थोंकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी हाथ जोड़े मन्दिरमें स्थापित की गई हैं। आबू पर्वतपर तो मंत्रीश्वर विमलके पूर्वजोंकी मूर्तियाँ भी अंकित हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी पूजा हो, पर भक्तिकी मुद्रामें वे खड़े रहें, यही उद्देश्य था।[3]

उपर्युक्त पंक्तियोंमें प्राप्त सभी प्रकारकी मूर्तियोंका उल्लेख कर दिया गया है। संभव है कुछ रह भी गया हो। तीर्थंकर मूर्तियाँ, उनका परिकर, यक्ष-यक्षिणियोंके बिम्ब, न केवल धार्मिक दृष्टिसे ही महत्त्वके हैं, अपितु भारतीय मूर्तिकलाके क्रमिक विकासके अध्ययनकी मूल्यवान् सामग्री भी हैं। सामाजिक रहन सहन और आर्थिक विकास भी उनमें परिलक्षित होता है। सौंदर्यके प्रकाशमें देखें तो अवाक् रह जाना पड़ेगा। शिल्पाचार्योंने अपने श्रमसे जो कलाकृतियाँ भेंट की हैं, उनमें आनन्द देनेकी अनुपम क्षमता है। उनसे आत्माको शान्ति मिलती है।

२—गुफाएँ

जैन-गुफाएँ पर्याप्त परिमाणमें उपलब्ध होती हैं। आध्यात्मिक साधनाके उन्नत शिखरपर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएँ वहाँ पर निवास कर, दर्शनार्थ आकर अनुपम शान्तिका अनुभव कर आत्मतत्त्वके रहस्य

---

[1] भारतनां जैनतीर्थों अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य प्लेट ४६,
[2] भारतनां जैनतीर्थों अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य प्लेट ५०
[3] उपर्युक्त ग्रन्थमें ऐसी कई प्रतिकृतियाँ हैं।

तक पहुँचनेका शुभ प्रयास करती थीं। प्राकृतिक वायुमंडल भी पूर्णतः तदनुकूल था। प्रकृतिकी गोदमें स्वस्थ सौंदर्यका बोध ऐसे ही स्थानोंमें हो सकता है। वहाँकी संस्कृति, प्रकृति और कलाका त्रिवेणी संगम मानव को आनन्द विभोर कर देता है। स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियोंको स्थिर कर निश्चित मार्गकी ओर जानेको इंगित करती हैं। इसमें उकेरी हुई सुन्दर कलापूर्ण जिनप्रतिमाएँ दर्शनार्थीको आकृष्ट कर लेती हैं। राग, द्वेष, मद, प्रमाद एवं आत्मिक प्रवंचनाओंसे बचनेके लिए, शून्य ध्यानमें विरत होनेमें जैसी सहायता यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र कहाँ? सत्यकी गहन साधनाके लिए एकान्त स्थान नितान्त अपेक्षित है। कुछ गुफाएँ तो ऐसी हैं, जहाँसे हटनेको मन नहीं होता। जिनमूर्ति एवं तदंगीभूत समस्त उपकरणोंसे सुसज्जित रूपशिल्प कलाकारकी दीर्घकालव्यापी साधनाका सुपरिचय देती है। दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासिन्य भावोंकी प्रेरणात्मक जागृतिको उद्‌बुद्ध करानेवाले तत्त्वोंका समीकरण इन भास्कर्य सम्पन्न कृतियोंकी एक-एक रेखामें परिलक्षित होता है। उचित मात्रामें सौंदर्य बोधके लिए आध्यात्मिक श्रम अपेक्षित है। आत्मस्थ सौंदर्य दर्शनार्थ जीवनको साधनामय बनाना ही श्रमणसंस्कृतिका लक्ष्य है।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाके विदेशी अन्वेषकोंमें फर्गुसनका नाम सबसे पहले आता है। उन्होंने जैन-स्थापत्यपर भी प्रकाश डाला है, परन्तु जैन और बौद्ध-भेदको न समझनेके कारण कई भूलें भी कर दी हैं, जिनका परिमार्जन वांछनीय है। उदाहरणार्थ राजगृहको ही लें। वहाँपर सोन-भंडारमें जैनमूर्तियाँ और धर्मचक्र उत्कीर्णित हैं। इनको और भी कई विद्वान् बौद्धकृति मानते हैं, वस्तुतः यह मान्यता भ्रामक है, क्योंकि वहाँपर स्पष्टतः इन पंक्तियोंमें लेख खुदा हुआ है—

१ निर्व्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभे गृहेर्हत्प्र [ति] मा प्रतिष्ठते [।]
२ आचार्य रत्नं मुनिवैरदेवः विमुक्तये कारय दीर्घ (?) तेज (:॥)

जैन-साहित्यके कई उल्लेखोंसे इनका जैनत्व सिद्ध है। प्राचीन

गुर्वावली एवं तीर्थमालाओंमें भी इसकी चर्चा आई है। जैन किंवदन्ती इसका सम्बन्ध श्रेणिक और चेलणासे जोड़ती है, यह ठीक नहीं है।

फर्गुसनने एक स्थानपर लिखा है कि—"जैन कभी गुहा निर्माता रहे ही नहीं।" आगे फिर लिखा है—"जैनोंके गुहामंदिर उतने प्राचीन नहीं हैं, जितने अन्य दोनों सम्प्रदायोंके। शायद उनमेंसे एक भी ६वीं शतीसे पूर्वका नहीं।" यह कथन सर्वथा भ्रामक है। स्पष्ट रूपसे कहा जाय तो अति प्राचीन जितनी भी गुफाएँ उपलब्ध हैं, उनमेंसे बहुतोंका निर्माण जैनों द्वारा ही हुआ है।

सर्वप्राचीन गुफा गिरनार बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियोंमें है। इनमेंसे दोका श्रेय और लिग्वत्व मौर्य-कालकी सूचना देता है। दो आजीवक सम्प्रदायसे सम्बन्धित हैं, जो जैनोंका एक उपसम्प्रदाय था। अशोकके पुत्र दशरथने इन्हें दान किया था। उदयगिरि-खंडगिरिकी जैन गुफाएँ विश्वविख्यात हैं। ग्वालियर स्टेटके अन्तर्गत उदयगिरि (भेलसा) में गुप्त कालीन जैन-गुहा-मंदिर है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथकी भव्य प्रतिमा थी। अब तो केवल सर्पफन शेष है। वहाँ एक जैन-लेख भी इसप्रकार पाया गया है—

१ नमः सिद्धेभ्यः (॥)
श्री संयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमाना—

२ राज्ये कुलस्याधिविवर्धमाने षड्भिर्युतैः वर्षशतेथ मासे (॥)
सुकार्तिके बहुलदिनेथ पंचमे

३ गुहामुखे स्फटविकतोत्कटामिमां [।] जितोद्विषो जिनवर
पार्श्वसंज्ञिका जिनाकृतिं शमदमवान

४ चींकरत् [॥]
आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलोद्गतस्य [।]
आचार्य गोश

५ स्मंसुनेस्तुसुतस्तु पद्मावतावश्वपतेभ्भटस्य [॥] परैरजेयस्य रिपुघ्नमानिनस्य संघिल

६ स्येत्यभिविश्रुतो भुवि [।] स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्ग्गमास्थितः [॥]

७ स उत्तराणां सदृशे कुरुणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः [।] क्षयाय कर्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद पाससर्ज्ज [॥।][1]

यह लेख गुप्तसंवत् १०६का है। उस समय कुमारगुप्त प्रथमका शासन था।

जोगीमारा

मध्यप्रदेशके अन्तर्गत सरगुजा राज्यमें लक्ष्मणपुरसे बारहवें मीलपर रामगिरि-रामगढ़ पर्वत है। इसपर जोगीमारा गुफा उत्कीर्णित है। प्राचीन शैलचित्रोंमें इस गुफाके चित्रोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म और कला— उभयदृष्ट्या इसका स्थान अनुपम है। इनमें कुछ चित्रोंका विषय जैन है। अतः यह भी कभी जैन-गुफा रही होगी। यहाँसे ई० पू० तीसरी शतीका एक लेख भी प्राप्त हुआ है। डा० ब्लाखने इसका यही समय निश्चित किया है।

ढंकगिरि

जैन-साहित्यमें इसका उल्लेख कई स्थानोंपर आया है। यह शत्रुंजय-का एक उपपर्वत गिना जाता है। वर्त्तमानमें इसकी स्थिति वल्लभीपुरके निकट है। सातवाहनके गुरु और पादलिप्तसूरिके शिष्य सिद्धनागार्जुन यहींके निवासी थे। जैसा कि निम्न उल्लेखसे ज्ञात होता है—

---

[1] डा० फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रप्सन इंडिकेरम, भा० ३,

"ढंकपव्वए रायसीहरायदत्तस्स भोपलनामिअं
धूअं रूपलावण्णा सम्पन्नं दठ्ठूणं जायाणुरायस्स
तं सेवमाणस्स वासुगिणो पुत्तो नागज्जुणो नाम जाओ"[१]

प्रबन्धकोश और पिंडविशुद्धिकी टीकाओंमें उपर्युक्त पंक्तियोंका समर्थन किया गया है। स्वर्णसिद्धिके लिए नागार्जुनने बड़ा श्रम किया था। कहना चाहिए यही उनके लिए प्राणघातिनी साबित हुई। ढंक पर्वतकी गुफामें इसने रसकूपिका रखी थी, जैसा कि इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

"नागार्जुनेन द्वौ कुपितौ भृतौ ढंकपर्वतस्य गुहायां क्षिप्तौ"[२]

जिस गुफाका ऊपर उल्लेख किया है, वह जैन-गुफा है। यद्यपि डा० बर्जेसने इसकी गवेषणा की थी पर जैन प्रमाणित करनेका श्रेय मेरे मित्र डा० हँसमुखलाल धीरजलाल सांकलियाको है। आपने गुफामें भगवान् पार्श्वनाथकी एक खड़ी प्रतिमा देखी, अम्बिकाकी आकृति भी। डा० सांकलियाने इस प्रतिमाका समय ईस्वी सन् तीसरी शती स्थिर किया है[३]। इसी कालके कुछ शिल्प श्री साराभाई नवाबने भी सौराष्ट्रमें देखे थे[४]।

चन्द्रगुफा

बावा प्यारेके मठका उल्लेख ऊपर एक बार आ चुका है। वहाँकी गुफाओंका अध्ययन बर्जेसने किया है। उनको इन गुफाओंमें ईस्वी पूर्व प्रथम और द्वितीय शतीके चिह्न मिले हैं। इनमें स्वस्तिक, नंद्यावर्त, मत्स्य-युगल, भद्रासन तथा कुम्भकलश भी सम्मिलित हैं। ये अष्टमंगलसे सम्बद्ध हैं। मथुराकी जैनाश्रितकृतियोंमें भी इनकी उपलब्धि हो चुकी है।

---

[१] विविधतीर्थकल्प, पृ० १०४,
[२] पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ० ६२,
[३] श्रीजैनसत्यप्रकाश, व० ४ अं० १—२,
[४] भारतीय विद्या, भा० १, अंक २,

क्षत्रप कालीन एक मूल्यवान् लेख भी प्राप्त हुआ है, जो तात्कालिक जैन-इतिहासकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। गुफा चन्द्राकार होनेसे ही इसे चन्द्रगुफा कहते हैं। दिगम्बर जैन-साहित्यको व्यवस्थित करनेवाले श्रीधरसेनाचार्यने इसीमें निवास किया था। पुष्पदन्त और भूतवलिका अध्ययन इसी गुफामें हुआ था, परन्तु इस पूज्य स्थानकी ओर जैनसमाजका ध्यान नहिंवत् है।

ढंकगिरि और चन्द्रगुफासे इतना तो निश्चित है कि उन दिनों सौराष्ट्रमें जैन-संस्कृतिका अच्छा प्रभाव था और गुफा-निर्माण विषयक परम्परा भी थी।

वादामी

ईस्वी सन्‌की दूसरी शतीमें यह स्थान पर्याप्त ख्याति पा चुका था, कारण कि सुप्रसिद्ध लेखक टालेमीने इसका उल्लेख किया है। प्रथम यहाँपर पल्लवोंका दुर्ग था। चौलुक्य पुलकेशी प्रथमने इसे हस्तगत किया। तदनन्तर पश्चिमी चौलुक्य (ई० स० ७६०) और राष्ट्रकूटों (ईस्वी सन्—७६०-९७३) का आधिपत्य रहा। बाद कलचुरि एवं होयसलवंशने सन् ११९० तक राज्य किया। तबसे देवगिरिके यादवोंकी सत्ता १३वीं शती तक रही।

---

(१) ······स्तथा सुरगण [।] [च्चत्रा] णां प्रथ [म]···

(२) चाष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्ष [त्रप]स्य स्वामिजयदामपे [ौ] त्रस्य राज्ञो म [हा]·········

(३) [चै] त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमे इ [ह] गिरिनगरे देवासुरनागय [क्ष] राक्षसे·········

(४)···थ···[पु] रमिव······केवलि [ज्ञा] न स······नां जरमरण [।]·····

एपीग्राफिया इंडिका भाग १६, पृ० २३९,

यहाँपर तीन ब्राह्मण गुफाओंके साथ पूर्वकी ओर एक जैन-गुफा भी है। निर्माण-काल ६५० ईस्वी होना चाहिए। कारण कि पूर्व निर्मित गुफाओंसे अपेक्षतः आंशिक पार्थक्य है। इसकी पड़शाला ३१ × १६ फुट है। गुफा १६ फुट गहरी है। इसके स्तम्भ एलीफैंटाके समान हैं। भगवान्‌की मूर्ति पद्मासनमें है। बरामदेमें चार नाग, गौतमस्वामी तथा पार्श्वनाथ स्वामीकी मूर्ति है। दीवाल एवं स्तम्भोंपर भी तीर्थंकर-आकृति[1] है। पूर्वाभिमुख द्वारके पास भगवान् महावीरकी पल्यंकासनस्थ प्रतिमा है।

श्रमणहिल[2]

मदुरा तामिलका महत्त्वपूर्ण नगर रहा है। राजनैतिक और साहित्यिक-उभय दृष्टिसे इसका स्थान ऊँचा था। यहाँपर साहित्यिकोंकी परिषद् हुआ करती थी। यहाँपर भी जैनसंस्कृतिकी गौरव-गरिमामें अभिवृद्धि करनेवाली कलात्मक सामग्री प्रचुर परिमाणमें विद्यमान है। श्रीयुत डी० एस० श्रीपाल नामक एक सज्जनने अभी-अभी वहाँसे ७ मीलकी दूरीपर पहाड़ियोंमें खुदी हुई जैन-प्रतिमाएँ एवं दशवीं शतीके लेखोंका पता लगाया है[3]। समरनाथ और अमरनाथ पहाड़ियोंमें उन्हें आकस्मिक जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और वहाँ जैनप्रतिमाएँ मिलीं। ज्यों-ज्यों आगे जाते गये, त्यों-त्यों सफल होते गये। एक गुफा भी इन पहाड़ियोंमें मिली, जिसमें जैन तीर्थंकरकी मूर्तियाँ खचित हैं, यक्षोंकी आकृतियोंके साथ कुछ ऐसे भी चिह्न मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वहाँपर श्रमणोंका वास था। मेरे मित्र डाक्टर बहादुरचन्द छावड़ा (भारत सरकारके प्रधान लिपिवाचक-चीफ एपिग्राफिस्ट) ने तो इस स्थानको जैनसंस्कृतिका केन्द्र बताया है।

---

[1] आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, भा० ५, पृ० २५।

[2] यहाँ श्रमणोंकी समाधियाँ भी पर्याप्त है।

[3] "हिन्दू" (मद्रास) १५-७-१९४९।

भारत सरकारकी नीतिपर हमें आश्चर्य होता है कि आज भी वह इन अवशेषोंकी रक्षाकी ओर समुचित ध्यान नहीं दे रही है। यदि श्रीपाल महाशयकी मोटरका एञ्जिन खराब न होता तो शायद अभीतक वे मूर्तियाँ गिट्टी बनकर सड़कपर बिछ गई होतीं। सम्भव है दक्षिण भारतकी ओर और भी ऐसी गुफाएँ मिलें।

इलोरा

पश्चिमी गुफा मंदिरोंमें एलागिरि—इलोराका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत भाषाके साहित्यमें इसका नाम 'एलउर' मिलता है। धर्मोपदेशमालाके विवरण (रचनाकाल सं० ६१५) समयज्ञ मुनिकी एक कथा आई है, कि वे भृगुकच्छ नगरसे चलकर 'एलउर' नगर आये और दिगम्बर वसहीमें ठहरे,[1] इससे जान पड़ता है, उन दिनों एलउरकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। दिगम्बर वस्तीसे गुफाका तो तात्पर्य नहीं है ? यहाँके गुफा-मन्दिर भारतीय शिल्पकी अमर कृतियाँ हैं। इनके दर्शन जीवनकी अमूल्य घड़ी है। कोई भी शिल्पी, चित्रकार, इतिहासज्ञ या धर्मके प्रति अनुराग रखनेवालेके लिए प्रेरणात्मक सामग्री विद्यमान है। सौन्दर्यका तो वह तीर्थ ही है। भारतीय संस्कृतिकी तीनों धाराओंका यह संगम स्थान है। तीससे चौंतीस गुफाएँ जैनोंकी हैं। इनकी कला पूर्णतया विकसित है। जैनाश्रित चित्रकलाकी रेखाएँ यहींसे प्रतिस्फुटित हुई हैं। फर्गुसनको स्वीकार करना पड़ा है कि "कुछ भी हो, जिन शिल्पियोंने एलोराकी दो सभाओं (इन्द्र और जगन्नाथ) का सृजन किया, वे सचमुच उनमें स्थान पाने योग्य हैं, जिन्होंने अपने देवताओंके सम्मानमें निर्जीव

---

[1] "तओ नंदणाहिहाणो साहू कारणान्तरेण पट्ठविओ गुरुणा दक्खिणा-वहं। एगागी वच्चं तो य पओसे पत्तो एलउरं"

—धर्मोपदेशमाला, पृ० १६१

(सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला)

पाषाणको अमर-मन्दिर बना दिया।" इन गुफाओंका संशोधन निज़ाम स्टेटकी ओरसे हुआ है।

छोटेकैलाशकी गुफाएँ दक्षिण-पूर्वमें हैं। इनका सृजन कैलाशसे टक्कर ले सकता है। एक परम्पराके शिल्पी दूसरी परम्पराका अनुकरण किस कुशलतासे करते हैं, उसका यह ज्वलन्त दृष्टान्त है। यहाँके मंदिरमें द्राविड़ियन शैलीका प्रभाव है। यद्यपि मंदिरका शिखर नीचा है, परन्तु कार्य अपूर्ण प्रतीत होता है। कारण अज्ञात है। नवम शतीमें राष्ट्रकूटोंके विनाशके बाद द्राविड़-शैलीका प्रभाव उत्तर भारतमें नहीं मिलता।

'इन्द्र-सभा भी सामूहिक जैन-गुफाओंका नाम है। दो-दो मंज़िलवाली दो गुफाएँ और उपमंदिर भी सम्मिलित हैं। दक्षिणकी ओरसे इसमें प्रवेश कर सकते हैं। बाहरके पूर्व भागमें एक मंदिर है। उसके अग्र एवं पृष्ठ भागमें दो स्तंभ हैं। उत्तरकी ओर गुफाकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथके जीवनकी कमठवाली घटना उत्कीर्णित है। परिकर इतना सुन्दर बन पड़ा है कि देखते ही बनता है। भगवान् महावीर और मातंग-यक्ष तथा अंबिका यक्षिणीका रूप भी विद्यमान है, और भी जैनाश्रित कलाकी विपुल सामग्री है। जगन्नाथसभा प्रेक्षणीय है। विशेष ज्ञातव्यके लिए जैन सत्य प्रकाश वर्ष ७ अंक ७ तथा एलोरानां गुफा मंदिरों एवं आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया आदि साहित्य देखें।

एलोराकी प्रसिद्धि सत्रहवीं शतीमें भी खूब थी, जब कि आवागमनके साधनोंका प्रायः अभाव था। कविराज मेघविजयजीने औरंगाबादमें चातुर्मास बिताया था। उस समय अपने गुरुजीको एक समस्या-पूर्तिमय विज्ञप्ति पत्र भेजा था, उसमें इलोराका वर्णन इन शब्दोंमें है—

> इत्येवस्मान्नगरयुगलाद् वीक्ष्य केलिस्थलं त्वम्,
> इलोराद्रौ स्पृश जिनमद् पार्श्वमीशं त्रिलोक्याः

भ्रातः ! प्रातर्व्रज जनपदस्त्रीजनैः पीयमानो,
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥
त्वामुद्यान्तं नभसि सहसाऽवेक्ष्य कान्ता वियुक्ता
श्वासन्यासं दधति सरसां पार्श्वमस्माज्जहीहि
रात्रौ म्लाना इह कमलिनीर्मोटितुं भानुमाली,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥
मार्गे यान्तं बहुलसलिलैर्दाववह्निप्रशान्ते-
र्गोत्रैः क्लृप्तोपकृतिसुकृतं रचितुं त्वां नियुक्ताः ।
नद्यस्तासां प्रचितवयसामर्हसि त्वं न धैर्यान्,
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥
काचित् कान्ता सरिदिह तव प्रेक्ष्य सौभाग्यभंगी-
मंगीकुर्याच्चपलसलिला वर्त्तनाभिप्रकाशम् ।
चक्रोरोजावरुणकिरणाच्छादनात् पीडयास्याः
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥
वर्त्मन्यस्मिन् विविधगिरयस्त्वत्परिस्यन्दमन्दी
भूतोत्तापाः क्षितरुहदलैस्तेऽपनेष्यन्ति खेदम्
पुष्पामोदी करिकुलशतैः पीयमानस्तवातः,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्[1] ॥४६॥

विबुधविमलसूरिजीने इलोराकी यात्रा की थी—

विहार करतां आवीयारे, इलोरा गाम मझार
जिन यात्रा ने कारणे हो लाल ।
खटदरिसण तिहां जाणीएरे, जाए विवेकवन्तरे, मुनीसर
तत्त्वधरी वीर्जावारने हो लाल[2] ॥

[1] विज्ञप्ति लेखसंग्रह, पृ० १००, १०१ सिंघी ग्रन्थमाला ।
[2] जैन ऐतिहासिक, गूर्जर-काव्य-संचय पृ० ३१ ।

सुप्रसिद्ध पर्यटक और जैनमुनि श्रीशीलविजयजी भी अठारहवीं शतीमें यहाँ आये थे। तीर्थमालाके निम्न पद्यसे ज्ञात होता है—

इलोरि अति कौतुक वस्यूं जोतां हीयडुं अति उल्हस्यूं,
विश्वकरमा कीधुं मंडाण त्रिभुवन भाव तणु सहिनाण[1] ॥

उपर्युक्त उल्लेख इस बातके परिचायक हैं कि जैनोंका आकर्षण इलोराकी ओर प्राचीन कालसे ही है।

ऐहोल

बदामी तालुकेमें यह अवस्थित है। आर्यपुरसे इसका रूपान्तर ऐहोल या ऐविल्ल हुआ जान पड़ता है। ईस्वी सातवीं आठवीं शताब्दीमें यहाँपर चौलुक्योंकी राजधानी थी। पूर्व और उत्तरमें यहाँपर गुफाएँ हैं। इसमें सहस्रफणयुक्त पार्श्वनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। यह मूर्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। सापेक्षतः यहाँकी गुफा काफ़ी चौड़ी और लम्बी है। जैन-कलाके अन्य उपकरण भी पर्याप्त हैं।

प्रभु महावीरकी आकृति भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। सिंह, मकर एवं द्वारपालोंका खुदाव, उनका पहनाव एलीफण्टाके समान उच्च शैलीका है। वामन रूपिणी स्त्री तो बड़ी विचित्र-सी लगती है।

यहाँसे पूर्वकी ओर मेगुटी नामक एक जैन-मन्दिर है, उसमेंसे एक विस्तृत शिलोत्कीर्णित लेख प्राप्त हुआ है, जो शक ५५६ (ईस्वी ६३४-६३५) का है। चौलुक्यराज पुलकेशीके समयमें श्रीवरकीर्तिने यहाँकी प्रतिष्ठा की जान पड़ती है।

भामेर

इन पंक्तियोंका लेखक इसे देख चुका है। भामेरका दुर्ग धूलियासे

---

[1] प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ० १२१।

वायव्य कोणसे ३० मील दूर है। एक छोटे-से टीलेमें भूमिगृह है। तीसरी गुफा है। इसका बरामदा ७५ फुट लम्बा है। बाईं ओरका भूमिगृह अपूर्ण ही रह गया जान पड़ता है। पड़सालमें भी तीन द्वार हैं, जिनसे भीतर तीन खंडोंमें प्रवेश किया जाता है। प्रत्येककी लम्बाई चौड़ाई २४×२० है। दीवालोंपर पार्श्वनाथ तथा अन्य जिनोंकी ग्राम्य आकृतियाँ खचित हैं। यहाँका भास्कर्य नयनप्रिय नहीं है। बहुत-सा भाग नष्ट भी हो चुका है[1]।

अंकाई-तंकाई

सन् १९३७में मुझे इन गुफाओंके निरीक्षणका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह स्थान बड़ा विकट और भयप्रद है। येवला तालुकेकी पहाड़ियोंमें इनकी अवस्थिति है। इनकी ऊँचाई ३१८२ फुट है। सुदृढ़ दुर्ग भी है। यहाँका प्राकृतिक सौंदर्य प्रेक्षणीय है। अंकाईमें जैनोंकी सात गुफाएँ हैं। ये छोटी होते हुए भी शिल्पकलापेक्षया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दुर्भाग्यसे बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। यहाँकी बहुत कम जगह बची है, जहाँ सुन्दर आकृतियाँ न खुदी हों। प्रवेशद्वार तो बहुत ही शोभनीय है। तीर्थंकरकी मूर्ति उत्कीर्णित है। दूसरी गुफाके छोरोंपर भी मूर्तियाँ हैं। तीसरी गुफा दूसरी मंजिल समान है। आगेका कमरा २५—९ फुट है। एक छोरपर इन्द्र (संभवतः मातंगयक्ष) और इन्द्राणी (सिद्धायिका) दूसरे छोरपर है। इन्द्रकी आकृति इतनी विनष्ट हो चुकी है कि हाथीको पहिचानना भी कठिन है।

चँवरधारीके अतिरिक्त गंधर्व और उनके परिचारक पर्याप्त हैं। ये सब दम्पती अपने-अपने वाहनोंपर हैं। मालूम पड़ता है कलाकारने जन्म-महोत्सवके भावोंको रूपदान दिया है। आदमक़द जिनमूर्ति नग्न है।

---

[1] केव टेम्पिल्स आफ इंडिया, पृ० ४९४,

यह मूर्ति शान्तिनाथजीकी होनी चाहिए। कारण कि मृगलांछन स्पष्ट है। पार्श्वनाथकी भी एक प्रतिमा है जिसका कद उपर्युक्त आकृतिसे तीसरे भागका है। पंचफन भी स्पष्ट है। गर्भालयमें भी जिनप्रतिमाएँ हैं। इन प्रतिमाओं-की रचनाशैलीसे ज्ञात होता है कि १३ शतीकी होंगी। क्योंकि परिकरके निर्माणमें कलाकारने जिन उपकरणोंका प्रयोग किया है, वे प्राचीन नहीं हैं।

महाकवि श्री मेघविजयजीने पूर्व सूचित समस्यापूर्तिवाले विज्ञप्ति पत्रमें इस स्थानका परिचय इन शब्दोंमें दिया है—

> नत्यौत्सुक्येऽप्यणकिरणकां दुर्गयो स्थेयमेव,
> पार्श्वः स्वामी स इह विहृतः पूर्वमुर्वीशसेव्यः
> जाग्रद्युये विपदि शरणं स्वर्गिलोकेऽभिवन्द्यम्,
> अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः[1] ॥

त्रिंगलवाड़ी

आग्रारोडपर स्थित इगतपुरीसे छठवें मीलपर एक पहाड़ी दुर्गपर यह ग्राम बसा हुआ है। पहाड़ीके निम्न भागमें एक जैन गुफा है। यहाँ सूक्ष्म खुदाईको देखनेसे पता लगता है कि किसी समय यह गुफा उन्नता-वस्थामें रही होगी। गुफाके भीतरी भागवाला कमरा ३५ फुटका है, और इसके अन्दर एक और कमरा है। गुफाद्वार—सम्मुख छतके मध्य भागमें गोलाकार पाँच मानवाकृतियाँ खचित हैं। द्वारपर एक जिनमूर्ति है। गुफाके भीतर भी पद्मासनपर तीन जिनप्रतिमा हैं। भीतर जो कमरा है, उसकी दीवालके पास भी पुरुषाकार 'जिन' है। वक्षस्थल तथा मस्तक खंडित है। केवल चरणके अवशेष विद्यमान हैं। वृषभके चिह्नसे ज्ञात हुआ कि यह मूर्ति युगादिदेवकी है। सं० १२६६का एक लेख भी मिला है, जो उत्तर कोनेकी दीवालपर था।

---

[1] विज्ञप्ति लेख-संग्रह, पृष्ठ १०१,

चांदवड़

यहाँपर अहिल्याबाई होल्करका जन्म हुआ था। आज भी उनका विशाल और प्रेक्षणीय राजमहल विद्यमान है। प्राचीन जैनसाहित्यमें इसका नाम "चन्द्रादित्यपुरी" के रूपमें मिलता है। कहा जाता है इसे यादव-वंशीय दीर्घ पन्नारने बसाया था। ८०१ ईस्वीसे १०७३ तक यादवोंका राज्य रहा। यह नगर पहाड़के निम्न भागमें बसा है। पहाड़की ऊँचाई ४०००–४५०० फुट है। इसपर जानेका मार्ग बड़ा विलक्षण है। पैर फिसलनेपर बचनेकी आशा कम ही समझनी चाहिए। पहाड़ीपर जाते हुए आधे रास्तेमें रेणुकादेवीका मन्दिर आता है। जाने यह रेणुकादेवीका स्थान कबसे प्रसिद्ध हो गया। वस्तुतः यह जैन-गुफा है। यद्यपि बहुत बड़ी नहीं है, पर शिल्प स्थापत्यकी दृष्टिसे निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है। गुफामें तीनों ओरकी दीवालोंमें तीर्थंकरोंकी विस्तृत परिकरवाली अत्यन्त सुन्दर कोरनीयुक्त मूर्तियाँ खुदी हैं। शासनदेव-देवियोंकी मूर्तियाँ भी काफी हैं। जैन-गुफा-निर्माणकलाका एक प्रकारसे यह अन्तिम प्रतीक जान पड़ता है। कारण कि इसमें विकसित मूर्तिकलाके लक्षण भलीभाँति परिलक्षित होते हैं। प्रत्येक यक्ष-यक्षिणियाँ अपने वाहन और आयुधोंसे सुसज्जित तो हैं ही साथ ही साथ मुखाकृति भी जैन-शिल्प-शास्त्रानुसार है। जैनमूर्ति निर्माणकला-विकासकी परम्परा इसके एक-एक चप्पेपर लक्षित होती है। इसके मूलनायक चन्द्रप्रभुजी हैं। सभी मूर्तियाँ सिन्दूरसे बुरी तरह पोत दी गई हैं और प्रति दिन तैल स्नान करती हैं। जनताने इसे अपने ऐहिक स्वार्थपूर्तिका तीर्थ बना रखा है। बलिदान भी १९३८ तक होता था। पंडे लोग यहाँके बड़े पटु हैं। यदि उनको पता चल जाय कि प्रेक्षक जैन हैं तो फिर भीतर दीपकका उपयोग न करने देंगे। कारण कि वे जानते हैं कि ये मूर्तियाँ जैन हैं—जैसा कि काफी झगड़ेके बाद तय हो चुका है। पर वे अपने पेट पालनेके लिए इन्हें छोड़ भी नहीं सकते। दुर्भाग्यसे जैनियोंका, इनपर ध्यान ही अब कम रह गया है।

सित्तन्नवासल[1]

दक्षिण भारतमें जैनसंस्कृतिका अच्छा प्रभुत्व है। वहाँके सांस्कृतिक और नैतिक विकासमें जैनोंका योग रहा है। सित्तन्नवासल पडुक्कोटासे वायव्य कोणमें नवें मीलपर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाणके टीलोंकी गहराईमें जैनगुफा उत्कीर्णित है। ईस्वी पूर्व तीसरी शतीका एक ब्राह्मी लेख भी उपलब्ध है। इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि जैन-मुनियोंके वासार्थ इसका निर्माण किया गया। इन गुफाओंमें जैन-मुनियोंकी सात समाधि-शिलाएँ हैं। प्रत्येककी लम्बाई ६—४ फुट है। गुफा १००—५० फुट है।

वास्तुशास्त्रकी दृष्टिसे इसका जितना महत्त्व है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्व चित्रकलाकी दृष्टिसे है। मंडोटक चित्र काफी अच्छे हैं। इनकी शैली अजण्टासे साम्य रखती है। इनकी रेखाओंके अनुशीलनसे मूर्तिकला-पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है।

पल्लवकालीन चित्रकला[2]की उच्चतम कृतियोंमें इनकी परिगणना है। कलाकारने प्राकृतिक दृश्योंको जो रूपदान दिया है, वह सचमुचमें अनुपम है। यद्यपि रूपदानमें कलाकारने बहुत कम रंगोंका प्रयोग किया है, फिर भी भावोंकी दृष्टिसे आकृतियाँ सजीव बन गई हैं। कमलाकृति और नर्तकीके अतिरिक्त पौराणिक जैन प्रसंग भी चित्रित हैं। इसका निर्माण कलाविलासी महेन्द्र वर्माके समयमें हुआ। महेन्द्र वर्मा अप्परके उपदेशसे जैनधर्म स्वीकार कर चुका था, पर एक स्त्रीके प्रयत्नसे जब अप्पर शैव हुआ, तब वह भी शैव मतानुयायी हो गया।

---

[1]इसका मूल नाम "सिद्धण्ण-वास = सिद्धोंका डेरा" है,

भारतीय अनुशीलन, पृ० ७

[2]पल्लवोंकी चित्रकलाके लिए देखें—

इंडियन एण्टीक्वेरी मार्च १९२२,

भारतीय अनुशीलन, पृ० ७–१६ ललितकला विभाग,

इन गुफाओंमें जैनमूर्तियाँ भी पद्मासनमें हैं।

यहाँसे कुछ दूर संगीतविषयक एक शिलोत्कीर्ण लेख[1] भी प्राप्त हुआ है। जैन-आगमोंमें स्थानांग और अनुयोगद्वार (जो ईस्वी पूर्वकी रचनाएँ हैं) में संगीतका विषय आता है। उपलब्ध लेखसे शास्त्रीय शब्द भी मिलते-जुलते हैं।

प्रसिद्ध गुफाओंका उल्लेख ऊपर किया गया है। इनके अलावा भी धारासिव[1] विन्ध्याचल ग्रामचन्द्र[2], पाटन; मोमिनावदा[3] चामरलैन, एवं औरंगाबाद[4] की गुफाएँ जैनधर्मसे सम्बन्ध रखती हैं।

इन गुफाओंके दो प्रकार किसी समय रहे होंगे या एक ही गुफामें दोनोंका समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनोंका सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकालमें जैनमुनि अरण्यमें ही निवास करते थे, केवल भिक्षार्थ—गोचरीके लिए—ही नगरमें पधारते थे। ऐसी स्थितिमें लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणीका अमृत-पान करनेके लिए, जंगलोंमें जाया करते थे, जैसा कि पौराणिक जैनआख्यानोंसे विदित होता है। जिनमंदिरकी आत्मा—प्रतिमाएँ भी नगरके बाहर गुफाओंमें अवस्थित रहा करती थीं। ऐसी स्थितिमें सहजमें कल्पना जाग्रत हो उठती है कि या तो दोनोंके लिए स्वतंत्र स्थान रहे होंगे, या एक ही में दोनोंके लिए पृथक्-पृथक् स्थान रहे होंगे। मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मन्दिरके नगर बाहर बनाये जानेका भी यही कारण है। मेवाड़ादि प्रदेशोंमें तो जैनमन्दिर जंगलोंमें बहुत बड़ी संख्यामें उपलब्ध होते हैं, वे गुफाओं-की पद्धतिके अवशेषमात्र हैं। वहाँ ताला वगैरह लगानेकी आवश्यकता

---

[1] एपिग्राफिया इंडिका, भाग १२,

[2] केव टेम्पिल्स ऑफ इंडिया,

[3] आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया भा० ३, पृ० ४८–५२,

[4] ,, ,, ,, ५६–७२,

ही क्या थी? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी सम्पत्तिके लूटे जानेका ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुन्दर और सब लोगोंके दर्शनके लिए उपयुक्त थी।

प्राचीन गुफाओंमें उदयगिरि, खंडगिरि, ऐहोल, सित्तन्नवासल्ल, चाँदवड़, रामटेक, एलूरा—इन गुफाओंसे मानना होगा कि दशम शती तक इसी सात्त्विक प्रथाका परिपालन होता था। ढंकगिरी जोगीमारा गिरनार आदि विभिन्न प्रान्तोंमें पाई जाने वाली अति प्राचीन और भारतीय तक्षणकलाकी उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओंके सौंदर्य अभिवृद्धि करनेके ध्यानसे जोगीमारा, सित्तन्नवासल्ल आदिमें चित्रोंका अंकन भी किया गया था, इन भित्तिचित्रोंकी परम्पराको मध्यकालमें बहुत बड़ा बल मिला। भारतीय चित्रकला-विशारदोंका तो अनुभव है कि आज तक किसी-न-किसी रूपमें जैनोंने भित्तिचित्र परम्पराके विशुद्ध प्रवाहको कुछ अंशतक सुरक्षित रखा है।

ता० ८–३–४८ को शान्तिनिकेतनमें कलाभवनके आचार्य और चित्रकलाके परम मर्मज्ञ श्रीमान् नन्दलालजी बोसको मैंने अपने पासकी हस्तलिखित जैन सचित्र कृतियाँ एवं बड़ौदा निवासी श्रीमान् डा० मंजूलाल भाई मजूमदार-द्वारा प्रेषित दुर्गासप्तशतीके मध्यकालीन चित्र बतलाये, उन्होंने देखते ही इनकी कला और परम्परापर छोटा-सा व्याख्यान-दे डाला, जो आज भी मेरे मस्तिष्कमें गूँजता है। उसका सार यही था कि इन कलात्मक चित्रोंपर एलोराकी चित्र और शिल्पकलाका बहुत प्रभाव है। जैन-शैलीके विकासात्मक तत्त्वोंका मूल बहुत अंशोंमें एलोरा ही रहा है। चेहरे और चक्षु तो सर्वथा उनकी देन है। रंग और रेखाओंपर आपने कहा कि जिन-जिन रंगोंका व्यवहार एलोराके चित्रोंमें हुआ है, वे ही रंग और रेखाएँ आगे चलकर जैन चित्रकलामें विकसित हुई। यह तो एक उदाहरण है। इसीसे समझा जा सकता है कि जैन-चित्रकलाकी दृष्टिसे भी इन स्थापत्यावशेषोंका

कितना बड़ा महत्त्व है, जिनको हम भूलते चले जा रहे हैं।

ज्यों-ज्यों सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ खड़ी होती गईं या विकसित होती गईं, त्यों-त्यों पर्वतोंमें गुफाओंका निर्माण कम होता गया और आध्यात्मिक शान्तिप्रद स्थानोंकी सृष्टि जनावास—नगरों—में होने लगी। इतिहास इसका साक्षी है।

मन्दिर

पुरातन जैन-अवशेषोंमें मन्दिरोंका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-तीर्थ और मन्दिरोंका श्रेष्ठत्व न केवल धार्मिक दृष्टिसे ही है, अपितु भारतीय शिल्प-स्थापत्य और कलाकी दृष्टिसे भी, उनका अपना स्वतन्त्र स्थान है। इन मन्दिरोंपरसे ही हमारी सांस्कृतिक विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वहाँपर हमें निवृत्तिमूलक भावनाका प्रत्यक्षीकरण होता है। वहाँ स्वपरके क्षुद्रतम भेदोंको भूल जाते हैं। आत्मतत्त्व निरीक्षणकी दृष्टि विकसित होती है और गुणके प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। वहाँका वायु-मंडल इतना शुद्ध और पवित्र रहता है कि दर्शक—यदि वह भावनाशील हो तो, आनन्द-विभोर हो उठता है—कुछ क्षणोंके लिए अपने आपको भुला देता है।

मन्दिर हमारी आध्यात्मिक साधनाका पुनीत स्थान है, साथ ही साथ जिनधर्म और नैतिक परम्पराका समर्थक भी। मैं अपने कई निबंधोंमें सूचित कर चुका हूँ कि, श्रमणसंस्कृतिका अन्तिम साध्य मोक्ष होते हुए भी वह समाजके प्रति कभी उदासीन नहीं रही। मन्दिर आध्यात्मिक स्थान होते हुए भी कलाकारोंने अपने मानसिक भावोंके द्वारा, उसे ऐसा अलंकृत किया कि साधक आन्तरिक सौंदर्यकी उपासनाके साथ, बाहरी पृथ्वीगत-सौंदर्यसे नैतिक और पारम्परिक—अन्तश्चेतना जगानेवाले उप-करणों द्वारा वीतरागत्वकी ओर बढ़ सकें।

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होते हैं कि मन्दिरोंका निर्माण सबसे

प्रारम्भ हुआ, मध्यकालीन मन्दिरोंका पूर्वरूप कैसा था, प्राचीन कालके साधना स्थानोंका निर्माण कहाँ होता था? ये प्रश्न निःसन्देह महत्त्वपूर्ण हैं। पर इनका उत्तर सरल नहीं है। पुरातत्त्व और इतिहासके उपलब्ध साधनोंके आधारपर तो यही कहा जा सकता है कि प्रथम मूर्तिका निर्माण और बादमें मन्दिर, जिसे एक प्रकारसे गुफाका विकसित रूप मानें तो अत्युक्ति नहीं। मन्दिरकी उत्पत्ति और स्थितिविषयक विद्वानोंमें मतभिन्नत्व स्पष्ट है। जितनी प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उतने मन्दिर नहीं। मूर्तियोंकी अपेक्षा मन्दिरोंकी उपलब्धि भी कम हुई है। इसका कारण मध्यकालीन इतिहास तो यह देता है कि मुसलमानोंके सांस्कृतिक आक्रमणोंने कई मन्दिर, मसजिदके रूपमें परिवर्तित कर दिये, ऐसे मन्दिरोंकी संख्या सर्वाधिक गुजरातमें पाई जाती है। महाकोसलमें मैंने ऐसे भी जैन-मन्दिर देखे हैं जिनपर अजैनोंका आधिपत्य है।

इतिहास और जैनागम-साहित्यसे यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व छठवीं शतीमें यक्ष-मन्दिरोंका सामूहिक प्रचलन था, परन्तु उन मन्दिरोंका उल्लेख "चैत्य" शब्दसे किया गया है। आज भी हम लोग "चैत्यालय" और "चैत्यवंदन" आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं। परन्तु यहाँ पर देखना यह है कि उन दिनों "चैत्य" शब्द, जिस अर्थमें व्यवहृत होता था, क्या आज भी हम उसी अर्थमें लेते हैं या तद्भिन्न। क्योंकि "चैत्य" शब्दकी व्युत्पत्ति "चिता"से मानी जाती है। महापुरुषोंके निर्वाण या दाह-स्थानोंपर उनकी स्मृतिको सुरक्षित रखनेके लिए वृक्ष लगाये जाते थे या प्रस्तर-खण्ड तथा शरीरके अवशेष रखकर मढ़िया[1] बना दी जाती थी।

---

[1]जबलपुरके निकट एक लघुतम पहाड़ीपर जैन-चैत्यालय है, जिसे लोग "मढ़िया" कहते हैं। लोगोंका विश्वास है कि रानी दुर्गावतीकी पीसनहारीने—जो—जैन थी, स्वोपार्जित वित्तसे इस कृतिका सृजन करवाया था। दोनों मढ़ियोंपर आज भी चक्कीके दो पाट लगे हुए हैं,

धीरे-धीरे पूज्य पुरुषोंकी प्रतिमाएँ बनने लगीं और बड़े-बड़े मन्दिरोंका निर्माण होने लगा। पंडित बेचरदासजीकी उपर्युक्त मान्यता शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे युक्ति-संगत नहीं जान पड़ती है। क्योंकि इस तर्कके पीछे कोई सांस्कृतिक विचारधारा या अकाट्य प्रमाण नहीं है[1]। डा० प्रसन्न-कुमार आचार्य ठीक कहते हैं—कि चैत्य या क्रमांसे मन्दिरोंका कोई सम्बन्ध न था।

डा० आचार्य लिखते हैं—"कल्पसूत्रके कुछ अंशको शुल्मसूत्र कहते हैं, जिसमें वेदी बनानेकी रीति और उनकी लम्बाई आदि दी है। इसमें "अग्नि" या ईंटोंसे बनी हुई बृहत्तर वेदियोंकी रीतिका वर्णन है। वे वेदी सोमयज्ञकी थीं, जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौरपर हुआ था। संभवतः यहींसे मन्दिर-निर्माणका सूत्रपात होता है।"[2]

ऐतिहासिक उल्लेखोंसे तो यही ज्ञात होता है कि प्राप्त मूर्तियोंमें सर्व प्राचीन प्रतिमाएँ जैनोंकी है, जैसा कि ऊपरके भागमें सूचित किया जा चुका है, परन्तु एक बातका आश्चर्य अवश्य होता है, कि जितना प्राचीन जैन-पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उतना ही अर्वाचीन एतद्विषयक साहित्य है। अर्थात् प्रतिमाओंका इतिहास मोहन्-जो-दडो तक पहुँचाता है, तो शिल्प विषयक ग्रन्थोंका निर्माण १०वीं शती बादका मिलता है। प्रथम "साहित्य" या "कृति" यह प्रश्न उठता है और विशेषता इस बातकी है कि जिन प्रतिमाओंकी सृजन शैलीमें कालानुसार भले ही परिवर्तन हुआ,

---

इनसे उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। पद्मपुर आदि और भी अनेक स्थानोंपर देवस्थान स्वरूप छोटी-सी टपरियाँ मिलती हैं, जिन्हें मध्य-प्रदेशमें "मढ़िया" कहते हैं। सरोवर तीरपर और पहाड़ियोंपर भी ऐसी मढ़ियें मिलती हैं।

[1] मन्दिर दाहस्थानका सूचक नहीं, किन्तु देवस्थानका परिचायक है,

[2] प्राचीन भारतवर्ष १, सं० ८।

पर मौलिकतामें बराबर समानता—एकरूपता रही। जिन दिनों मूर्तिका निर्माण हुआ, उन दिनों कलाकारोंके सम्मुख साहित्य था या नहीं? नहीं कहा जा सकता, कारण कि मूर्तिकालतकके प्राचीन मन्दिर ही अनुपलब्ध हैं। मूर्ति और मन्दिरका प्रश्न जहाँ आता है, वहाँ उनके प्रतिष्ठा-विधान विषयक एवं वास्तुशास्त्रकी समस्या भी खड़ी होती है। गवेषककी इन शंकाओंका समुचित समाधान हो सके ऐसा प्राचीन साहित्य नहिंवत् ही है। हाँ इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि जब पादलिप्तसूरिजीने निर्वाणकलिका की रचना की उस समय शिल्पका थोड़ा-बहुत साहित्य अवश्य ही रहा होगा,[1] भले ही वह लिपिबद्ध न होकर पारम्परिक या मौखिक ही क्यों न रहा हो, कारण कि देव-देवियोंके आकार-प्रकार एवं आयुधोंकी चर्चा उसमें वर्णित है।

मथुराके जैन-अवशेषोंसे स्पष्ट है कि निर्वाणकलिका पूर्व भी यक्ष-यक्षिणियोंका स्वरूप स्थिर हो चुका था। मथुराके कलात्मक अवशेष इस बात की पुष्टि करते हैं कि इण्डोसाइथिक समयके जैनोंने एक प्राचीन मन्दिरमें से खुदाईके लिए उसके अवशेषोंका उपयोग किया था। स्मिथ भी यह मानते हैं कि ईस्वी पूर्व १५०में मथुरामें जैन-मन्दिर था[2]।" मथुराके "बौद्धस्तूप"से शायद ही कोई अपरिचित होगा। इससे ज्ञात होता है कि उस समय जैनोंमें स्तूप पूजाका भी रिवाज चल पड़ा था, पर यह स्तूप

---

[1] मथुराका देवनिर्मित कहा जानेवाला स्तूप धर्म-ऋषि और धर्मघोष मुनिकी रुचिके अनुसार कुबेराने बनवाया था। इससे इतना तो निश्चित है कि मुनिवर्ग कलात्मक उपकरणोंके प्रति उदासीन न था। उस समय आजीवक संप्रदाय भी था, जो ज्योतिष् आदिमें प्रवीण माना जाता था। वह शिल्पसे सर्वथा अपरिचित हो, यह तो कम संभव है।

[2] दि जैन स्तूप ऐण्ड अदर एण्टीक्विटीज़ आफ मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ३।

परम्परा चली नहीं[1]। डॉ० जायसवालजीका मानना है कि ओरिसामें भी कायनिसींदी—अर्थात् जैन-स्तूप था, जिसमें अरिहन्तका अस्थि गड़ा हुआ था। बौद्ध-स्तूपके तोरणमें जो अलंकरण और भावशिल्पोंके प्रतीक हैं उनमें जिनभक्तिका सम्यक्रूप लक्षित होता है। मन्दिरकी रचना उस समय हो चुकी थी।

तैत्तिरीय संहिता[2]में पूर्वकथित वेदीके स्वरूपोंका वर्णन है—चतुरश्रश्येनचित, प्रोणचित, कूर्मचित, समुह्यचित्, प्रौगचित, रथक्रचित आदि। इसीका अनुकरण बौधायन और आपस्तंभमें हुआ है। इन वेदियोंमें धर्मजनित भेदोंको स्थान नहीं था। अर्थात् हिन्दू, जैन और बौद्ध सभी स्वीकार करते थे। परिवर्तनप्रिय मानवने क्रमशः संशोधन, परिवर्द्धन प्रारंभ किये, जिनके फलस्वरूप गुम्बज़ और शिखर उठ खड़े हुए। मंडपोंका विधान भी बढ़ता ही चला। मंडपोंका विकास समयकी आवश्यकतानुसार होता गया। डा० आचार्यका उपर्युक्त मत समीचीन जान पड़ता है। वर्णित वेदियोंका विकसित रूप ही मन्दिर है। इसके क्रमिक विकासका इतिहास भी बड़ा मनोरंजक और ज्ञान-वर्द्धक है, परन्तु यहाँ इतना स्थान कहाँ कि उनपर समुचित प्रकाश डाला जा सके। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि मंदिरका निर्माण गुफ़ा

---

[1] १२ वीं शतीके जैनोंके ऐतिहासिक साहित्यसे ज्ञात होता है कि प्रतिभा संपन्न आचार्योंके दाह-स्थानपर "स्तूप" बना करते थे। ऐसे सैकड़ों स्तूपोंका उल्लेख प्राचीन हिन्दी पद्योंमें भी आता है। १८वीं शताब्दीतक यह स्तूप परंपरा चलती रही। इसमेंसे आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि और श्रीजिनपतिसूरजी तथा श्री जिनकुशलसूरिजी महाराजके स्तूप विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीजिनपतिसूरजी पृथ्वीराज चौहानकी सभाके रत्न थे और अनेकानेक ग्रन्थ रचयिता विद्वानोंके गुरु भी।

[2] खंड ४, ११।

पूर्वका है, जैसा कि अर्थशास्त्रसे सिद्ध है। गुफा और मन्दिरका सम्बन्ध गुजरातके कलाकार श्रीरविशंकर रावल इतना ही मानते हैं कि "अग्रिम मंडप दर्शनार्थी भक्तोंके लिए और गर्भगृह देवमूर्तिके लिए होता है।"

'मानसार'में मन्दिरोंके भेदोंपर कुछ प्रकाश डाला है, परन्तु कलाकी दृष्टिसे उन भेदोंमें विशेष अन्तर नहीं पड़ता, न धर्मगत शिल्पकी अपेक्षासे ही। भेद मुख्यतः भौगोलिक है। मय शास्त्र और काश्यप शिल्पमें जैन और बौद्ध-मन्दिरोंका उल्लेख है। मानसारमें भी उल्लेख तो है, पर वह इतना अनुदारतापूर्ण है कि उससे उनके रचयिताकी भावनाका पता चलता है। वह लिखता है कि जैन-मन्दिर नगरके बाहर और वैष्णव-मन्दिर नगरके मध्यमें होना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुफा-मन्दिर अक्सर पहाड़ियोंमें हुआ करते थे और बहुसंख्यक जैनमन्दिर भी स्वाभाविक शान्तिके कारण बाहर बनाये जाते थे। अतः उसने लिख दिया कि जैन मन्दिर बाहर होना चाहिए। पर इतिहास और साहित्यसे मानसारके साम्प्रदायिक उल्लेखकी पुष्टि बिल्कुल नहीं होती।

शान्तिक, पौष्टिक, जयद आदि मन्दिरोंके नाम मानसारमें हैं। प्रत्येकका मान भिन्न-भिन्न है। इस शैलियोंसे भी यही ज्ञात होता है कि लेखक पारम्परिक साहित्यसे प्रभावित तो हुआ है, पर इससे भी अधिक सहारा प्रत्यक्ष कृतियोंसे लिया है। नागर, बेसर और द्रविड़ तीनों प्रकारका विश्लेषण डा० प्रसन्नकुमार आचार्यने आर्किटेक्चर एकोर्डिङ्ग टू मानसार-शिल्पशास्त्र में भली भाँति किया है।

यहाँतक तो मन्दिरकी चर्चा इस प्रकार चली है कि उसमें जैन-मन्दिर-बौद्ध-मन्दिर या हिन्दू-मन्दिर जैसी कोई साम्प्रदायिक चीज नहीं है। यहाँपर मन्दिरोंके निर्माणके विषयमें म० म० श्री गौरीशंकरजी ओझा का मत जान लेना आवश्यक है वे लिखते हैं—

"ईस्वी सन्‌की सातवीं शताब्दीके आसपाससे बारहवीं शताब्दीतकके सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलंबियोंके अर्थात्

ब्राह्मणोंके मन्दिर अबतक किसी न किसी दिशामें विद्यमान हैं। देश-भेदके अनुसार इन मन्दिरोंकी शैलीमें भी अन्तर है। कृष्णानदीके उत्तरसे लेकर सारे उत्तरीय भारतके मन्दिर आर्य शैलीके हैं और उक्त नदीके दक्षिणके द्रविड़ शैलीके। जैनों और ब्राह्मणोंके मंदिरोंकी रचनामें बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन-मन्दिरोंके स्तम्भों, छतों आदिमें बहुधा जैनोंसे संबंध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणोंके मन्दिरोंमें उनके धर्म संबंधी, बहुधा जैनोंके मुख्य मन्दिरके चारों ओर छोटी-छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणोंके मुख्य मन्दिरोंके साथ ही कहीं-कहीं कोनोंमें चार ओर छोटे-छोटे मन्दिर होते हैं।

"ऐसे मन्दिरोंको पंचायतन मन्दिर कहते हैं। ब्राह्मणोंके मंदिरोंमें विशेषकर गर्भगृह रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन-मन्दिरोंमें कहीं-कहीं दो मंडप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियोंके मंदिरोंमें गर्भगृहके ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भागपर आमलक नामका बड़ा चक्र होता है। आमलकके ऊपर कलश रहता है, और वहीं ध्वजदंड भी होता है[१]।

आर्य और द्रविड़ दोनों शैलियोंके जैनमन्दिर पर्याप्त मिलते हैं। उत्तर भारतीय मन्दिरोंकी जिस आर्यशैलीकी चर्चा ओझाजीने की है, उसमें भी प्रान्तीय भेदोंको लेकर कई उपशैलियाँ बन गई हैं। विशेषकर शिखरमें तो बहुत ही परिवर्तन हुए हैं। कई स्थानोंपर एक ही शैलीके

---

[१] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १७५, ६।

मन्दिर होते हुए भी उनमें कलात्मक वैभिन्न परिलक्षित होता है। नागर[1], द्राविड, वेसर इन तीन शैलियोंका उल्लेख मानसारमें इसप्रकार आया है—

नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
कण्ठादारम्य वृत्तं यद् तद्वेसरमिति स्मृतम्॥
ग्रीवमारम्य चाष्टाश्रं विमानं द्राविडाख्यकम्।
सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरं त्विदम्॥

वास्तुसारमें प्रासाद और शिखरके कई प्रकारोंका वर्णन है। अपराजित, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन, दीपार्णव आदि शिल्प विषयक ग्रन्थोंमें भी इसकी विशद चर्चा है।

यहाँ पर सूचित कर देना उचित जान पड़ता है कि मन्दिर-निर्माण विषयक शैलीका सूत्रपात होनेके पूर्व भी जिनमन्दिर बन चुके थे। भृगुकच्छ—भड़ौचके शकुनिकाविहार–मुनिसुव्रत तीर्थंकरका मन्दिर इस कोटिमें आता है। वि० सं० ४ पूर्व यहाँपर आर्य खपुटाचार्यके रहनेका उल्लेख जैन प्रबन्धोंमें आता है। यह विहार प्रथम काष्ठका था, पर चौलुक्योंके समयमें आंबड़भट्टने पाषाणका बनाया। लेकिन अल्लाउद्दीनने गुजरातपर आक्रमण कर भृगुकच्छ सर किया और इतिहास प्रसिद्ध इस सांस्कृतिक तीर्थस्वरूप विहारको जामअ-मस्जिदमें बदल दिया। यह घटना ई० स० १२९७की है। इसपर बर्जेसने विशेष विचार किया है[2]। वह इसकी कलाके सम्बन्धमें लिखता है—"इस स्थानकी प्राचीन कारीगरी, आकृतियोंकी खुदाई और रसिकता, स्थापत्य, शिल्पीकी कलाका रूप और लावण्य

---

[1]दोनों शैलियोंका विवेचन शिल्प-ग्रन्थोंमें तो मिलता ही है। स्व० जायसवालजीने इतिहासके आधारपर "अन्धकार युगीन भारत"में भी विचार किया है।

[2]आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वा० ६।

भारतमें वेजोड़ है"[1]। इस विहारपर प्रकाश डालनेवाले संस्कृत, प्राकृत और देश्य भाषामें अनेक उल्लेख—वल्कि स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते हैं। कच्छ-भद्रेश्वरका मन्दिर भी सम्प्रतिद्वारा निर्मित, माना जाता है[2]। पश्चिम भारतमें जो प्रान्तीय साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमें और भी कई प्राचीन मन्दिरोंका उल्लेख है, पर आठवीं शती पूर्वके ऐसे अवशेष अल्प ही मिले हैं। सम्भव है उनका उपयोग और कोई कार्यमें हो गया हो, जैसा कि भद्रेश्वरके अवशेषोंका उपयोग ई० सं० १८१० में मुद्रा ग्राम बसानेमें हुआ था और शकुनिकाविहारका मस्जिदमें। कलचुरि बुद्धराजका पुत्र शंकरगण जैन था। कल्याणमें दैवी उपसर्गको शान्त करनेके लिए माणिक-स्वामीकी मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की थी। कहा तो यह भी जाता है कि कुलपाकक्षेत्र (हैद्राबाद) के मन्दिरमें १२ ग्राम इसने भेंट किये थे।

ओझाजीने मन्दिरोंके चारों ओर देव कुलिकाओंका उल्लेख किया है, वह बावनजिनालयसे सम्बन्ध रखता है। श्रीमान् लोग इस प्रकारके मन्दिर बनवाते थे। चौलुक्य कुमारपालने भी ईडरगढ़पर ऐसा मन्दिर बनवाया था[3]। नन्दीश्वर द्वीप-रचनाके मन्दिर भी मिलते हैं।

दशम शती पूर्वके मैंने कुछ मन्दिर देखे हैं, उनमें गर्भगृह और आगे मंडप भर रहता है। ज्यों-ज्यों समय बदलता गया और शिल्पकला विकसित होती गई, त्यों-त्यों प्रासाद-रचना शैलीमें भी उत्कर्ष होता गया। कलाकार भी कृतिके निर्माणमें सामयिक अलंकरणोंका प्रयोग सफलता

---

[1] आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया वॉ० ६, पृ० २२।

[2] चाणक्यने अर्थशास्त्रमें नगरमें भिन्न-भिन्न देवमन्दिर कैसे होने चाहिए, इसका विधान किया है।

[3] समकालीन आचार्य श्रीजिनपतिसूरिने तीर्थमालामें इस प्रकार उल्लेख किया है—

ईडरगिरौ निविष्टं चौलुक्याधिपतिकरितं जिनं प्रथमं।

पूर्वक करते रहे। दशम शती बाद तो शिल्प कलापर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थोंका भी सृजन होता गया। जिनमें इनकी निर्माण-शैलीका सम्यक् विवेचन है। कलाकारोंने मौलिक नियमोंका पालन करते हुए कल्पना शक्तिका भी भलीभाँति परिचय दिया। वे कलाकार अर्थके अनुचर न थे, कलाके सच्चे उपासक और कुशल साधक थे। जब भाव जाग्रत होते तब ही औज़ारोंको स्पर्श करते। कलाकृतियोंके निर्माणमें कोरे अर्थसे काम नहीं चलता, पर आन्तरिक रुचि भी अपेक्षित है। ऐसे उदाहरण भी किंवदन्तियोंमें हैं कि जहाँ उनका अपमान हुआ, या अर्थकी थैलीका मुँह उनके मनके अनुसार न खुला, तो तुरन्त कार्य भी स्थगित हो गया। तात्पर्य कि अर्थकी अपेक्षा श्रमका मूल्य अधिक है।

> "प्रत्येक मन्दिर और शिल्पकी रूपभावना तथा कारीगरोंका श्रेय प्रधानतः तत्कालीन कुशल कलाकारोंको है। उनके प्रेरक भले ही धर्माचार्य, श्रीमान् या और कोई हों, पर कलाका जहाँतक प्रश्न है, यशके अधिकारी तो विश्वकर्माकी संतान ही हैं। उन्होंने अनेक शताब्दियोंतक आश्रयदाताओंका प्रभाव और भावना वैभव-शिल्पकी अशब्द रूपावलीमें अमल किया[1]।"

उत्तर व पश्चिम भारतके मन्दिरोंके शिखर प्रायः नागर शैलीके हैं, गुप्तकालके बादके मन्दिरोंके शिखर सापेक्षतः अलंकरणोंसे भरे मिलते हैं। उनपर जो सुललित अंकन पाया जाता है, वह कल्पना मिश्रित भावोंकी मौलिक देन है। न केवल पत्थरके ही शिखर मिलते हैं, पर ईंटोंके भी पाये गये हैं। शिखरादि मन्दिरके बाह्य अलंकरण और शैली शुष्क धर्ममूलक न होकर, कलामूलक भी रही है। इसे सजानेको कलाचार्योंने भरसक चेष्टा की हैं। अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि जिस

---

[1] भारतना जैन-तीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, पृ० १०।

सम्प्रदायका देवायतन होता था, उसपर उस धर्मके विशेष प्रसंग या देव-देवियोंका अंकन रहता था। जैसलमेर, राणकपुर, गिरनार, अहमदाबाद, शत्रुंजय, पाटण, खँभायत, आरंग, श्रवणबेल्गोला, खजुराहो, देवगढ़, हलेबीड़े, आबू, कुंभारियाजी आदि स्थानोंके मन्दिरोंको जिन्होंने विशुद्ध कलाकी दृष्टिसे देखा है, वे इन पंक्तियोंका अनुभव कर सकते हैं। बाह्यभागोंमें भीट, जगती, अन्तरपत्र, ग्रासपट्टी, नरथर, हंसथर, अश्वथर, गजथर, सिंहथरकी खुदाईपर विशेष ध्यान दिया जाता था। ये भारतीय शिल्पकला और जनजीवनके इतिहासकी अनुपम सामग्री हैं। इनकी कोरनी, सूक्ष्मकल्पना और उदात्त भावना प्रत्येकको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

शत्रुंजयका पहाड़ तो मन्दिरोंका नगर ही कहा जाता है। भिन्न-भिन्न शताब्दियोंकी शिल्प-कलाके उत्कृष्ट प्रतीक आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। पश्चिमके कुछेक मन्दिरोंपर एक बंगाली विद्वान्‌ने लिखा है—

"The Jainas choose wooded mountains and the most lovely retreats of nature for their Places of Pilgrimage and cover them with exquisitely carved shrines in white marble or dazzling stucco. Their contribution to Indian Art is of the greatest importance and India is indebted for a number of its most beautiful architectural monuments such as the splendid temples of Abu, Girnar and S'atrunjaya in Gujrat.[१]"

मन्दिरका भीतरी भाग इन उपभागोंमें विभक्त रहता है—द्वारमंडप 'शृंगारचौकी', 'नवचौकी', 'गूढमंडप', 'कोलीमंडप' और 'गर्भगृह', जहाँपर मूर्ति स्थापित की जाती है। गर्भगृह और गूढमंडपपर क्रमशः शिखर एवं

---

[१] "डॉन" जुलाई १९०६।

गुम्बज़ रहते हैं। द्वारमंडप प्रायः सजा हुआ रहता है। दो स्तम्भोंका तोरण भी कहीं-कहीं रखा जाता है। मुख्य द्वारपर मंगलचैत्य या जिनमूर्तिकी आकृतिका रहना आवश्यक है। भीतरी भागोंमें भी जो मुख्य मंडप रहता है—जहाँ साधक नर-नारी प्रभु-भक्ति करते हैं, वहाँके सुललित अंकनवाले स्तम्भोंपर नृत्य करती हुई, या संगीतके विभिन्न वाद्योंको धारण करनेवाली, निर्विकार पुत्तलिकाओंकी भाव-सूचक मूर्तियाँ खुदी रहती हैं। इसे नृत्यमंडप भी कह सकते हैं। स्तम्भोंपर आधृत छतोंमें वीतराग परमात्माके समवशरण, या जिस तीर्थंकरका मन्दिर है, उसके जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं। कहीं-कहीं विशेष उत्सवोंके भावोंका प्रदर्शन भी देखा गया है। मधुच्छत्र इसीपर रहता है। आबूका मधुच्छत्र[1] भारतीय शिल्प-कलाका अनन्य प्रतीक है। लूणिगवसहिके गुम्बज़के मध्य भागका लोलक इतना सुन्दर और स्वाभाविक बना है कि इसके सामने इंग्लैंडके ७वें हेन्री वेस्ट मिनिस्टरके लोलक भाव विहीन जँचते हैं[2]। ऐसे मधुच्छत्र राणकपुरके मेघनाद मंडपमें भी है। आबूमें तो सोलह विद्यादेवियाँ उत्कीर्णित हैं। छतका विशेष प्रकारका अंकन जैन-मन्दिरोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। नागपाश या एक मुख, या तीन या पाँच देहवाली आकृतियाँ द्वारके ऊपर रहती हैं। लोगोंका ऐसा विश्वास रहा है कि इस प्रकारकी आकृतियाँ बनानेसे कोई भी छत्रपति इसके निम्न भागसे निकल नहीं सकता। मुगलकालमें भी इन आकृतियोंका विशेष प्रचार रहा। मन्दिरका भीतरी भाग प्रायः अलंकृत रहता है। जैन-वास्तुशास्त्रका नियम है कि कहींपर भी प्लेइन प्रस्तर न रखा जाय।

---

[1] विमल वसहि वाले मधुच्छत्रके लिए "आर्किटेक्चर ऐट अहमदाबाद" देखना चाहिए।

[2] विशेषके लिए "पिक्चर्स एण्ड इलेस्ट्रेशन्स आफ एन्श्येण्ट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्तान" देखें।

गर्भगृहके मुख्य द्वारकी चौखटपर भी कई आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। चँवरधारिणी नारियोंके अतिरिक्त उभय ओर जिन-प्रतिमाएँ या देव-देवियोंकी मूर्तियाँ तथा जिन-प्रतिमाएँ रहती हैं। मध्यस्थ स्तम्भ-पर तो निश्चितरूपसे मूर्तियाँ रहती ही हैं। ऐसे दो तोरण मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। प्रयाग संग्रहालयमें भी हैं। राजपूतानामें भी ऐसी आकृतियों-का बाहुल्य है। इन तोरणोंमें लोकजीवन भी प्रतिबिम्बित होता है।

कुछ मन्दिर भूमिगत भी हैं। और तीन-चार मंज़िलके भी। तीर्थ स्थानोंपर मन्दिरोंकी कला निखर उठती है। जैनोंके वे मन्दिर ही मध्यकालीन भारतीय वास्तुकलाकी अमूल्य निधि हैं। जैनसंस्कृतिका त्याग प्रधान रूप, इसके कण-कणमें परिलक्षित होता है। जैन-मन्दिरोंको जो लोग केवल धार्मिक स्थान ही समझे हुए हैं, उनसे मेरा यही निवेदन है कि, वे एक बार कलालतासे परिचित हो जायँ तो उनका मत ही बदल जायगा। वे मन्दिर न केवल जैनोंके लिए ही उपयोगी हैं, अपितु भारतीय क़लाका उच्चतर कलातीर्थ भी हैं।

मुख्यतः मंदिरोंके निर्माणमें पत्थरोंका प्रयोग होता था। मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराजके संग्रहालयमें एक धातु मंदिर भी है, जिसपर इस प्रकार लेख खुदा है—

॥८०॥ स्वस्ति श्री नृपविक्रम संवत् १४६२ वर्षे मार्ग-वदि ८, रवौ हस्ते साधाजगच्चन्द्र सदचरचतुर्मुखः प्रासादः श्री संघेन कारितः॥ साधुधर्म्माकेन सुवर्णरूप्यैरलंकारितः॥

जगत् सेठकी माता माणिक देवीने भी एक रजतमन्दिर अपने गृहके लिए बनवाया था[1]। रजत परिकर तो कई मिलते हैं।

---

[1]जिन मन्दिर रूपातणो, गृहमें सरस बनाय।
प्रतिमा सोना रजतनी, थापी श्रीजिनराय॥
यति निहाल कृत माणकदेवी रास (रचना सं० १७८६ पोषकृ० १३)।

भारतीय कलातीर्थ स्वरूप जैनमन्दिरोंकी कलाका आजतक समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ, जैनोंने कभी इन पर ध्यान ही नहीं दिया, जैसे वह हमारी कलात्मक सम्पत्ति ही न हो। कलकत्ता विश्वविद्यालयकी ओरसे "हिन्दू टेम्पल" नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें दर्जनों चित्र हैं। एक हंगेरियन स्त्री डा० स्टेला क्रेमरीशने इसे सश्रम तैयार किया है। मैंने उनसे कहा था कि जैनमन्दिरोंके बिना, वह इतिहास और शिल्पका परिचय पूर्ण हो ही नहीं सकता। उसने कहा कि मेरा दुर्भाग्य है कि मैं जैनाश्रित कलाकृतियोंको श्रम करके भी, प्राप्त न कर सकी। कुछ स्थानोंपर मैं गई तो चित्र लेने ही नहीं दिये और शाब्दिक सत्कारकी तो बात ही क्या! मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आजके युगमें भी हमारा समाज संशोधनको न जाने क्यों घृणाकी दृष्टिसे देखता है। मेरे लिखनेका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमें ही बुरी तरह खाये जा रही है, न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माणमें जैनोंका कैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहासके साधनोंपर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए हैं।

४ मानस्तम्भ

मध्यकालीन भारतमें जैनमन्दिरके सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवानेकी प्रथा, विशेषतः दिगम्बर जैनसमाजमें रही है। दक्षिण भारत और विन्ध्य-प्रान्तमें ऐसे स्तम्भोंकी उपलब्धि प्रचुर परिमाणमें हुई है। प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थोंमें कीर्तिस्तम्भोंकी आंशिक चर्चा अवश्य है, पर मानस्तम्भोंके विषयमें वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो इसका अस्तित्व बहुत प्राचीन कालसे बताता है, पर उतने प्राचीन या सापेक्षतः अर्वाचीन स्तम्भ उपलब्ध कम हुए हैं। उपलब्ध साधनोंसे तो यही कहा जा सकता है कि मध्यकालमें जैन-वास्तुकलाका वह एक अंग अवश्य बन गया था। यह मानस्तम्भ इन्द्रध्वजका प्रतीक होना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता

है, जो भगवान्‌के विहारके आगे रहता था। देवगढ़ आदिमें पाये गये मानस्तम्भके अवशेषोंसे यह फलित होता है कि मानस्तम्भोंकी मौलिक परम्परा भले ही एक-सी रही हो, पर प्रान्तीय कला विषयक एवं निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य उनमें स्पष्ट है। देवगढ़ आदिमें पाये जानेवाले अधिक मानस्तम्भ ऐसे हैं, जिनके ऊपरके भागमें शिखर-जैसी आकृति है। बघेलखंड और महाकोसलके भूभागमें मैंने जितने भी अवशेष देखे, उनके छोरपर चतुर्मुख जिनप्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। ये स्तम्भ चपटे और गोल तथा कई कोनोंके बनते थे। एक अवशेष मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। मुझे यह बिलहरीसे प्राप्त हुआ था। कलाकी दृष्टिसे सुन्दर है।

मानस्तम्भपर मूर्तियाँ रखनेका कारण लोग तो यह बताते हैं कि शूद्र दूरसे ही दर्शन कर सकें। इसमें तथ्य कितना है; यह तो वे ही जानें जो ऐसी बातें बताते हैं। पर जैन-मन्दिरकी सूचना इससे अवश्य मिल जाती है। ये स्तम्भ काष्ठके भी बनते थे, पर बहुत कम। दक्षिणके स्तम्भ कलाकी दृष्टिसे अनुपम हैं। यहाँ मानस्तम्भोंपर यक्ष-यक्षिणियोंके आकार खुदे हुए पाये जाते हैं। अभीतक इस मूल्यवान् सामग्रीपर समाजका ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ है।

कुछ मानस्तम्भोंपर लेख भी खुदे रहते हैं। वे जैन-इतिहासकी सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, पर उनका सार्वजनिक इतिहासकी दृष्टिसे भी बहुत बड़ा महत्त्व है। कभी-कभी सामान्य लेख बहुत ही महत्त्वकी सूचना दे देता है। भोजदेव कालीन एक स्तम्भ लेख उद्‌धृत करना अनुचित न होगा—

ॐ-[॥] परमभट्टार [क] महाराजाधिराज—परमेश्वर—श्री भोजदेव—महोप्रवर्धमानकल्याणविजयराज्येतत्प्रदत्तपंचमहाशब्द—महासामंत श्री-विष्णु [र]म् परिभुज्यमाके [ने] लुअच्छगिरे श्रीशान्त्यायत [न] [सं] निधे श्रीकमलदेवाचार्यशिष्येण श्रीदेवेन कारा [पि] तम् इदम् स्तंभम्॥ सम्वत् ९१९ अस्व[श्व]युजेशुक्लपक्षचतुर्दश्याम् वृ[बृ] हस्पति-

दिनेन उत्तरभाद्रपद [द्रा] नक्षत्रे इदं स्तम्भ समाप्तं इति ।।०।। वाजुआ गगाकेन गोष्ठिकभूतेन इदम् स्तम्भं घटितम इति ।।०।। शक काल [लाब्द] -सप्तशतानि चतुरशीत्य-अधिकानि ।। ७८४[।।]

एपिग्राफिया इन्डिका (वो ४, ५, ३१०)

लेख वर्णित भोजदेव, महाराज 'नगावलोक' (आम) का पौत्र था। नागावलोकने बप्पभट्टसूरिजीके उपदेशसे देवनिर्मित कहे जानेवाले मथुराके जैन-स्तूपका जीर्णोद्धार किया था।[1]

चित्तौड़का कीर्ति-स्तम्भ

कीर्तिस्तम्भोंकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन-कीर्तिस्तम्भों-पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। इस कारण बहुत-से कीर्तिस्तम्भोंको लोगोंने मानस्तम्भ ही समझ रखा है। चित्तौड़का कीर्तिस्तम्भ १६वीं शताब्दीकी कलाका भव्य प्रतीक है। उसमें जैनमूर्तियों-का खुदाव आकर्षक बन पड़ा है। इसका शिल्प भास्कर्य प्रेक्षणीय है। दृष्टि पड़ते ही कलाकारकी दीर्घकालव्यापी साधनाका अनुभव होता है। इस स्तम्भके सूक्ष्मतम अलंकरणोंको शब्दके द्वारा व्यक्त करना तो सर्वथा असंभव ही है। इतना कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण स्तम्भका एक भाग भी ऐसा नहीं, जिसपर सफलतापूर्वक सुललित अंकन न किया गया हो। सचमुचमें यह श्रमणसंस्कृतिका एक गौरव स्तम्भ है।

इसकी ऊँचाई ७५।।। फुट है। ३२ फुटका व्यास है। अभीतक लोग यह मानते आये हैं कि इसका निर्माण १२वीं शती या इसके उत्तरवर्ती काल में बघेरवाल वंशीय साह जीजाने करवाया था और कुमारपालने इसका जीर्णोद्धार कराया। एकमत ऐसा भी है कि यह वि० सं० ८९५में बना।[2]

---

[1] प्राचीन जैनस्मारक।

[2] जैन-सत्य-प्रकाश व० ६, पृ० १६६।

मेरे खयालसे उपर्युक्त दोनों मत भ्रामक हैं। आश्चर्य होता है निर्णायकोंपर कि उन्होंने इसकी निर्माणशैलीको तनिक भी समझनेकी चेष्टा न की। अस्तु।

इस गौरव-स्तम्भके निर्माता मध्यप्रदेशान्तर्गत कारंजा निवासी पुनसिंह हैं और १५वीं शताब्दीमें उनने इसे बनवाया था, जैसा कि नान्दगाँवके मन्दिरकी एक धातु-प्रतिमाके लेखसे ज्ञात होता है। इस लेखको प्राप्त करनेमें मुझे काफी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। लेख इस प्रकार है—

स्वस्ति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके १४११ (१४०६) प्रवर्त्तमाने कोर्धाता संवत्सरे उत्तरगणे······मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वातिनक्षत्रे······योगे र कणे मि० लग्ने श्रीवराट् (? ड्) देशे कारंजा-नगरे श्री श्रीसुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्रीम (? मू) लसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्—वृषसेन—गणधराचार्ये पारंपर्योद्गत श्रीदेववीर भट्टाचार्याः॥ तेषां पट्टे श्रीमद्भायराजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिता· महासकल विद्वज्जन सार्ध (र्व) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनय—त्रैः······विश्वसोमसेनभट्टार्काणामुपदेशात् श्रीवघेरवाल जाति खडवाढ गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्तंगशिखरबद्धप्रासादसमुद्धरणधीरस्त्रिलोक श्री जिनमहाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टादस-स्थाने अष्टादशकोटि श्रुतभंडारसंस्थापक, सवालक्षबन्दीमोक्षकारक, मेदपाट-देशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निजभुजो-पार्जितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तम्भआरोपक साह जिजा सुत सा० पुन सिंहस्य ······साहदेउ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्राश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण······चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपार्जितवित्ता-नुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ क्षेत्र······।

दुर्भाग्यसे यह लेख इतना ही उपलब्ध हुआ है। कारण कि आगेका भाग प्रयत्न करनेपर भी मैं न पढ़ सका, घिस-सा गया है। फिर भी उपलब्ध अंशसे एक चलती हुई भ्रामक परम्पराको प्रकाश मिला।

चित्तौड़में एक और भी कीर्तिस्तम्भ है। आबूमें भी एक जैन-कीर्ति-स्तम्भ पाया गया है।

५. भाव शिल्प

इस भागमें केवल वे ही कृतियाँ नहीं आतीं, जिन्हें कलाकार अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा, विभिन्न रेखाओंमें विशिष्ट भावोंको व्यक्त करता है। अपितु उनका भी समावेश होगा जो दृश्यशिल्पसे सम्बद्ध है। शिल्प शब्दका अर्थ बड़ा व्यापक है। वास्तुकला उसका एक भेद है। इसीके द्वारा—कलाकारोंने भारतीयजीवन और संस्कृतिके अमर तत्त्वोंको समुचित रूपसे अंकित किया है। जैनोंने जिनमूर्ति, मन्दिर और तदंगीभूत उपकरणोंका जहाँ निर्माण करवाया, वहाँपर पौराणिक कथा-साहित्य, और जैनधर्मके आचार प्रतिपादक दृश्योंका भी उत्खनन करवाकर, शिल्प-वैविध्यमें अभिवृद्धि की। जैन इतिहासकी विशिष्ट घटनाओंको जिस प्रकार साहित्यकारोंने अपनी शब्दावलियोंमें बाँधा, उसी प्रकार कुशल शिल्पियोंने अपनी छैनीसे, कठोर प्रस्तरपर उकेरकर, उनकी सत्यतापर मुहर लगाई। भारतीय शिल्पकलामें, इस शैलीको श्रमणसंस्कृतिने ही सर्वाधिक प्रश्रय दिया।

प्राचीन मन्दिर और तीर्थस्थानोंमें विशिष्ट भावसूचक शिल्पकी अच्छी सामग्री सुरक्षित रह सकी है, यह समाजका सौभाग्य है। ये हमारी संस्कृतिको तो आलोकित करते ही हैं, भारतीय जीवनके बहुमूल्य इतिहासपर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय समाज और लौकिक रीति-रिवाजोंका निदर्शन इन्हींके द्वारा संभव है। साध्यके प्रति साधकोंकी स्वाभाविक भक्तिका सक्रिय रूप ही आचार-विषयक परम्पराको अधिक कालतक जीवित रख सकता है।

जैनाश्रित-कलाके परम पुनीत क्षेत्र मथुरामें ऐसी कृतियाँ मिली हैं। उनसे भगवान् महावीरके जीवन पटपर प्रकाश डालनेवाले साहित्यिक

उल्लेखोंकी सत्यता सिद्ध होती है[1]। जैन-गुफाओंमें भी अनेक कथा-प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं।

मध्यकालीन भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाका प्रधान क्षेत्र पश्चिम भारत रहा है। वहाँके राजवंश और उनके अधिकारी तथा श्रीमालोंने स्वस्थ सौन्दर्यकी उपासनामें सहायक, ऐसे अनेक स्थानोंका निर्माण करवाया। आबूका स्थान इन सबमें प्रथम आता है। जैनाश्रित शिल्पकलाकी अनुपम सामग्री एक ही साथ अन्यत्र दुर्लभ हैं। विमलवसहिमें ऐसे दृश्योंका प्राचुर्य्य है। कहीं साधक वीतराग परमात्माकी श्रद्धापूर्वक आराधना कर रहा है, कहीं त्यागियोंकी वाणी श्रवण कर रहा है और आशीर्वाद प्राप्त कर, अपनेको धन्य मानता है। कहीं पूजन विधानका दृश्य है, तो कहीं गंभीरतम भावोंका सफल अंकन है। तात्पर्य कि जैनोंकी प्राथमिक क्रियाओंको भी कलाकारने अपनी उच्चतम कल्पना द्वारा व्यक्त कर सामान्य पत्थरोंको भी कलापूर्ण बना दिया है।

पौराणिक-कथा-प्रसंगोंमें भरत-बाहुबलि-युद्ध, बहन ब्राह्मी और सुन्दरीद्वारा प्रतिबोध, आर्द्रकुमारके जीवनकी विशिष्ट घटना—हस्ति-तापसबोध, श्रीकृष्णका कालिय-अहिदमन, अश्वावबोधतीर्थ—शमलिका विहारकी घटनाके अतिरिक्त पंचकल्याणक, पार्श्वनाथजीकी कमठवाली घटना—शान्तिनाथजीका प्रसंग, नेमिकुमारका सम्पूर्ण चरित्र और श्रेयांस-कुमारका दान आदि कई प्रसंग अवश्य ही खुदे हुए मिलेंगे। विन्ध्यप्रान्तमें तो जिन-प्रतिमाओंके परिकरमें ही कुछेक घटनाएँ अंकित रहती हैं। ऐसी मूर्तियाँ जसोमें मैंने देखी हैं। तोरण-द्वारमें भी भावसूचक शिल्पका अच्छा आभास मिलता है। अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण बहुसंख्यक लोग इन्हें समझ नहीं पाते, बल्कि कहीं-कहीं तो ये टूटे-फूटे अवशेष निकाल

[1] भारतना जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प-स्थापत्य प्लेट ८।

बाहर किये जाते हैं। प्राचीन मन्दिरोंके जीर्णोद्धार करनेवालोंको बहुत सावधानीसे काम लेना चाहिए।

यहाँपर मैं भावशिल्पकी एक और दिशाकी ओर संकेत कर दूँ कि रेखाओंके अतिरिक्त कुछ लेखनकलाकी सामग्री भी शिल्पमें आ जाती है। जैसे कि मन्दिरोंमें शतदल या सहस्रदलकमलकी पँखुड़ियोंमें भगवान्‌की स्तुतियाँ मिलती हैं। वे भी जैनाश्रित कलाकी गौरव-गरिमामें अभिवृद्धि करती हैं। स्तम्भोंपर ऐसी आकृतियाँ अकसर खुदी रहती हैं।

राणकपुर और कुम्भारियाजीके जिनमन्दिरोंमें भी—कई भाव शिल्पके उत्कृष्ट प्रतीक पाये गये हैं। इस प्रकारकी साधन-सामग्री बहुत-से खण्डहरोंमें भी अनायास उपलब्ध हो जाती है। मन्दिर या धर्म-स्थानसे सम्बद्ध अवशेषोंके भाव तो प्रसंगको लेकर समझमें आ जाते हैं, पर एकाकी कोई टुकड़ा मिल जाय तो उसे समझना कठिन हो जाता है। शास्त्रीय एवं अन्यावशेषोंके ज्ञान विना ऐसी समस्या नहीं सुलझती। मैं अपना ही अनुभव दे रहा हूँ। एक दिन मैं रॉयल एसियाटिक सोसायटी कलकत्ताके रीडिंगरूममें अपने टेबिलपर बैठा था, इतनेमें मित्रवर्य अर्द्धेन्दुकुमार गांगुलीने—जो भारतीय कलाके महान् समीक्षक हैं और 'रूपम्'के भूतपूर्व सम्पादक हैं—मुझे एक नवीन शिल्पाकृतिका फोटू दिया, उनके पास बड़ौदा पुरातत्त्व विभागकी ओरसे आया था कि वे इसपर कुछ प्रकाश डालें, मैंने उसे बड़े ध्यानसे देखा, बात समझमें आई कि यह नेमिनाथजीकी वरयात्रा है। पर वह तो तीन-चार भागोंमें विभक्त थी, प्रथम एक तृतीयांशमें नेमिनाथजी विवाहके लिए रथपर आरूढ़ होकर जा रहे हैं, पथपर मानव समूह उमड़ा हुआ है, विशेषता तो यह थी कि सभीके मुखपर हर्षोल्लासके भाव झलक रहे थे, रथके पास पशु-दल रुद्ध था, आश्चर्यान्वित भावोंका व्यतिकरण पशुमुखोंपर बहुत अच्छे ढंगसे व्यक्त किया गया था, ऊपरके भागमें रथ पर्वतकी ओर प्रस्थित बताया है। इस प्रकारके भावोंकी स्थिति अन्यत्र भी मैंने देखी है, पर इसमें तो और भी विशिष्ट भाव थे, जो

अन्यत्र शायद आजतक उपलब्ध नहीं हुए। यही इनकी विशेषता है। ऊपरके भागमें भगवान्‌का लोच बताया है, देशना भी है और निर्वाण-महोत्सव भी, दक्षिण कोनेपर राजिमतीकी दीक्षा—गुफामें कपड़े सुखानेका दृश्य सुन्दर है, इतने भावोंका व्यतिक्रण जैनकलाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व रखता है। इसका उदाहरण देनेका एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहाँ कहीं प्राप्त हों, तुरन्त फोटू तो उतरवा ही लेना चाहिए।

राजगृह-निवासी श्रीयुत बाबू कनैयालालजी श्रीमालके संग्रहमें एक प्रस्तर पट्टिका सुरक्षित है। इसके निम्नभागमें भगवान् महावीरकी प्रतिमा है। ऊपरके भागमें एक भावशिल्प है। इसमें एक महिला चारपाईपर लेटी है। परिचारिकाएँ सेवामें उपस्थित हैं। महिलाका उदर कुछ उठा हुआ-सा है और ऊपर भागमें चौदह स्वप्न हैं। इसका सम्बन्ध भगवान् महावीरके चरित्रसे जान पड़ता है। महिला उनकी माता त्रिशला है, गर्भावस्थाका यह दृश्य है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल और स्व० बाबू पूर्णचन्द नाहरने इसका समय १० शती स्थिर किया है। ऑरियण्टल कांफरेन्स पटना अधिवेशनसे लौटते समय उन्होंने इसे देखा था।

मुग़लकालीन जैनमन्दिरोंमें जालियोंका खुदाव बहुत सूक्ष्म पाया जाता है, और मन्दिरके अग्रभागमें मीनार भी है। मीनारका कारण बताया जाता है कि मुग़लोंके आक्रमणसे वह बच जाता था। मस्जिद समझकर भंजक आगे बढ़ जाते हैं। जालियोंका खुदाव काल विशेषकी देन है। मैंने बनारसमें २-३ जालियाँ देखी है जो भेलूपुरकी दादावाड़ीमें लगी हुई हैं। कलाकी दृष्टिसे ये जालियाँ उत्कृष्ट हैं। इसका भास्कर्य इतना सूक्ष्म है कि वेल और पुष्पोंकी नसें तथा मध्यभागमें पड़नेवाली प्रतिच्छाया तकके भाव सफलतापूर्वक उकेरे गये हैं। सभी जालियोंका खुदाव बोर्डर्स पृथक्-पृथक् है। इनकी सुकुमार रेखाओंपर कोई भी मुग्ध हो सकता है। इसका रचना-काल औरंगजेबके बादका नहीं हो सकता। इन जालियोंको प्राप्त करनेके लिए वहाँके एक कलाप्रेमी सज्जनने

चेष्टा की, पर जैनसमाजने अपने अधिकारमें रखना ही उचित समझा, जब हमारे गुरुमन्दिरमें वह चीज़ लगी है, तो व्यर्थ ही क्यों निकाली जाय।

जैनाश्रित भावशिल्पकी अखण्ड परम्पराका इतिहास यद्यपि आज हमारे सामने नहीं है, पर एतद्विषयक सामग्री प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध है। मानव समाजको स्थायी शान्तिकी ओर आकृष्ट करना ही इसका विशिष्ट उद्देश्य है। भाव-शिल्पका विषय भले ही जैन हो, पर वह साम्प्रदायिकतासे ऊपर उठी हुई वस्तु है। नैतिकता और परम्पराके ये प्रतीक रस और सौन्दर्यकी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनमेंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द क्षणिक नहीं है। वह आत्मिक भावनाओंको जाग्रत करता है, स्वकर्त्तव्यकी ओर उत्प्रेरित करता है। इसलिए कि वह गुणप्रधान है।

भावशिल्पमें भोगासनोंका समावेश अनुचित न होगा। कुछ लोगोंने यह समझ रखा है कि इस प्रकारकी आकृतियाँ, तान्त्रिक परम्पराकी देन है। पर वास्तविक बात कुछ और ही है। एक समय था, प्रत्येक धर्म-मन्दिर और तीर्थोंमें इस प्रकारकी आकृतियाँ बनाई जाती थीं। विचारनेकी बात है कि जिस विकारात्मक दृष्टिकोणसे आजकी जनता उसे देखती है, क्या, वही दृष्टिकोण उन दिनों भी था? मुझे तो शंका ही है। कलाकार अपनी कृतियोंके निर्माण-समय कृतिके गुण-दोषपर ध्यान नहीं देता पर अपने भावोंको—आकृतिका बाह्य स्वस्थ—सौन्दर्यको, विविध कल्पनाओं द्वारा किसी भी प्रकारके माध्यमसे व्यक्त करनेमें, अर्थात्—आनन्दकी सफल सृष्टि करनेमें तल्लीन रहता है, वह अपनी कोई भी कृति जगत्को प्रसन्न करनेके लिए नहीं बनाता। पर आनन्दमें उन्मत्त होकर जब वह सौन्दर्यसे परिप्लावित हो उठता है, तब सहसा अपने आनन्दमें जगत्को भी तदनुरूप बनानेकी चेष्टा करता है। वस्तुनिर्माण होनेके बाद आलोचनाका प्रश्न खड़ा होता है।

जैनमन्दिरोंमें उपर्युक्त कोटिकी आकृतियाँ पाई जाती हैं, वे केवल सामयिक शिल्पकलाकी प्रतिच्छाया नहीं है। शत्रुंजय, आबू, तारंगा, राणकपुरमें खुले या छिपे तौरपर भोगासन पाये जाते हैं। आरंग (जिला

रायपुर, मध्यप्रदेश) के जैनमंदिरका पूरा शिखर ऐसे आसनोंसे भरा पड़ा है, संभव है इसीलिए इसे 'भाण्डदेव,का मन्दिर कहते रहे होंगे। ऐसी स्थितिमें कैसे कहा जा सकता है कि भोगासन प्रतिमाएँ शिल्पियोंने आँख बचाकर बना दी होंगी। लोगोंका खयाल रहा है कि इनके रहनेसे दृष्टि-दोष टल जाता है। इनके विषयमें अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण समालोचकोंने मन्दिर-निर्माता व शिल्पियोंको खूब भला-बुरा कहा है। पर यथार्थमें इन अश्लील मूर्त्तियोंका प्रयोजन मन्दिरोंकी वज्रपातादिसे रक्षा करना भी रहा है। इसके समर्थनमें निम्न श्लोक रक्खे जा सकते हैं।

वज्रपातादिभीत्यादिवारणार्थं यथोदितम्।
शिल्पशास्त्रेऽपि मण्यादिविन्यासं पौरुषाकृतिम्॥
(उत्कलखण्ड)

अधःशाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत्।
मिथुनै रथवल्लीभिः शाखाशेषं विभूषयेत्॥
(अग्निपुराण)

मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्[1]।
(बृहत् संहिता)

६ लेख

आजके युगमें यह बताना नहीं पड़ेगा कि प्राचीन लेखोंका क्या महत्त्व है। इतिहास और पुरातत्त्वका विद्वान् शिलोत्कीर्ण लेखोंकी उपेक्षा नहीं कर सकता, कारण कि तात्कालिक घटनावलियोंको जानने-का सर्वाधिक विश्वस्त साधन लेख ही है। साहित्यादिमें अतिशयोक्ति-को स्थान मिल सकता है, पर लेखोंमें यह बात सम्भव ही नहीं। वहाँ तो सीमित स्थानमें ही सूत्ररूपसे मौलिकवस्तु उपस्थित करनी पड़ती थी।

---

[1]—"कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अङ्क, पृष्ठ ६६७। भरत "नाट्य शास्त्र" 'राजधर्मकौस्तुभ' आदि ग्रन्थोंसे भी ऐसी आकृतियोंका समर्थन होता है।

जैन-संस्कृतिका सार्वभौमिक महत्त्व इन्हीं लेखोंके गंभीर अनुशीलनपर निर्भर है। स्थूल रूपसे उपलब्ध लेखोंको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है :—

१ शिलोत्कीर्ण लेख

२ प्रतिमापर खुदे लेख

सापेक्षतः प्रथम भागके प्राचीन लेख कम मिलते हैं। पुरातन शिला-लिपिमें सर्वप्रथम ज़िक्र उस लेखका आता है जो वीर नि०सं० ८४में लिखा गया था[1]। महामेघवाहन खारवेलका लेख भी जैन-इतिहासपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। उदयगिरि-खंडगिरिमें और भी प्राकृत लेख उपलब्ध हुए हैं, जिनका सामूहिक प्रकाशन पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजीने किया है। मथुराके जैनलेख तो हमारी अमूल्य सम्पत्ति हैं। डा० जाकोबीने इन्हींके आधारपर जैनागमोंकी प्राचीनता स्वीकार की है। भाषाविज्ञान, इतिहास और समाजविज्ञानकी दृष्टिसे भी इनका विशेष महत्त्व है। पर अद्यावधि इनपर जितना भी कार्य हुआ है, वह आंग्लभाषामें है और थोड़ा भ्रमपूर्ण भी। कलकत्ताके स्व० बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरने इनका पुनर्निरीक्षण किया था, तथा स्मिथकी भूलोंको परिष्कृत कर, समस्त लेखोंके पाठोंको शुद्ध किया था, पर उनके आकस्मिक निधनसे महान् कार्य स्थगित हो गया। जैनसाहित्यमें मथुराविषयक जहाँ-कहीं भी उल्लेख आया है, उन सभीको आपने एकत्र कर, महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित कर रखी थी।

---

[1]—स्व० काशीप्रसाद जायसवालने उसे यों पढ़ा है—

विराय. भगवत···८४ चतुरासितिवसे···

जाये सालिमालिनिये रं निविथ माझिमि के॥

भारतका सर्वप्राचीन संवत्-सूचक लेख है। इस लेखसे स्पष्ट है कि उन दिनों राजस्थानमें भगवान्के भक्त विद्यमान थे।

गुप्तकाल भारतमें स्वर्णयुग माना जाता है। जैनसंस्कृति और इतिहासपर प्रकाश डालनेवाले इस युगके लेख नहींके समान मिलते हैं, उदयगिरि (भेलसा) का लेख अवश्य महत्त्वपूर्ण है, जो ऊपर आ चुका है। कुछेक मूर्तियोंपर भी लेख मिले हैं।

हाँ, इस युगकी विशेष सामग्री 'चूर्णियाँ' व "भाष्य" हैं, जिनका महत्त्व भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे अधिक है, कारण कि उनमें वर्णित अधिकतर घटनाएँ इतिहाससे साम्य रखती हैं।

गुप्तोत्तरकालीन लेख-सामग्री प्रचुर है। दक्षिण और उत्तर-पश्चिममें जैनोंका प्राबल्य था। श्रवणबेल्गोलाकी ओर पाये जानेवाले लेखोंकी लिपि कर्णाटकी-कनाडी है। दक्षिणभारतके कुछ महत्त्वपूर्ण लेखोंका प्रकाशन विस्तृत भूमिका सहित डॉ० हीरालालजी जैनके सम्पादकत्वमें हो चुका है। यद्यपि इसमें केवल श्रवणबेल्गोला एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानों का ही समावेश है, फिर भी उस ओरके इतिहासपर, इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है।

दक्षिण भारतके लेखोंका संग्रह प्रकाशित करवानेका यश मि० ई० हुलश, जे० एफ० फ्लीट व लूइस राईस आदि विद्वानोंको मिलना चाहिए। इन्होंने कठिन श्रमद्वारा, दक्षिणके कोने-कोनेसे संकलन कर 'साउथ इंडिया इन्स्क्रिप्शन' इंडियन एन्टीक्वेरी, 'एपिग्राफिया कर्णाटिका' आदि ग्रन्थोंमें प्रकट किये। ये अधिक संस्कृत या पुरानी कन्नड़ भाषामें थे। कर्णाटकमें जैनलेखोंकी अधिकता है, क्योंकि जैनइतिहासकी कुछ घटनाएँ इस भूभाग-पर भी घटी हैं। मेरा तो विश्वास है कि यदि जैनलेखोंको कर्णाटकीय ऐतिहासिक साधनोंसे पृथक् कर दिया जाय, तो वहाँका इतिहास ही अपूर्ण रहेगा। इसका कारण यह है कि जैनाचार्योंने वहाँ पर इतना प्रभाव जमा रखा था, कि जनता उनको अपना ही व्यक्ति मानती थी। मथुराके लेखोंपर डॉ० फुहरर व डॉ० बूलरने अच्छा प्रकाश डाला है। जैन-लेखोंका वर्गीकरण डॉ० गिरनाटने १९०८में किया था।

पश्चिम भारतकी ओर पाये जानेवाले लेख देवनागरीमें हैं। इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि कई भागोंमें प्रकाशित किये जा सकते हैं। मध्यकालमें चापोत्कट, चौलुक्य और बाघेलाके राज्यमें जैनोंका स्थान बहुत ऊँचा था। राजा भी जैनधर्मको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। जैसलमेर,[१] राजगृह,[२] शत्रुंजय,[३] राणकपुर[४] गिरनार,[५] हथूंडी,[६] आबू,[७] देवगढ़,[८] आदि स्थानोंपर मूल्यवान् शिलालिपियाँ मिलती हैं। इनमेंसे बहुतोंका प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका तथा इंडियन एण्टीक्वेरी' तथा पुरातत्त्व विभागकी वार्षिक कार्यवाही एवं "प्राचीन लेखमाला" हिस्टोरिकल इन्स्क्रिपशन्स आफ गुजरात भा० १, २, ३में छपे हैं। इनके अतिरिक्त बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर[१], राजस्थान पुरातत्त्व विभागके डाइरेक्टर

---

[१]जैन-लेख-संग्रह-जैसलमेर भा० ३।

[२]"महत्तियाण वंश प्रशस्ति"।

[३]ई० स० १८८८-८९ में पुरातत्त्व विभागने यहाँके लेख लिये थे, उनमें से कुछेकका प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका भाग २ में हुआ है।

[४]आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया १८७-८।

[५]रिवाइज्ड लीस्ट्स आफ एन्टीक्वेरीयन रीमेन्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेंसी, वा० ८ और आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वा० २।

[६]एपिग्राफिया इंडिका वा०।

[७]एपिग्राफिया इंडिका वा०८ और "कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स" तथा "एशियाटिक रिसर्चेज" वा० १६ "अर्बुदाचल जैन लेख संग्रह"।

[८]देवगढ़में जैन-पुरातन-अवशेषोंकी प्रचुरता है। यहाँके२००से ऊपर लेख भारतीय पुरातत्त्व विभागने लिये हैं।

[१]जैन-लेख-संग्रह भा० १—२—३।

मुनि जिनविजयजी,[१] विजयधर्मसूरि,[२] नन्दलालजी लोढ़ा,[३] डा० भोगीलाल सांडेसरा,[४] मुनि श्री पुण्यविजयजी,[५] श्रीयुत अगरचन्द्रजी व भँवरलाल नाहटा,[६] आचार्य विजयेन्द्रसूरि,[७] डा० डी०आर० भांडारकर,[८] बुद्धिसागर-सूरि,[९] श्री साराभाई नवाब,[१०] बाबू कामताप्रसादजी जैन,[११] जैनाश्रित-कलाके अनन्य उपासक बाबू छोटेलालजी जैन,[१२] श्रीप्रियतोष बैनरजी एम० ए०,[१३] (पटना) आदि विद्वानोंने जैनलेखोंको प्रकाशमें लानेका पुनीत कार्य किया है। इन पंक्तियोंके लेखकका "जैनधातुप्रतिमा लेख संग्रह" प्रकाशित हुआ है। जैन-सिद्धान्तभास्कर, अनेकान्त, जैनसत्यप्रकाश आदि पत्रोंमें प्रतिमा-लेख प्रकट होते ही रहते हैं।

---

[१] प्राचीन जैन लेख संग्रह भा० १—२।

[२] धातुप्रतिमा लेख संग्रह भा० १।

[३] श्रीजैनसत्यप्रकाशकी फाइलोंमें आपने मालवाके लेख प्रकट करवाये हैं।

[४] फार्ब्स सभाके त्रैमासिकमें धातु मूर्तियोंके लेख छपे हैं।

[५] वैयक्तिक संग्रहमें है।

[६] बीकानेरके २५०० लेखोंका संग्रह किया है, जो प्रेसमें हैं।

[७] निजी संग्रहमें काफी लेख हैं।

[८] भारतीय पुरातत्त्व विभागकी वार्षिक कार्यवाहीमें प्रकाशित।

[९] जैनधातु प्रतिमा लेख संग्रह भाग १—२।

[१०] आपने भारतके सभी प्रांतोंके लेखोंका अच्छा संग्रह किया है।

[११] जैन प्रतिमा लेख संग्रह।

[१२] जैन प्रतिमा लेख संग्रह।

[१३] आपने जैन लेखोंका संग्रह किया है और उनपर विवेचना भी की है, विशेषकर प्राचीन लेखोंपर अपने महानिबन्ध (थीसिस) में एक प्रकरण ही लिखा है।

प्रतिमा-लेखोंकी चर्चा भी आवश्यक है। इसे भी दो भागोंमें बाँट देना समुचित प्रतीत होता है।

प्रस्तर और धातुप्रतिमा

मौर्यकालीन जैन-प्रतिमाएँ लेख रहित हैं। कुषाण कालीन सलेख हैं। गुप्तकालीन कुछ प्रतिमाओंपर लेख खुदे हुए पाये हैं[1]।

बहुसंख्यक पुरानी प्रस्तरप्रतिमा लेख रहित ही उपलब्ध हुई हैं, उनकी निर्माणशैलीसे उनका कालनिर्णय किया जा सकता है। १०वीं शताब्दीके बादकी मूर्तियाँ प्रायः लेखयुक्त रहती थीं। ये लेख मूर्तिके अग्रभागके निम्नभागमें लिखे जाते थे, पर स्थापना करते समय सीमेंट आदि पदार्थ लग जानेसे उनके लेख आधेसे अधिक तो नष्ट हो जाते हैं। पीछेके लेख अनुभवी ही, दर्पणके सहारे पढ़ पाते हैं। उस ओर परम्परा और संवत्-का ही निर्देश रहता है। हाँ, कुछेक लेख ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए हैं, जिनसे समसामयिक घटनापर भी प्रकाश पड़ जाता है। पर ऐसे लेख कम हैं।

प्राप्त लेखोंके आधारपर धातुप्रतिमाओंका इतिहास मैंने गुप्तकालके लगभगसे माना है। उस युगकी मूर्तियाँ लेखवाली हैं। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाएँ दोनों प्रकारकी मिलती हैं। ८वीं शतीके बाद तो इनपर लेखका रहना आवश्यक हो गया था। तदनन्तर धातुमूर्तियोंका निर्माण काफी हुआ।

धातुप्रतिमाओंपर जो लेख मिल रहे हैं, उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर और ग्रन्थलेखककी स्मृति दिलाती है। भारतीय लिपियोंके क्रमिक विकासके अध्ययनमें इनकी उपयोगिता कम नहीं है, कारण कि जैनोंको छोड़ कर भिन्न-भिन्न शताब्दियोंके लेख व्यवस्थित रूपसे अन्यत्र मिलेंगे कहाँ? इन लेखोंकी विशेष उपयोगिता जैन-इतिहासके लिए ही है, तथापि कुछ लेख ऐसे मिले हैं, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यको लिये हुए हैं।

---

[1] "इम्पीरियल गुप्त" और "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स" श्री राखालदास बैनरजी और फ्लीट।

प्रसंगवश एक बातका उल्लेख अवश्य करूँगा कि श्वेताम्बर समाजने अपनी मूर्तियोंके लेख लेकर कई संग्रहोंमें प्रकट किये, परन्तु दिगम्बर समाज अभीतक सुसुप्तावस्थामें ही है। आजके युगमें जैन-इतिहासके इस महत्त्वपूर्ण साधनकी ओर उपेक्षा-भाव रखना उचित नहीं।

चरणपादुका और यंत्रोंके लेख सामान्य ही होते हैं। जैनलेखोंसे अपरिचित विद्वान् अक्सर यह शंका उठाते हैं कि, उनकी उपयोगिता जैन-समाज तक ही सीमित है, परन्तु मैं इस बातसे सहमत नहीं हूँ। मैंने पश्चिम भारतके कुछ लेखोंका विशेष दृष्टिकोणसे अध्ययन किया है। मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि उनमें राजनैतिक और सामाजिक लोक-जीवनकी बहुमूल्य सामग्री है। राजा महाराजाओंके नामोंसे ही तो उनकी सीमाका समुचित ज्ञान होता है। किसका अस्तित्व कबतक था, कहाँतक शासनप्रदेश था, कौन मंत्री था, वह किस धर्मका था, उसने कौन कौनसे सुकृत किये, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका पता जैनलेखोंसे ही चलता है। लोकजीवनकी चीजें भी वर्णित हैं, जैसे कि पायली-प्रादेशिक नाप, प्रचलित सिक्के आदि अनेक व्यवहारिक उल्लेख भी है। कामरांका बीकानेरपर आक्रमण किसी भी इतिहाससे सिद्ध नहीं है, पर जैनप्रतिमा लेखमें यह घटना खुदी है[१]।

अन्वेषण

आज हमारे सम्मुख जैनपुरातत्त्वका प्रामाणिक व शृंखलाबद्ध सविस्तृत इतिहास तैयार नहीं है। यह बड़े खेदकी बात है, परन्तु इसके साधन ही नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यों तो आंग्लशासनकी ओरसे, समुचित रूपसे शासन चलानेके लिए या नवीन आंग्ल अधिकारी शासित प्रदेशसे परिचित हो जायें, इस हेतुसे प्रायः भारतके स्वशासित

---

[१] राजस्थानी वर्ष १ अं०—१—२, पृ० ५४।

ज़िलोंके 'गज़ेटियर' तैयार करवाये गये थे। इनमें प्रासंगिक रूपसे कुछ अंशोंमें उस ज़िलेके पुरातत्त्वपर, सीमित शब्दावलीमें प्रकाश डाला गया है—जैन-पुरातत्त्वपर बहुत कम। यह कार्य प्रायः अंग्रेजोंद्वारा ही सम्पन्न हुआ, जो जैनधर्म व संस्कृतिसे अपरिचित-से थे। ऐसे ही गज़ेटियरोंके आधारपर स्वर्गीय ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीने 'प्राचीन जैन-स्मारक' शीर्षक कुछ भाग प्रकाशित कर, जैनसमाजका ध्यान अपनी कलात्मक विरासतकी ओर आकृष्ट किया था। ब्रह्मचारीजीका यह कार्य अनुवाद-मूलक है। उनके अनुभवका समुचित उपयोग, यदि इन अनुवाद परक भागोंमें हुआ होता, तो निस्सन्देह कार्य अति सुन्दर होता और अंग्रेजोंकी ग़लतियोंका परिमार्जन भी हो जाता।

पुरातत्त्वका अध्ययन सापेक्षतः अधिक श्रमसाध्य विषय है। चलती भाषामें इसे 'पत्थरोंसे सर फोड़ना' या 'गड़े मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं। बात ठीक है। जबतक मनुष्य अपना समुचित बौद्धिक विकास नहीं कर लेता, तबतक वह अतीतकी ओर झाँकनेकी क्षमता नहीं रखता। अन्वेषक, यदि अध्ययनीय या गवेषकीय विषयकी सार्वभौमिक उपयोगिताको समझ ले, तो विषय-काठिन्यका प्रश्न ही नहीं उठता, मुझे तो लगता है कि मानसिक दौर्बल्यजनित वैचारिक परम्परा, अन्वेषणकी ओर, जैनयुवकोंको उत्प्रेरित नहीं कर सकी।

रूसके सुप्रसिद्ध लेखक मेक्सिमगोर्की सोवियत लेखक समुदायके सन्मुख अपने भाषणमें कहता है "लेखकोंको मैं कहता हूँ कि रूसके प्राचीन इतिहासमेंसे युग-युगके स्तरोंको खोजो और मैं विश्वास दिलाता हूँ कि इनमेंसे आपको भरपूर लेखन-सामग्री उपलब्ध होगी।" मैं कुछ परिवर्तनके साथ कहना चाहूँगा कि भारतवर्ष हजारों वर्षोंके इतिहास, सभ्यता और संस्कृतिका भव्य खंडहर है। इसकी खुदाईका, इसकी गवेषणाका अन्त नहीं है। इसके गर्भमें हमारे पूर्वजोंकी कीर्तिको उज्ज्वल करनेवाले प्रेरक व पोषक सांस्कृतिक अवशेष पड़े हुए हैं। इनपर जमे

हुए मिट्टीके थरोंको सत्यशोधक वृत्ति द्वारा अलग करनेका प्रयास किया जाय, तो न केवल प्रचुर लेखन सामग्री ही उपलब्ध होगी, अपितु हमारा विमल अतीत भी भविष्योन्नतिका कारण होगा।

जैन-पुरातत्त्वकी सभी शाखाएँ समृद्ध हैं, क्या शिल्प-कृतियाँ, क्या चित्र-कला, क्या मूर्ति-कला, क्या शिला व ताम्र-लिपियाँ और क्या ग्रन्थस्थ वाङ्मय आदि अनेक शाखाओंमें प्रचुर अन्वेषणकी उत्साहप्रद सामग्री विद्यमान है। इनके अन्वेषणार्थ सम्पूर्ण जीवन समर्पित करनेकी आवश्यकता है। पुरातन वस्तुओंमें फैली हुई उच्च कोटिकी सांस्कृतिक व कलात्मक परम्पराके आन्तरिक मर्मको समझनेके लिए, तदनुकूल जीवन व चित्तवृत्ति अपेक्षित है। विशाल वाचन एवं गम्भीर तुलनात्मक, निष्पक्ष, निर्णायक वृत्तिके बाद ही यह कार्य सम्भव है। पार्थिव आवश्यकताओंमें जन्म लेनेवाली कलाको, भावुक हृदय ही आत्मसात् कर सकता है।

एक विद्वान् लिखते हैं—कि

"इतिहासके स्रष्टा तो गये, पर सृजित इतिहासको एकत्र करनेवाले भी उत्पन्न नहीं होते। अपनी ही मिट्टीमें अपने रत्न दबे पड़े हैं। उनको हमने अपने पैरोंसे रौंदा। इनको चुननेके लिए समुद्रके उस पारसे, 'टाड' 'फॉर्ब्स' 'ग्रोस' 'कनिंघाम' आदि आये। वे इतिहास गवेषणाके लिए नियुक्त नहीं हुए थे, पर वे अपने राजकीय-कार्यके बाद अवकाशके समय यहाँ की प्रेम-कथाएँ व शौर्य-कथाओंसे प्रभावित हुए, इनका स्वर उनके कानोंमें पड़ा। उसी पुकारने उनके हृदयमें शोधक बुद्धि उत्पन्न की।"

भा० पुरातत्त्वान्वेषणका इतिहास

वॉरन हेस्टिंग्सके समयसे पुरातत्त्वान्वेषणका इतिहास प्रारम्भ होता है। ईस्ट इंडिया कम्पनीकी सेवाके लिए आनेवाले अंग्रेजोंमें मिस्टर 'विलियम जॉन्स' भी थे। इनके द्वारा एशियामें सभी प्रकारके अन्वेषणका सूत्रपात हुआ। शकुन्तला और मनुस्मृतिके अंग्रेजी अनुवादने यूरुपमें

तहलका मचा दिया था। सन् १७८४ में एशियाटिक सोसायटीकी, इनके सद् प्रयत्नोंसे स्थापना हुई। इसमें चीन, ईरान, जापान, अरबस्तान और भारतके साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज और विज्ञान आदि विषयोंपर प्रकाश डालनेवाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका संकलन कर, नवस्थापित सोसायटीके सदस्योंको उन विषयोंके अध्ययनके लिए प्रेरित किया। दश वर्षोंका अध्ययन समितिके मुखपत्र एशियाटिक रिसर्चेसके १७८८–१७६७ तकके प्रकाशित ५ भागोंमें सुरक्षित है। इस कालमें चार्ल्स विल्किन्सने बहुत मदद दी थी। इसीने प्रथम देवनागरी और बँगलाके टाइप बनाये।

सन् १७६४ में सर विलियम जॉन्सके अवसानके बाद हेनरी कॉलब्रुकने बागडोर सम्हाली। इसने भारतके माप, समाजविज्ञान, धार्मिक परम्परा, भाषा, छन्द आदि विषयोंपर प्रकाश डालकर, यूरोपीय विद्वानोंका ध्यान, भारतीय विद्यापर आकृष्ट किया, जब वे लन्दन गये, तब वहाँ भी आपने अपनी ज्ञानोपासना जारी रखी और "रायल एशियाटिक सोसायटी" की स्थापना की। इसने जैनधर्मपर भी निबन्ध लिखा, जो भ्रामक था।

सन् १८०७ में मार्किवस वेलस्लि बंगालमें उच्चपदपर नियुक्त हुए, वहाँपर आपने दिनाजपुर, गोरखपुर, शाहाबाद, भागलपुर, पूर्णिया, रंगपुर आदिपर गवेषणा कर, नवीन तथ्य प्रकाशित किये।

पश्चिमीय भारतकी केनेरी व ओरिसाकी हाथी गुफाओंका वर्णन "बोम्बे ट्रान्जेक्शन" में, क्रमशः साल्ट व रसकिन द्वारा लिखित प्रकाशित हुए। दक्षिण भारतपर 'टामस डनियल' ने कार्य प्रारंभ किया, उसी समय वहाँ कर्नल मेकेन्जीने पुरातत्त्वका अध्ययन शुरू किया। ये केवल ग्रंथ व लेखोंके संग्राहक ही न थे, पर अध्ययनशील पुरुष थे। अभीतक लेख संग्रहीत तो हुए, पर लिपिविषयक ज्ञान अत्यन्त सीमित था। भारतीय पुरातत्त्वान्वेषणके महत्त्वपूर्ण अध्यायका प्रारंभ १८३७ ईस्वीमें हुआ। इस बीच राजस्थान व सौराष्ट्रमें (सन् १८१८–१८२३) कर्नल जेम्स टाडने कुछ लेखोंका पता लगाया, जो खरतरगच्छके यशस्वी यति

ज्ञानचन्द्रजीने[1] पढ़े। सन् १८२८ में मि० बी० जी० बेबींग्टनने तामिल लेखोंपरसे वर्णमाला तैयार की। १८३४ से १८३७ तक ट्रायर व डामिले द्वारा क्रमशः समुद्रगुप्त व भिटारीके स्कन्दगुप्तवाले लेख प्रकट हुए। इन दोनोंके श्रमसे गुप्तकालीन वर्णमाला तैयार हुई। १८३५ में, बोथने वलभीके दानपत्र पढ़े। जेम्स प्रिन्सेपने भी सन् १८३७-३८ में गिरनार दिल्ली, कमाऊँ, अमरावती और साँचीके गुप्त लेख पढ़े।

सूचित समयके अन्दर अँग्रेजोंने भारतीय स्थापत्य व लेख पर विद्वत्ता-पूर्ण गवेषणाएँ कीं। कई लेख पढ़ डाले, जिनमें साँची, प्रयाग, गिरनार, मथिया, धौली, रधिया, आदि मुख्य हैं। इस बीच कुछ स्तूपोंकी खुदाई हो चुकी थी। ब्राह्मी लिपिका ज्ञान भी काफी हो गया था। इस कालमें जेम्स प्रिन्सेपका भाग मुख्य रहा। इसके बाद ३० वर्ष तक पुरातत्त्वका पूर्ण सूत्र विख्यात स्थापत्य शोधक व आलोचक जेम्स फरगुसन, मेजर किट्टो,

---

[1] ज्ञानचन्द्र जयपुरके खरतरगच्छके यति अमरचंदके शिष्य थे। भाषा-कविताके अच्छे ज्ञाता होनेके अतिरिक्त उन्हें संस्कृतका भी ज्ञान था। इस कारण कर्नल टॉड उनको अपना गुरु मानकर सदा अपने साथ रखते। टॉडके राजस्थान तथा ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डियामें जितने शिला-लेखों और ताम्रपत्रोंका उल्लेख मिलता है, वे सब उन्होंने ही पढ़े थे। वे ई० सन्‌की १० वीं शताब्दीके आसपासके शिलालेखोंको पढ़ लेते थे, परन्तु प्राचीन शिलालेख उनसे ठीक नहीं पढ़े जाते थे। संस्कृतका ज्ञान भी साधारण होनेके कारण कहीं-कहीं उनमें त्रुटियाँ रह गईं, जो टॉडके ग्रंथोंमें ज्यों-की-त्यों पाई जाती हैं। कर्नल टाडने महाराणा भीमसिंहसे सिफारिश कर उनको बहुत-सी ज़मीन दिलाई। उनका उपासरा मांडल नामक क़स्बेमें है, जहाँ टॉडके समयकी कई एक पुस्तकों, चित्रों तथा शिलालेखोंकी नक़लें विद्यमान हैं।

(श्री हरविलास सारदा "भारतीय अनुशीलन", पृ० ७७)

एडवर्ड टामस, अलेक्ज़ेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, डा० भाउ दाजी और डा० भगवान्लाल इन्द्रजी आदि विज्ञोंके हाथमें रहा। भारतीय शिल्प-स्थापत्य-कलाके प्रारम्भिक इतिहासमें फरगुसनका नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है। आपके ग्रन्थ ही इस विषयपर समुचित प्रकाश डालते हैं। आपने जैनतीर्थों, मन्दिरों व गुफाओंपर भी प्रकाश डाला है, यद्यपि उनके परिचय और समय निश्चित करनेमें उचित साधनोंके अभावमें कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण स्खलनाएँ भी रह गई हैं, पर इनसे उनके कार्यका महत्त्व लेशमात्र भी कम नहीं होता। कहा जाता है कि इनका स्थापत्य विषयक ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा था कि किसी भी इमारतको देखते ही, सामान्यतः निश्चयपर पहुँच जाते थे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी, वेधक व निर्णायक थी। इस महत्त्वपूर्ण और अभूतपूर्व कार्यमें उनको सफलता मिलनेका एकमात्र कारण यही था कि वे चित्रकलाके पण्डित थे। जन्मजात कलाकार थे। आपने कतिपय स्थानोंके चित्र व स्केच अपने हाथों तैयार किये थे। टामस व स्टिवेन्सनने मुद्राएँ व लेखोंपर अपनी दृष्टि केन्द्रित की।

डा० भाउ दाजीने अनेक शिलालिपियाँ पढ़ीं, और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका संग्रह किया, जो वर्तमानमें रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बोम्बेमें उन्हींके नामसे सुरक्षित हैं। इस संग्रहमें अनेक महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ भी संकलित हैं। शिलालिपियोंके पठनमें आपने डा० भगवानलाल[1] इन्द्रजीसे बहुत मदद ली थी। यह प्रथम सौराष्ट्री थे, जिनने पुरातत्त्वान्वेषण, विशेषतः लिपिशास्त्रमें अद्वितीय प्रतिभा व शोधक बुद्धि प्राप्त की थी।

---

[1] इनकी प्रखर प्रतिभाका लाभ विदेशी विद्वानोंने अधिक उठाया। डा० बूलनर, जेम्स केम्बेल, प्रो० कर्न, और डा० रामकृष्ण भाण्डारकर जैसे विज्ञोंने इतिहास-संशोधन व लिपिशास्त्रमें अपना गुरु माना था। अपने ग्रन्थोंमें उपकार स्वीकृत किया है। आज गुजरातमें जो एतद् विषयक अन्वेषक हैं, वे आप ही की परम्पराके ज्वलन्त प्रतीक हैं।

खारवेलका जैन लेख इन्होंने ही शुद्ध किया था। इस प्रसङ्गमें डा० राजेन्द्र-लाल मित्रको नहीं भुलाया जा सकता। आपने पुरातत्त्वानुसन्धानके साथ नेपालके साहित्य और इतिहासका विस्तृत ज्ञान कराया।

पुरातत्त्व-विभागकी स्थापना

अभीतक जिन विद्वानोंने भारतीय पुरातत्त्व, इतिहास और साहित्य विषयक जितने भी कार्य किये, वे वैयक्तिक शोधकरुचिका सुपरिणाम था। वे भले ही सरकारी अधिकारी रहे हों, पर शासनने कोई उल्लेखनीय सहायता न दी थी, न शासनकी इस ओर खास रुचि ही थी। क्या स्वतन्त्र भारतके अधिकारियोंसे वैसी आशा करूँ?

सन् १८४४में लण्डनकी रायल एशियाटिक सोसायटीने ईस्ट इण्डिया कम्पनीसे प्रार्थना की कि वह इस पवित्र कार्यमें मदद करे। पर इस विनतीका तनिक भी प्रभाव न पड़ा। कुछ काल बाद युक्त प्रान्तके चीफ इञ्जीनियर कर्नल कनिंघमने एक योजना शासनके सम्मुख उपस्थित की, और सूचित किया कि इस कार्यकी ओर शासन लक्ष नहीं देगा तो वह कार्य जर्मन या फ्रेंच लोग करने लगेंगे, इससे अंग्रेजोंके यशकी हानि होगी। तब जाकर आर्कियोलोजिकल सर्वे डिपार्टमेण्टकी सन् १८६२ में स्थापना हुई। कनिंघम साहबको इस विभागका सर्वेसर्वा बनाया गया—२५०) मासिकपर। आपने इस विभागद्वारा भारतीय पुरातत्त्वका जो कार्य किया है, वह अपनी २४ जिल्दोंमें प्रकाशित है। १८८५ तक आपने कार्य किया। जैनपुरातत्त्व व मूर्तिकलाकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मौलिक सामग्री इन २४ रिपोर्टोंमें भरी पड़ी है। आपको जैन-बौद्धके भेदोंका पता न रहनेसे, जैनपुरातत्त्वके प्रति पूर्णतया न्याय नहीं दे सके हैं, जैसा कि डा० विसेन्ट ए० स्मिथके इन शब्दोंसे ध्वनित होता है—

जैन-स्मारकोंमें बौद्ध-स्मारक होनेका भ्रम

"कई उदाहरण इस बातके मिले हैं कि वे इमारतें जो असलमें जैन हैं,

ग़लतीसे बौद्ध मान ली गईं थीं। एक कथा है जिसके अनुसार लगभग अठारह सौ वर्ष हुए महाराज कनिष्कने एक बार एक जैन स्तूपको ग़लतीसे बौद्ध स्तूप समझ लिया था और जब वे ऐसी ग़लती कर बैठते थे, तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि आजकलके पुरातत्त्ववेत्ता जैन इमारतोंके निर्माणका यश कभी-कभी बौद्धोंको देते हों। मेरा विश्वास है कि सर अलेक्ज़ेंडर कनिंघमने यह कभी नहीं जाना कि जैनोंने भी बौद्धके समान स्वभावतः स्तूप बनाये थे और अपनी पवित्र इमारतोंके चारों ओर पत्थर के घेरे लगाते थे। कनिंघम ऐसे घेरोंको हमेशा "बौद्ध घेरे" कहा करते थे और उन्हें जब कभी किसी टूटे-फूटे स्तूपके चिह्न मिले तब उन्होंने यही समझा कि उस स्थानका सम्बन्ध बौद्धोंसे था। यद्यपि बम्बईके विद्वान् पण्डित भगवानलाल इन्द्रजीको मालूम था कि जैनोंने स्तूप बनवाये थे और उन्होंने अपने इस मतको सन् १८६५ ईसवीमें प्रकाशित कर दिया था, तो भी पुरातत्त्वान्वेषियोंका ध्यान उस समय तक जैन-स्तूपोंकी खोजकी तरफ़ न गया जबतक कि ३० वर्ष बाद सन् १८९७ ई०में बुहलरने अपना "मथुराके जैन स्तूपकी एक कथा" शीर्षक निबन्ध प्रकाशित न किया"[1]।

कनिंघम साहबके रक्तशोषक श्रमजनित कार्योंने प्रमाणित कर दिया कि भारत प्राचीनतम कलात्मक प्रतीकोंका देश है और भविष्यमें भी गवेषणा अपेक्षित है। वे केवल खोज करके ही या विवरणात्मक रिपोर्ट लिखकरके ही संतुष्ट न हुए, अपितु महत्त्वपूर्ण स्थानोंकी समुचित रक्षाका भी प्रबन्ध करवाया। मेजर कॉलने इसमें अच्छी मदद की। तीन वर्षके प्रयत्न स्वरूप—

प्रिजर्वेशन ऑफ नेशनल मॉन्युमेण्ट्स ऑफ इण्डिया

नामक तीन रिपोर्टें प्रकाशित हुईं।

कनिंघम साहबने जो कार्य किये, उनके आधार चीनी पर्यटकोंके

---

[1] वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३४-३५।

विवरण थे। पुरातन अवशेषके अतिरिक्त आपने भूगोल व मुद्राओंपर प्रामाणिक और विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे। एंश्यंट जिओग्राफी ऑफ इण्डिया और ४ जिल्दें सिक्कोंपर प्रकट हो चुकी हैं। मथुराके जैन-अवशेषोंकी खुदाई आप व आपके सहयोगी डा० फुहरर द्वारा सम्पन्न हुई और स्मिथ द्वारा मूल्यांकन हुआ।

जब सन् १८८६में वे अवकाशपर गये तब विभागका पूरा भार डा० बर्जेसके कन्धों पर आ पड़ा। अब यह कार्य इतना व्यापक हो चुका था कि समुचित संचालनार्थ पाँच भागोंमें विभाजित करना पड़ा। डा० बर्जेसने जैनपुरातत्त्वपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। कनिंघमकी अपेक्षा आपने इस सम्बन्धमें भूलें कम कीं।

अब सरकारकी इच्छा नहीं थी कि यह विभाग अधिक दिन चलाया जाय। डा० बर्जेसके हटनेके बाद एक कमिशन इसके हिसाब जाँचनेके लिए बैठाया गया, कमिशनने कम व्यय करनेकी सिफारिश की। पाँच वर्ष बड़ी दीनतापूर्वक बीते। पर लार्ड कर्जनने पुनः इसमें प्राण संचार किया। और १ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया, अब डाइरेक्टर जनरलके आसनपर सर जोन मार्शल आये। १९०२से एक प्रकारसे भारतीय पुरातत्त्वके अन्वेषणमें नया युग प्रारम्भ हुआ, कार्यको गति मिली।

सर जॉन मार्शलने पूर्व गवेषित पुरातन स्थानोंका पर्यटन किया और उनकी तात्कालिक स्थितियोंका अध्ययन किया, जहाँ नवीन अवशेष निकलनेकी सम्भावना थी, वहाँपर खनन कार्य प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर मेगेस्थनीज़ और चीनी पर्यटकोंके विवरणके आधारपर निर्मित कनिंघम साहबकी भूगोलपरसे जैन व बौद्ध तीर्थोंका अनुसन्धान हुआ। राजगृह, मथुरा, सारनाथ, मिरखासपुर, भीटा, खाशिया, आदि नगरोंका अन्वेषण हुआ। वैशाली भी अभी ही प्रकाशमें आई। १९२४ तक नालन्दा, अमरावती, तक्षशिला आदि पुरातन नगरोंका ऐतिहासिक महत्त्व समझा गया। तक्षशिलाके जैनस्तूपोंको या मन्दिरोंको प्रकाशमें लानेका श्रेय सर जॉन

मार्शलको है। इसी वर्ष हरप्पा और मोहन-जो-दड़ोके खननने प्रमाणित कर दिया कि भारतीय संस्कृति और सभ्यताका इतिहास, प्राप्त साधनोंके आधारपर ५,००० वर्ष जाता है। अर्थाभावसे १९२७ में इस कार्यको स्थगित करना पड़ा।

जिन अंग्रेजोंद्वारा पुरातन गवेषणा विषयक कार्य चालू था, उस समय कुछ रियासतोंने भी अपने-अपने भूभागमें खोजका काम प्रारंभ किया। कहीं-कहीं तो पुरातत्त्व विभाग ही खोल डाला गया। ऐसे इतिहास-प्रेमी नरेशोंमें सर्वप्रथम नाम भावनगर-नरेश तख्तसिंहजीका आता है। सौराष्ट्र और राजपूतानाके आपने कई लेख एकत्र करवाये, जो बादमें "भावनगर प्राचीन शोधसंग्रह" भाग १ में सूर्यवंशी राजाओंसे सम्बद्ध कई लेख गुजराती व अंग्रेजी अनुवाद सहित तथा दूसरे भाग—"ए कलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स" में सौराष्ट्रके मौर्य, क्षत्रप, गुप्त, वलभी, गुहिल और गुजरातके चौलुक्योंके लेख, सानुवाद प्रकाशित हुए।

मायसोर व ट्रावनकोर स्टेटका दान भी उल्लेखनीय है। इनकी ओरसे क्रमशः दक्षिण भारतमें बहुत-से लेखों व मूर्तियोंपर प्रामाणिक ग्रन्थात्मक सामग्री प्रकाशमें आई। भोपाल, उदयपुर, ग्वालियर, बड़ौदा, जूनागढ़ और ईडर राज्योंने भी अपने-अपने भूभागोंका, अधिकारी विद्वानोंके पास अनुसन्धान करवाकर मूल्यवान् योग दिया। इन राज्योंके पुरातत्त्व-रिपोर्टोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन सामग्री भरी पड़ी है।

राज्यकी ओरसे तो विद्वान् कार्य करते ही थे, पर, कुछ विद्वान् ऐसे भी उन दिनों थे, जो बिना किसी अपेक्षा रखे, स्वतन्त्र रूपसे अन्वेषण कार्य करते रहे। पुरातत्त्व विभागमें भी बहुत-से ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, जिनकी खोजोंका महत्त्व है। ऐसे विद्वानोंमें ए० सी० एल० कार्लाईल, मि० गैरिक, डा० फुहरर व स्पूनर आदि मुख्य हैं।

श्रीयुत रायबहादुर के० एन० दीक्षितके समयमें प्रागैतिहासिक स्थानों-

का सफलता पूर्वक खनन हुआ। तदनन्तर ह्विलर डाइरेक्टर जनरल हुए और अभी श्रीमाधवस्वरूपजी वत्स हैं।

पुरातत्त्व-विभागकी संक्षिप्त कार्यवाही, जैन-अन्वेषणका मार्ग सरल बना देती है। पुरातत्त्व विभागीय रिपोर्टोंके अतिरिक्त रायल एशियाटिक सोसायटी लंदन और बंगालके जर्नल्स 'रूपम', इंडियन आर्ट ऐंड इण्डस्ट्री, सोसायटी आफ दि इंडियन ओरियंटल आर्ट, बंबई यूनिवर्सिटी, जर्नल आफ दि अमेरिकन सोसायटी आफ दि आर्ट, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इंडियन कल्चर आदि जर्नल्स भारतीय विद्या श्री जैन-सत्य प्रकाश, जैनसाहित्यसंशोधक, जैनएंटीक्वेरी, जैनिज्म इन नोर्दर्न इंडिया एवम् खोज विषयक समितियोंके जर्नल्स आदिमें जैन इतिहास व पुरातत्त्वकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है। केवल उपर्युक्त विवेचनात्मक विवरणोंके आधारपर जैन-पुरातत्त्वके इतिहासकी भूमिका तैयार की जा सकती है। जिस प्रकार गजेटियरोंके आधारसे प्राचीन जैन-स्मारककी सृष्टि हुई, तो क्या इतनी विपुल सामग्रीसे कुछ ग्रन्थ तैयार नहीं हो सकते? अवश्य हो सकते हैं। स्व० नाथालाल छगनलाल शाहने जैन-गुफाओंपर इस दृष्टिसे कार्य किया था, पर अकालमें ही काल द्वारा कवलित हो गये। साथ ही एक बातकी सूचना दूँगा कि यदि इन साधनोंके आधारपर ही जैन-पुरातत्त्वके अतीतको मूर्तरूप देना है तो, पूर्व गवेषित स्थान व निर्दिष्ट कला-कृतियोंका पुनः निरीक्षण वांछनीय है। कारण कि जिन दिनों कथित अवशेषोंकी गवेषणा हुई, उन दिनों, अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण, उनके प्रति न्याय नहीं हुआ[1]। जिन सामग्रियोंको गवेषकोंने बौद्ध घोषित किया था, वे आगे चलकर जैन प्रमाणित हुईं। प्रसंगतः जैनशिल्प व मूर्तिकला आदि ऐतिहासिक

---

[1] आजके युगमें जब कि सभी साधन प्राप्त हैं तो भी विद्वान् लोग प्रमाद कर बैठते हैं तो उन लोगोंकी तो बात ही क्या कही जाय।

साधनोंका संकलन तथा प्रकाशन काममें योग देनेवाले प्रमुख विद्वानोंमेंसे कुछ एक ये हैं—

डाक्टर फुहरर, विसेन्ट ए० स्मिथ, डाक्टर भाण्डारकर (पिता, पुत्र), डाक्टर फ्लीट, डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर, मुनिश्री जिनविजयजी, विजयधर्मसूरिजी, बाबू कामताप्रसादजी जैन, डा० हँसमुखलाल डी० संकलिया, शान्तिलाल उपाध्याय, अशोक भट्टाचार्य, उमाकान्त शाह, प्रियतोष बनरजी, सी० रामचन्द्रम् और बाबू छोटेलालजी जैन, अगरचन्द्रजी व भँवरलालजी नाहटा, मुनि कल्याणविजयजी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

आधुनिकतम जैन ऐतिहासिक तथ्योंके गवेषियोंमें श्री साराभाई नवाबका नाम सबसे आगे आता है। आप स्व० डा० हीरानन्द शास्त्री जैसे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञके सान्निध्यमें पुरातत्त्व विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त कर सम्पूर्ण भारतके कोने-कोनेमें फैले हुए जैन 'प्रतीकों'का निरीक्षण कर अन्वेषणमें प्रवृत्त हुए हैं। पुरातत्त्वके ऐसे बहुत कम विशेषज्ञ मिलेंगे, जो शास्त्रीय अध्ययनके साथ सर्वांगपूर्ण व्यक्तिगत अनुभव भी रखते हों। नवाबने अपने अनुभवोंके आधारपर, जैनशिल्पकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाले दर्जनों निबन्ध सामयिक पत्रोंमें प्रकाशित तो करवाये ही हैं, साथ ही, भारतमें जैन तीर्थों अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य और चित्र कल्पद्रुम जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके कलात्मक संस्करण प्रकाशित कर, सिद्ध कर दिया है कि जैनाश्रित तीर्थस्थित शिल्प-स्थापत्यावशेषोंकी उपयोगिता धार्मिक दृष्टिसे तो है ही, साथ ही भारतीय लोक-समाज और जन-संस्कृतिके भी परिचायक हैं। जैनतीर्थोंका शिल्प भास्कर्य कलाकारोंको व समीक्षकोंको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जैनतीर्थ आबूपर मुनि जयन्तविजयजीने अभूतपूर्व प्रकाश डाला है। मुनिश्री जिनविजयजीने जो वर्तमानमें राजस्थान पुरातत्त्व विभागके अवैतनिक प्रधान संचालक हैं, कलिंगकी गुफाओंके व इतर सैकड़ों जैनलेखोंपर

ऐतिहासिक समीक्षाएँ लिखी हैं, एवं सिंघी-जैन-ग्रन्थमालामें—जिसके वे मुख्य सम्पादक हैं, जैन-इतिहासके सर्वमान्य मौलिक ग्रन्थोंका प्रकाशन कर, जो सेवा की है और कर रहे हैं, वह राष्ट्रके लिए गौरवकी वस्तु है। उनके तत्त्वावधानमें राजस्थानमें गवेषणा-विषयक जो कार्य हो रहे हैं, उनसे बहुत नवीन तथ्य प्रकाशमें आवेंगे। मुझे ज्ञात हुआ है कि मुनिश्रीके तत्त्वावधानमें, अभी-अभी एक समितिद्वारा, आबू पहाड़के ऐतिहासिक स्थानोंकी गवेषणा जोरोंसे हो रही है।

ईस्वी १७८४ से आजतक स्वतन्त्र या शासनके आधिपत्यमें पुरातन स्थान व ऐतिहासिक साधनोंका अन्वेषण किया गया, तो भी अभी भारत-वर्षके जंगलोंमें और खण्डहरोंमें हजारों कलात्मक 'जैन प्रतीक' अरक्षित उपेक्षित दशामें इतस्ततः बिखरे पड़े हैं, जिनपर भारतीय पुरातत्त्व विभागका लेशमात्र भी ध्यान नहीं है। पुरातन जैन-मन्दिर व तीर्थोंमें आज भी उल्लेखनीय लेख व कलाकी दृष्टिसे अनुपम शिल्प कृतियाँ सुरक्षित हैं, जिनका पता पुरातत्त्वज्ञ नहीं लगा सके थे। इन धार्मिक दृष्टिसे महत्त्व रखनेवाले प्रतीकोंका अध्ययनपूर्ण प्रकाशन हो तो सम्भव है भारतीय मूर्त्ति व शिल्पकलापर तथ्यपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है। मूर्त्तिविषयक उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। पर यह तब ही सम्भव है, जब जैनमूर्त्ति-विधान व तदंगीभूत अन्य भावशिल्पोंपर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थस्थ उल्लेखोंका तलस्पर्शी अध्ययन हो। कभी-कभी देखा जाता है कि अजैन विद्वान् जैन मूर्तिकलापर क़लम चला देते हैं, और उनके द्वारा विद्वज्जगत् में भी ऐसी भ्रान्ति फैल जाती है, कि उनको दुरुस्त करना कठिन हो जाता है। ऐसी भूलोंमें कुछेक ये हैं—"जैन आइकोनोग्राफी" श्री भट्टाचार्य लिखित लाहोरसे प्रकट हुई थी। उसमें ऋषभदेव स्वामीकी मूर्तिका एक ही चित्र दो बार प्रकाशित है, पर नीचे लिखा है "यह महावीर स्वामीकी प्रतिमा है"। जब वृषभ लंछन व स्कन्धपर केशावली भी स्पष्टतः उत्कीर्णित है। लेखकने इनपर ध्यान दिया होता, तो यह भूल न होती।

श्री सतीशचन्द्र कालाने "प्रयाग संग्रहालयमें जैनमूर्तियाँ" शीर्षक एक निबन्धमें लिखा है, कि "गणपति" भी जैन मूर्तियोंके साथ पूजे जाने लगे। पर कालाजीने भगवान् पार्श्वनाथके "पार्श्वयक्ष" के स्वरूप पर ध्यान दिया होता, तो ज्ञात हो जाता कि वह गणपति नहीं, पर जैनयक्ष हैं। यदि 'गणपति' का पूजन जैनमूर्तिशास्त्रोंमें हो तो वे प्रकट करें। कालाजीने उसी लेखमें यह भी लिखा है कि "१२वीं शताब्दीके बाद अधिकतर मूर्तियोंमें लिंगको हाथोंके नीचे छिपानेकी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।" पर मेरे अवलोकनमें आजतक ऐसी एक भी मूर्ति नहीं आई। जब प्रतिमामें नग्नत्व प्रदर्शित करना ही है तो फिर ढँकनेकी क्या आवश्यकता? वे आगे कहते हैं कि "एक तो इसमें तीर्थंकर विशाल जटा पहिनें हैं"[1]। तीर्थंकर जटा नहीं पहनते थे, वह तो चतुःमुष्टी लौंचका रूपक है।

त्रिपुरीमें सयक्ष-यक्षी नेमिनाथकी खंडित प्रतिमाको ब्योहार राजेन्द्रसिंहजीने अशोक-पुत्र महेन्द्र और संघमित्रा मान लिया।[2]

जिसप्रकार सर कनिंघम और सर जान मार्शलने चीनी पर्यटकोंके यात्रा-विवरणोंको आधारभूत मानकर अपनी गवेषणा प्रारम्भ की थी, ठीक उसी प्रकार मध्यकालीन विलुप्त जैनतीर्थोंका अन्वेषण तीर्थमालाओंके आधारपर होना चाहिए; क्योंकि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दीकी तीर्थमालाओंमें जिन जैन-स्थानोंका उल्लेख किया गया है, वे आज अनुपलब्ध हैं। जैसे कि—मुनिश्री सौभाग्यविजयजी विक्रम संवत् १७५० में पूर्व देशकी यात्रा करते हुए बिहारमें पहुँचे। आपने अपनी तीर्थमालामें उल्लेख किया है, कि पटनासे ५० कोसपर 'वैकुण्ठपुर' ग्राम है। वहाँसे २० कोस चाड़ग्राम पड़ता है, वहाँके मन्दिरमें रत्नकी प्रतिमा है। गंगाजीके

---

[1] श्रीमहावीर स्मृति ग्रंथ, पृ० १६२।
श्री महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ० १६२।
[2] त्रिपुरीका इतिहास, पृ० २३।

मध्यमें एक पहाड़ीपर देवकुलिकामें भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा है।[1]"

यही मुनिश्री पटनासे उत्तर दिशामें ५० कोशपर 'सीतामढ़ी'का उल्लेख करते हैं जहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ और नेमिनाथकी चरण-पादुका है[2]। वैकुण्ठपुर इन पंक्तियोंका लेखक हो आया है। यहाँसे गंगा लगभग २॥ मील पड़ती है। वहाँपर जिनवरकी न तो प्रतिमा है और न देहरी ही। साधारण पहाड़ी व जंगल तो है। खास वैकुंठपुरमें अभी तो केवल पुरातन शैव-मन्दिर है। पर हाँ, बस्तीको देखनेसे वह प्राचीन अवश्य जँचती है। चाड़में कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ, वहाँ मैं खास तौरसे गया था। अब रहा प्रश्न दूसरे उल्लेखका। सीतामढ़ी तो वर्तमान मिथिलाका ही नाम है। यह दरभंगा जंकशनसे ४२ मील पश्चिमोत्तरमें है। पर वहाँ उल्लेखानुसार 'चरण' तो नहीं है। इन दोनों तीर्थोंका अन्वेषण अपेक्षित है।

नालंदाके विषयमें भी इन तीर्थमालाओंके उल्लेखोंपर ध्यान देना आवश्यक है। सं० १५६१ में यहाँ १६ जैन-मंदिर होनेकी सूचना मुनि हंससोम देते हैं। विजयसागर (सं० १७१७) २ मंदिरका उल्लेख करते हैं। और सौभाग्यविजय (सं० १७५०) एक मंदिरका ही निर्देश करते हैं। पर वे यह भी लिखते हैं कि अन्य मंदिर प्रतिमारहित हैं। ये सब उल्लेख शोधकके लिए विचारणीय है। पर अभी तो वहाँ एक ही जिन-मंदिर है और एक दिगम्बर सम्प्रदायका है। अतिरिक्त मंदिर व स्तूपका क्या हुआ, थोड़े समयमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया[2], यह खोजका विषय है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। क्या पुरातत्त्व विभाग ऐसे प्रत्यक्षदर्शी महात्माओंके उल्लेखोंपर ध्यान देगा ?

[1] प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह, पृ० ८१।
[2] प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ० ६२।

मुझे अपने अनुभवोंके आधारपर खेद लिखना पड़ रहा है कि आजका पुरातत्त्व-विभाग सापेक्षतः अन्वेषण एवं संरक्षण विषयक कार्यमें उदासीन है। मुझे तो ऐसा लगता है कि पुरातत्त्व विभागका अब एकमात्र यही कार्य रह गया है कि पूर्व संरक्षित अवशेषोंकी येन-केन प्रकारेण रक्षा की जाय। यों तो सामयिक पत्रोंसे सूचना मिलती है कि कहीं-कहीं खनन-कार्य जारी है, पर एक ओर अवशेषोंकी समुचित रक्षातक नहीं हो रही है। मध्यप्रदेशमें मैंने दर्जनों ऐतिहासिक खण्डहर ऐसे देखे जो पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्मारकोंमें घोषित हैं, पर इन्हीं खण्डहरोंके समीप या कुछ दूर पर सर्वथा अखण्डित सुन्दरतम मूर्त्तियाँ या अवशेष पड़े हैं। उनकी ओर कर्मचारियोंने लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। क्या सुरक्षित सीमामें इन्हें उठाकर नहीं रखा जा सकता था या सुरक्षित सीमा नहीं बढ़ाई जा सकती थी? इस प्रकारकी असावधानीने, सुरक्षाके लिए स्वतन्त्र विभाग होते हुए भी अत्यन्त सुन्दर कलाकृतियोंको सुरक्षासे वंचित रह जाना पड़ा; क्योंकि ग्रामीण जनता ऐसे अवशेषोंका उपयोग अपनी सुविधानुसार कर लेती है। जबलपुर जिलेमें तो सुरक्षित स्मारकोंके खम्भोंका उपयोग एक परिवारने अपने गृह-निर्माणमें कर लिया है। कटनीमें मुझे एक जैन सज्जनसे भेंट हुई थी, जिनका पेशा ही पुरातन वस्तु-विक्रय है। इन सब बातोंके बावजूद भी जब कोई व्यक्ति सांस्कृतिक व लोककल्याणकी भावनासे उत्प्रेरित होकर यदि वैधानिक रीतिसे, संग्रह करता है, तो पुरातत्त्व-विभाग व प्रान्तीय शासन, शोधका यश किसी व्यक्तिको न मिले, इस नीयतसे, अनुचित व अवैधानिक कार्य करनेमें लेशमात्र भी नहीं हिचकता। किसी भी देशके लिए यह विषय अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। एक युग था जब इस प्रकारके कार्य-कर्त्ताओंको उत्साहित कर, शासन उनसे सेवा लेता था, पर स्वाधीन भारतमें शायद यह पराधीन भारतकी प्रथाको महत्त्व देना उचित न समझा गया हो। जहाँतक मैं सोचता हूँ पुरातत्त्वकी खोजका कार्य यदि केवल सरकार ही के भरोसे चलता रहा, तो शताब्दियों तक भी शायद पूर्ण हो

सके; क्योंकि उच्च पदाधिकारी तीन सालमें संरक्षित स्मारक अवलोकनार्थ पर्यटन करते हैं; पर प्रत्येक पुरातन खण्डहरोंके निकटवर्ती प्रदेशोंमें नवीन शोधके लिए रहते कितने दिन हैं? बमुश्किल एक-दो दिन। अतः जबतक पुरातत्त्व और शोधमें रुचि रखनेवाले प्रान्तीय विद्वानोंको शासनः वैधानिक रूपसे प्रश्रय नहीं देगा, तबतक तत्स्थानीय अवशेषोंका पता नहीं लग सकता। बड़े-बड़े स्थानोंपर खुदाई करवाके अवशेषोंको निकालना एवं निकले हुए अवशेषोंकी उपेक्षा करनेकी दुधारी नीति समझमें नहीं आती। आशा है, पुरातत्त्व-विभागके उच्चतम कर्मचारी इस विषयपर ध्यान देकर अपनी ओरसे होनेवाली भूलोंमें, सुधार करनेका कष्ट करेंगे और अपने नैतिक व सांस्कृतिक उत्तरदायित्वको समझनेकी चेष्टा करेंगे।

प्रान्तमें जैन-समाजके इतिहास और पुरातत्त्वमें रुचि रखनेवाले *बुद्धिजीवियोंसे विनम्र निवेदन है कि वे अपने-अपने प्रदेशमें पाई जाने-*वाली उपर्युक्त कोटिकी सामग्रीको अवश्य ही, प्रमुख सामयिक पत्रोंमें प्रकाशित कर, पुरातत्त्व-पण्डितोंका ध्यान आकृष्ट करें, ताकि सर्वाङ्गपूर्ण जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका स्वरूप जनताके सम्मुख आ सके।

सिवनी म० प्र०

१४ जुलाई १९५२

मध्यप्रदेश

के

जैन-पुरातत्त्व

आजके प्रगतिशील युगमें भी प्रान्तीय इतिहास व पुरातत्त्व-साधनोंके प्रति, जागृति नहीं दीख पड़ती है और सोची जा रही है भारतीय इतिहास लिखनेकी बात। यह इतिहास राजा-महाराजाओं व सामन्तोंका होगा। जब तक हम मानवीय 'नैतिक' इतिहासको ठीकसे न समझेंगे, तबतक भारतीय नैतिकताका इतिहास नहीं लिखा जा सकता। किसी भी देशकी राजनैतिक उन्नतिकी सूचना, उसके विस्तृत भू-भागसे मिलती है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्रके उच्चतम नैतिक स्तरका पुष्ट व प्रामाणिक परिचय, उसके खंडहरोंमें फैले हुए अवशेष व कलात्मक मूर्तियोंसे मिलता है। हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि भारतके विभिन्न प्रान्तोंका, अपने-अपने ढंगसे, राजनैतिक इतिहास तो लिखा गया; पर नैतिक इतिहासके साधन अरण्यमें धूप-छाँह सहकर विद्वानोंकी प्रतीक्षा ही करते रह गये उन्हें एकत्र करना। कुछेक गिट्टियाँ बनकर सड़कोंपर बिछ गये। पुलोंमें ऊँचे-नीचे फिट हो गये। कुछ एक विशालकाय वृक्षोंकी जड़ोंमें ऐसे लिपट गये कि उनका सार्वजनिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया। कुछ एकका उपयोग गृह-निर्माण-कार्यमें हो गया। कलासाधकों-द्वारा प्रदत्त, जो अमूल्य सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिल गई है या बच गई है, उनकी सुधि लेनेवाला आज कौन है? कहनेके लिए तो "पुरातत्त्व विभाग" बहुत कुछ करता है; पर जो अरण्यमें, खण्डहरोंमें पैदल घूमकर अवशेषोंसे भेंट करता है, वह अनुभव करता है कि उक्त विभागके अधिकारियोंका कार्य काग़ज़के चिथड़ोंपर या आँकड़ोंसे भले ही अधिक मालूम होता हो; पर वस्तुतः वह लाखोंके व्ययके बाद भी, नगण्य-सा ही हो पाता है। इन पंक्तियोंको मैं अपने अनुभवसे लिख रहा हूँ और विनम्रता पूर्वक कहना चाहता हूँ कि आज भी अनेकों ऐसे महत्त्वपूर्ण कलात्मक अवशेष भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें दैनंदिन विनष्ट हो रहे

हैं, जिनकी समुचित रक्षा की जाय, तो हमारे पूर्वजोंके अतीतके उज्ज्वल कीर्ति-स्तम्भ स्वरूप ये प्रतीक राष्ट्रिय अभिमान जाग्रत कर सकते हैं।

इस प्रबन्धमें, मैं केवल मध्यप्रदेशस्थ जैनपुरातत्त्वावशेषोंका ही उल्लेख करना उचित समझता हूँ। कारण कि मुझे इस प्रदेशके एक भाग पर विहार करते हुए, जैनाश्रित कलाकी जो सामग्री उपलब्ध हुई, उससे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि वर्तमानमें स्थानीय प्रादेशिक कलाविकासमें सापेक्षतः भले ही जैनोंका योग दृष्टिगोचर न होता हो, पर आजसे शताब्दियों पूर्वकी कला-लताको जैनोंने इतना प्रश्रय दिया था कि सम्पूर्ण प्रदेश लता-मंडपोंसे आच्छादित कर दिया था। प्रचुर अर्थसम्पन्न समाजने उच्चतम कलाकार-साधकोंको आर्थिक दृष्टिसे निराकुल बना, कलाकी बहुत उन्नति की। जिसके साक्षी स्वरूप आज सम्पूर्ण हिन्दी-भाषी मध्यप्रदेशके गर्भमेंसे, जैनाश्रित शिल्पकलामेंके अत्युच्च प्रतीक उपलब्ध होते हैं।

यह आलोचित प्रान्त कई भागोंमें बँटा हुआ था। छठवीं शतीके सुप्रसिद्ध विद्वान् वराहमिहिरने बृहत्संहितामें २८३ राज्योंके वर्णन करते समय, आग्नेय दिशाकी ओर जिन राज्योंका सूचन किया है उनमें "मध्य-प्रान्त"के तत्कालीन राज्योंके नाम इस प्रकार दिये हैं—दक्षिणकोसल (छत्तीसगढ़), मेकल, विदर्भ, चेदि, विंध्यान्तवासी, हैहय, दशार्ण, त्रिपुरी और पुरिका। इन नामोंके क्रमिक विकासको समझनेमें जैन-साहित्य बहुत मदद करता है। विशेषतया तीर्थवंदना परक ग्रन्थ। प्रत्येक शताब्दीमें जैनतीर्थोंकी जो 'वंदना' निर्मित होती हैं, उनमें प्रायः सभी भू-भागोंका भौगोलिक नामोल्लेख रहता है। अस्तु।

साधारणतः मध्यप्रान्तके शिलोत्कीर्ण लिपियोंका जहाँ भी उल्लेख होता है, वहाँ रूपनाथ-(जबलपुर) स्थित अशोकके लेखका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उन दिनों यहाँ जैनसंस्कृतिकी क्या दशा थी? यह एक

प्रश्न है। मौर्य-साम्राज्य जब उन्नतिके शिखरपर था, जब जैनधर्म भी पूर्णतया सम्पूर्ण भारतमें फैल चुका था। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि मध्यप्रान्तमें भी उस समय जैनसंस्कृतिका सूत्रपात हो चुका था, पर मध्यप्रान्तके निकटवर्ती चितीदिश-बड़दिश-विदिशामें उन दिनों जैन संस्कृतिका व्यापक प्रभाव था। बल्कि बड़े-बड़े प्रभावक जैनाचार्योंकी वह विहारभूमि था। वहाँपर बड़ी-बड़ी जिनयात्राएँ निकला करती थीं, जिनका उल्लेख आवश्यक व निशीथ चूर्णियों में मिलता है।

इस उल्लेखसे मुझे तो ऐसा लगता है कि तब जैनधर्मका अस्तित्व इस भूमिपर था। इसके प्रमाणस्वरूप रामगढ़ पर्वतकी गुफाके चित्रको उपस्थित किया जा सकता है। इसका समय और आर्यसुहस्तिका समय लगभग एक ही है। यद्यपि उपर्युक्त अशोकके समयकी नहीं है, पर यह तो समझनेकी बात है कि कुणालके समय जब विदिशा जैनोंका केन्द्र था, तो क्या दस-पाँच वर्षमें ही उन्नत हो गया? उससे पूर्व भी तो श्रमण परम्पराके अनुयायियोंका अस्तित्व अवश्य रहा होगा। अशोकके पौत्र सम्राट् सम्प्रतिने विदेशोंतकमें जैनधर्म फैलाकर, अपने पितामहका अनुकरण किया। वह बौद्ध था, सम्प्रति जैन।

मध्यप्रदेशमें जैनसंस्कृतिका क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसकी सूचना तो हमें पुरातन अवशेषोंसे मिल जाती है, परन्तु प्राथमिक स्वरूपको स्पष्ट करनेवाले साधन बहुत स्पष्ट नहीं हैं। अनुमानसे काम लेना पड़ रहा है। प्रमाण न मिलनेका एक कारण, मेरी समझमें यह आता है कि जिन नामोंसे मध्यप्रदेशके भाग आज पहचाने जाते हैं, वे नाम उन दिनों नहीं थे। प्राचीन जो नाम मिलते हैं, उन प्रदेशोंमें आज इतना प्रान्तीय विभाजन हो गया है कि जबतक हम समीपवर्ती भूभागस्थ अवशेषों व सामाजिक रीति-रिवाज व साहित्यिक परम्पराका गहन अध्ययन न कर लें, तबतक निश्चित तथ्य तक पहुँचना अति कठिन हो जाता है। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि जबतक प्रान्तीय विद्वान् मालव, विन्ध्य, महाराष्ट्र,

ओरिसा और मद्रास प्रान्तके, मध्यप्रदेशसे सम्बन्धित भूसंस्कृति और ऐतिहासिक साधनोंका समुचित अध्ययन नहीं कर लेते, तबतक प्रान्तीय इतिहासका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेंगे। जैसा कि मैं ऊपर सूचित कर चुका हूँ कि हमारा कर्तव्य है मानवोन्नायक इतिहासकी गवेषणाका, नैतिकता और परम्पराका। शासन अपनी राजकीय सुविधाके लिए भले ही प्रदेशोंका विभाजन कर डाले, पर सांस्कृतिक विभाजन कठिन ही नहीं, असम्भव है।

आज हम जिस भू-भागको मध्यप्रदेशके नामसे पहचानते हैं, वह पूर्वकालमें कई भागोंमें कई नामोंसे विभाजित था। यह नाम तो आंग्ल शासनकी देन है। आज भी महाकोसल और विदर्भ दो भाग हैं। महाकोसलको प्राचीन साहित्यमें उत्तरकोसल कहा गया है। रामायण, महाभारत और पुराणादि ग्रन्थोंमें इस प्रान्तके विभिन्न राज्योंके विवरण प्राप्त होते हैं। जैन-कथात्मक व आगमिक साहित्यमें कोसलदेशका महत्त्व उसकी प्रगतिपर प्रकाश डालनेवाले उल्लेख उपलब्ध होते हैं। ये उल्लेख उस समयके हैं, जब 'कोसल' अविभाजित था। बादमें उत्तरकोसल और दक्षिणकोसल, दो भाग हो गये। उत्तरकी राजधानी अयोध्या और दक्षिणकी राजधानी मध्यप्रदेशमें थी। गुप्तताम्रपत्रोंसे इसका समर्थन होता है।

मौर्यकालके बाद शुंगकालमें श्रमण परम्पराकी दोनों शाखाओंका विकास सीमित हो गया था, इसका प्रभाव मध्यप्रदेशपर भी पड़ा। वाकाटक शैव थे। उनके शासनकालमें शैव-सम्प्रदायके विभिन्न स्वरूपोंको मूर्त-रूप मिला। उनका शासन आधुनिक मध्यप्रान्त तक था, परन्तु विपक्षित विषयपर प्रकाश डालनेवाले साधन, इस युगके नहीं मिलते। हाँ, गुप्तकालीन अवशेषोंपर उनका कला-प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक है।

गुप्तकाल भारतका स्वर्ण युग माना जाता है। पर मध्यप्रान्तमें इसकी कलाके प्रतीक अल्प मिलते हैं। जबलपुर जिलेके 'तिगवाँ' ग्राममें एक मन्दिर है, जिसे वास्तुशास्त्रके सिद्धान्तोंके आधारपर हम गुप्तकालीन

कह सकते हैं। इस मन्दिरकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति उत्कीर्णित है। ८वीं सदीके लगभग कन्नौजका एक यात्री 'उमदेव' नामक आया उसने मन्दिर बनवाया, जैसा शिलोत्कीर्ण लिपिसे अवगत होता है। मध्यप्रान्तीय इतिहास शोधक श्री प्रयागदत्तजी शुक्लका मानना है कि पूर्व यह जैनमन्दिर था, पर बादमें सनातनी मन्दिर बनवाया गया[1]। आज भी तिगवाँमें कई जैनमूर्तियाँ पाई जाती हैं। गुप्तकालमें विन्ध्यप्रान्तमें भी जैनधर्मकी स्थिति अच्छी थी। ओरिसा व मालवमें भी जैनश्रमणोंका अप्रतिबद्ध विहार जारी था। उदयगिरि (भेलसा) की एक गुफामें पार्श्वनाथकी एक मूर्ति उत्कीर्णित थी, पर अब फन भर है। यह गुप्तयुगीन व लेखयुक्त है[2]। इस कालमें बुन्देलखण्डमें जैन-आचार्य हरिगुप्त हुए, जो हूण नेता तोरमाणके गुरु थे।

वाकाटकोंका शासन बुन्देलखण्डसे खानदेशतक था। चौलुक्योंने इनकी जड़ साफ की। वे इतने प्रबल थे कि पुलकेशी (चौलुक्य) ने हर्षको पराजित कर, नर्मदाके दक्षिणमें आनेसे रोका था। चौलुक्योंपर जैनसंस्कृति-का प्रभाव था। इसका समर्थन तात्कालिक साहित्य व लिपियाँ करती हैं। आगे चलकर चालुक्य और कलचुरियोंका पारिवारिक सम्बन्ध भी हो गया था।

भद्रावतीका पाण्डु-सोमवंश बौद्ध था, उस समय वहाँ जैन-धर्मका अस्तित्व निश्चित रूपसे था। वहाँ बौद्धमूर्तियोंके साथ जैन प्रतिमाएँ भी उसी समयकी अनेक पाई जाती हैं। उनमेंसे कुछेकपर "देवधर्मोऽयं" व बौद्धमुद्रालेख उसी लिपिमें पाया जाता है। इस ओर लिंगायत पर्याप्त पाये जाते हैं, जो जैनके अवशेष हैं। शैवोंके अत्याचारोंने इन्हें धर्म-परिवर्तनार्थ बाध्य किया था।

---

[1] "मध्यप्रान्तके भिन्न-भिन्न शासकोंका शिल्पकलाविषयक प्रेम" शीर्षक निबन्ध। [2] डा० फ्लीट कार्पस इन्स्क्रिप्सन इण्डिकेरम् भा० ३।

ई० सन् आठवीं शतीके बादकी जैनपुरातत्त्वकी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इतनेमें कलचुरि वंशका उदय होता है। इस समय शिला व मूर्तिकला उत्कर्षपर थी। वे इसके न केवल प्रेमी ही रहे, पर उन्नायक भी थे। इस कालकी जैन प्रतिमाएँ आज भी दर्जनों पाई जाती हैं, और खंडहर भी। इसपर मैं अन्यत्र विचार कर चुका हूँ। अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है।

कलचुरि कालमें महाकोसलका पूरा भू-भाग जैन-संस्कृतिसे परिव्याप्त था। विदर्भमें भी यही उत्कर्ष था। यहाँ तक कि गुजरात जैसे दूर प्रान्तके जैनाचार्योंको मूर्ति व मन्दिर प्रतिष्ठार्थ वहाँ आना पड़ता था। नवांगी-वृत्तिकारसे भिन्न, मलधारी श्रीअभयदेवसूरिने विदर्भमें आकर अन्तरिक्षपार्श्वनाथकी प्रतिष्ठा वि० सं० ११४२ माघ शुदि ५ रविवारको की। अचलपुरके राजा ईल[1] या एल जैन-धर्मानुयायी था। उसने पूजार्थ श्रीपुर-सिरपुर गाँव भी चढ़ाया था। अचलपुर उन दिनों जैन संस्कृतिका केन्द्र था। धनपालने अपनी "धम्मपरिक्खा" यहाँपर वि० सं० १०४४ में समाप्त की। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने भी अपने व्याकरणमें 'अचलपुर'का प्रासंगिक उल्लेख इस प्रकार किया है, जो इसकी आन्तर्प्रान्तीय प्रतिष्ठाका सूचक था—

"अचलपुरे चलोः अचलपुरे चकारलकारयोर्व्यत्ययो भवति अचलपुरं ॥
२, ११८।

आचार्य जयसिंहसूरि (६१५) ने अपनी "धर्मोपदेशमाला" वृत्तिमें अयलपुर-अचलपुरमें अरिकेसरी राजाका उल्लेख इसप्रकार किया है।

"अयलपुरे दिगम्बरभत्तो 'अरिकेसरी' राया। तेणय काराविओ महा-

---

[1] ईल राजाने अभयदेवसूरि द्वारा मुक्तागिरि तीर्थपर भी पार्श्वनाथ स्वामीकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करवायी थी, शीलविजयजीने इस तीर्थकी यात्रा की थी।

पासाओं परट्ठावियाणि तित्थयर-बिम्बाणि ॥ (पृ० १७७) । अरिकेसरी राजा कौन थे और कब हुए ? अज्ञात है । विदर्भके इतिहासमें अभीतक तो ईल राजाका ही पता चला है, जो परम जैन था। अरिकेसरीका काल अज्ञात होते हुए भी, इतना कहा जा सकता है कि ६१५ पूर्व ही हुआ है । इसी समयमें शिलाहार वंशमें भी इसी नामका राजा हुआ है ।[1] अचलपुर सातवीं शताब्दीका एक ताम्रपत्र भी उपलब्ध हो चुका है । मुझे तो ऐसा लगता है कि अरिकेसरी नाम न होकर, विशेषण मात्र है, और वह राजा पौराणिक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्प्रदाय सूचक विशेषण मिलता ।

१२ वीं शताब्दीके पूर्व समीपवर्ती प्रदेशोंमें, मुझे 'विन्ध्य' का ही निजी अनुभव है, कि वह जैन-स्थापत्यसे समृद्ध था । इन दोनोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि उभयप्रान्तीय कलाकृतियाँ पारस्परिक इतनी प्रभावित हैं कि उनका पार्थक्य कठिन है ।

कलचुरि व गोंडवंश कालीन जैन-अवशेष मध्यप्रदेशमें बिखरे पड़े हैं, जिनके संरक्षणकी कुछ भी व्यवस्था नहीं है । कहाँ-कहाँपर हैं, इसका पता, पुरातत्त्व विभागको भी शायद ही हो, ऐसी स्थितिमें उनके अध्ययन पर कौन ध्यान दे ? पर अब समय आ गया है कि इन समुचित अन्वेषण व संरक्षणका, शासनकी ओरसे प्रबंध होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सांस्कृतिक भावनासे प्रेरित होकर कार्य करता भी है, तो शासनको इस पवित्रतम कार्यमें भी 'राजनीति' की गंध आती है ।

प्रस्तुत प्रबन्धमें मैंने, अपनी पैदल-यात्रा विहारमें जिन जैन-अवशेषोंको देखा, यथामति उनका अध्ययन कर सका, उन्हींका उल्लेख करना समुचित समझा, पर यह प्रयत्न भी अपूर्ण ही है, कारण कि अभी भी बहुत-से खँडहर

---

[1] डॉ० वी० ए० सालेतोरे०, दि डेट ऑफ दि कथाकोष, जैन-एण्टिक्वेरी वॉ० ४-अं० ३ ।

हैं, जहाँ जैन-पुरातनावशेष विद्यमान हैं, कइयोंके वैयक्तिक अधिकारमें भी हैं, उनका उल्लेख मैंने इसमें नहीं किया है। कुछेक अवशेषोंका परिचय या सूचनात्मक उल्लेख प्रान्तके प्रतिष्ठित विद्वान् स्व० डॉ० हीरालाल व स्व० गोकुलप्रसाद और उनकी परम्पराके अनुसार, हिन्दी गज़ेटियर तैयार करनेवाले महानुभावोंने अपने-अपने ग्रन्थों[1] में किये हैं। पर अब उनका पुनर्निरीक्षण वांछनीय है। क्या मालूम वे अवशेष आज वहाँ हैं या नहीं।

रोहणखेड़

यह ग्राम विदर्भान्तर्गत धामणगाँवसे खामगाँवके मार्गपर ८ वें मीलपर अवस्थित है। तत्रस्थ अवशेषावलोकनसे ज्ञात होता है कि किसी समय यह उन्नतिशील नगर रहा होगा। संस्कृत साहित्य व भारतीय ज्योतिषशास्त्रके रचयिता, कुछ विद्वानोंको जन्म देनेका सौभाग्य इसे प्राप्त था। अपभ्रंश साहित्यके महान् कवि पुष्पदन्त इसी नगरके, होनेकी कल्पना श्रीनाथूरामजी प्रेमीने की है। महिम्न[2] स्तोत्रके निर्माता और अपभ्रंश भाषाके महाकवि

---

[1] वे ग्रन्थ ये हैं—दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति, सागर-सरोज, दुर्ग-दर्पण, नरसिंह-नयन, निमाड़-निशाकर, बिलासपुर-वैभव, चाँदा-चन्द्रिका, सिवनी-सरोजिनी, मंडला-मयूख, झाड़खंड-झनकार, अष्टराज-अंभोज, होशंगाबाद-हुंकार, इन ग्रन्थोंमें मध्यप्रान्तके इतिहासकी सामग्री भरी पड़ी है। पर अब ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। निर्देशित पुरातत्त्व-सामग्रीका पुनर्निरीक्षण अपेक्षित है।

[2] जैन-साहित्यके प्रणेताओंने भारतीय साहित्यके विकासमें जिस उदारताका परिचय दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे जन-विषयक उत्प्रेरक सक्रिय योजनाओंमें सर्वाग्र स्थान रखते थे। जैनेतर उच्चतम सभी विषयोंके मूल्यवान् ग्रन्थोंपर अपनी आलोचनात्मक वृत्तियाँ व व्याख्याएँ निर्माण कर, मानव समुदायके सांस्कृतिक स्तर परिपोषणार्थ और उच्च भावनाओंसे अनु-

पुष्पदन्त एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। एतदर्थ प्रबल व पुष्ट प्रमाण अपेक्षित हैं।

यहाँके बालाजीके नवीन मन्दिरके सामने रामा पटेलके खेतमें कुछ पुरातन भग्नावशेष हैं, जिनमें एक पद्मासनस्थ, ३ फीट ऊँची प्रतिमा भी है। सौभाग्यसे यह अखंडित है। कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी, वहाँ जैनधर्मके अस्तित्वकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण है। पार्श्ववर्ती पुरातन स्तूपाकार कतिपय स्तम्भोंपर भी जैनप्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। कुम्भकलश, नन्द्यावर्त आदि चिह्नोंसे विदित होता है कि निस्सन्देह तथा-कथित सभी अवशेष जैनमन्दिरके ही हैं। तन्निकटवर्ती शैव-मन्दिरमें अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि जैनदेवियोंकी प्रतिमाएँ बहुत ही सुन्दर, किन्तु अत्यन्त अरक्षित अवस्थामें विद्यमान हैं। इनकी रचना-शैलीसे जान पड़ता है कि वे बारहवीं शदीके अवशेष हैं। नगरके दक्षिण और पश्चिमकी ओर कुछ जैन-मूर्तियोंके अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इनका खण्डन साम्प्रदायिक विद्वेषजनित वृत्तिसे प्रेरित हुआ है। मेरे सम्मुख ही एक सन्यासीने, जो वहाँके बालाजीके मन्दिरमें रहते थे और मुझे पुरातनावशेष बतानेके लिए मेरे साथ चले थे, लट्ठसे दक्षिणकी खड्गासन जैनप्रतिमाके मस्तकको धड़से अलग कर, प्रसन्न हुए। यहाँपर मुझे अनुभव हुआ कि मूर्ति-भंजन या पुरातन आर्य-कला-कृतियोंके खण्डित होनेकी कल्पना जब हम करते हैं;

प्रमाणित कर जैनधर्मकी महत्ती उदारताका परिचय दिया है। अन्य स्तुति, स्तोत्रोंकी भाँति महिम्न स्तोत्रकी पादपूर्ति जैनाचार्योंने विभिन्न प्रकार करके भारतीय पादपूर्ति विषयक साहित्यमें अभिवृद्धि की है। साथ ही ऋषभदेव महिम्न' और महावीर महिम्न स्तोत्रोंकी स्वतन्त्र रचना कर उनपर वृत्तियाँ भी निर्मित कर, मानव हृदयको भक्तिसिक्त बनानेका प्रयास किया है। इन टीकाओंमें अञ्चलगच्छीय श्री ऋषिवर्द्धनसूरि निर्मित टीका अत्यन्त मूल्य-वान् है, इसकी सुन्दर प्रति जर्मनस्थित बर्लिन विश्वविद्यालयमें सुरक्षित थी।

तब अक्सर सभी लोग मुसलमानोंको बदनाम करते हैं, परन्तु यह तो भुला ही दिया जाता है कि हमारी कलात्मक सम्पत्तिका नाश जितना म्लेच्छोंद्वारा नहीं हुआ, उससे भी कहीं अधिक हमारी ही धार्मिक असहिष्णुवृत्तिद्वारा हुआ है।

कारंजा

अकोला जिलेमें है। श्वेताम्बर जैन तीर्थ[१]मालाओंमें इसका उल्लेख बड़े गौरवके साथ किया गया है। यहाँसे कुछ दूर एक देवी-मन्दिरके पास गाड़ीवानोंका पड़ाव है, वहाँ जो स्तम्भांश बिखरे पड़े हैं, उनपर खड्गासन व पद्मासनमें बहुत-सी दिगम्बर-जैन-मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। कुछ स्तंभोंको तो लोगोंने मन्दिरकी पैड़ीमें लगा दिया है।

---

[१]एलजपुरि कारंजा नयर धनवन्त लोक वसि तिहाँ सभर,
जिनमन्दिर ज्योति जागतां देव दिगम्बर करी राजता ॥२१॥
तिहाँ गच्छनायक दीगम्बरा छत्र सुखासन चामरधरा,
श्रावक ते सुद्धधरमीं वसि वहुधन अगणित तेहनि अछि ॥२२॥
वघेरवालवंशि सिणगार नामि संघवी भोज उदार,
समकितधारी जिननि नमिं अवर धरम स्यूं मन नवि रमिं ॥२३॥
तेहनें कुले उत्तम आचार रात्रि भोजन नो परिहार,
नित्यइं पूजा महोच्छव करि मोती चोक जिन आगलि भरि ॥२४॥
पंचामृत अभिषेकिं घणीं नयणे दीठी ते म्हि भणी,
गुरु साहमी पुस्तक भंडार तेहनी पूजा करि उदार ॥२५॥
संघ प्रतिष्ठा नि प्रासाद बहु तीरथ ते करे आल्हाद,
करणाटक कुंकण गुजराति पूरव मालव नि मेवाति ॥२६॥
द्रव्यतणा मोटा व्यापार सदावर्त पूजा विवहार,
तप जप क्रिया महोच्छव घणा करि जिनशासन सोहामणा ॥२७॥
संवत साति सतरि सही गढ़ गिरिनारि जात्रा कही,
लाप एक तिहांवावरी ने धन मज़ाथनी पूजा करी ॥२८॥

नाँदगाँव

यह अमरावतीसे नागपुर जानेवाले मार्ग पर १० वें मील पर, मार्गसे कुछ दूर अवस्थित है। यहाँ दिगम्बर-जैन-मन्दिर स्थित धातु प्रतिमाओंके लेख लेते समय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख दृष्टिगोचर हुआ जो कारंजाके इतिहासपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है, जो इस प्रकार है।

स्वस्ति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके १४६१ (१४०६) प्रवर्त्तमाने कोधीता संवत्सरे उत्तरगणे···मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वाति-नक्षत्रे······योगे र कणे मि० लग्ने श्रीवराट् (? ड) देशे कारंजानगरे श्री श्रीसुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्रीम (? मू) लसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्—वृषसेन—गणधराचार्ये पारंपर्योद्गत श्रीदेववीर भट्टाचार्याः॥ तेषां पट्टे श्रीमद्माय राजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिता महासकलविद्वज्जन सार्थ (र्व्वं) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनय त्रैः······विश्वसोमसेनभट्टार्काणामुपदेशात् श्रीवघेरवाल जाति खडवाड गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्तंगशिखरबद्धप्रासादसमुद्धरणधीर त्रिलोक श्री जिन महाविम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टा-दशस्थाने अष्टादशकोटिश्रुतभंडारसंस्थापक, सवालक्षवन्दीमोचकारक, मेदपाटदेशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निजभुजो पार्जितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तंभ आरोपक साह जिजा सुत सा० पुन सिंहस्य ······साहवेढ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्रश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र

हेममुद्रा संघवच्छल कीओ लाछितणो लाहो तिहां लीओ,
पर्वि पाई सीआलि दूध ईपुरस ऊनालि सुद्ध ॥२६॥
फुलाफूलिं वास्यां नीर पंथीजननि पाई धीर,
पंचामृत पकवाने भरी पोपिं पात्रज भगति करी ॥३०॥
भोज संघवी सुत सोहांमणा दाता विनइ ज्ञानी घणा,
अर्जुन संघवी पदारथनाथ 'शीतल संघवी करि शुभ काम ॥३१॥
प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह भाग १ पृ० ११४-११५।

साह लखमण······चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपार्जितवित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ चेत्र·········।

प्राचीन दिगंबर जैन-साहित्यमें कारंजाका स्थान अत्यंत उच्च है। सत्रहवीं सदीमें आर्थिक दृष्टिसे बरारमें कारंजाका स्थान प्रधान माना जाता था। उपर्युक्त प्रतिमा-लेखसे स्पष्ट है कि उस समय बड़े-बड़े विद्वान् वहाँपर निवास करते थे। भट्टारक विश्वसोमसेन उस समयके जैन-समाजमें काफ़ी प्रसिद्ध व्यक्ति मालूम पड़ते हैं, क्योंकि उनकी प्रतिष्ठाके दो लेख नागराकी दिगम्बर जैन-मूर्तियोंपर उत्कीर्णित हैं। संभव है, उस समय उनका आगमन वहाँपर हुआ हो; क्योंकि उन्होंने १०८ प्रतिष्ठाएँ भिन्न-भिन्न स्थानोंपर करवाई थीं। आपके ऐतिहासिक जीवन पटपर प्रकाश डालनेवाली 'पुरुपार्थसिद्धयुपाय' और करकण्डु-चरित्र'की हस्तलिखित प्रतियोंकी पुष्पिकाएँ हमारे संग्रहमें हैं। प्रशस्तिसे मालूम होता है कि आप प्रतिभासंपन्न ग्रन्थकार भी थे। आपने स्वामी कुंदकुन्दाचार्य-विरचित 'समय सार' पर वृत्ति एवं 'अमरकोप'की हिन्दीमें टीकाएँ की थीं।

आर्वीके सैतवालोंके जैन-मन्दिरमें एक अत्यन्त कलापूर्ण और मध्य कालीन धातु-प्रतिमा अवस्थित है। समस्त प्रान्तमें उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओंमें इसका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी कला अपने ढंगकी और सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी चित्ताकर्षक ही नहीं, विचारोत्तेजक भी है। मूल प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासन लगाये, कमलासन-स्थित है। पश्चात् भागमें स्पष्टरूपेण तकिया बनाया गया है। जैन-मूर्तिमें तकियेका होना एक आश्चर्य है, क्योंकि इसप्रकारके उपकरणके उल्लेख एवं उदाहरण हमारे देखनेमें नहीं आये। बौद्धोंमें इसकी प्रथा थी। मूर्तिका मुखमंडल सुन्दर एवं सजीवताका परिचायक है। स्कन्ध-प्रदेश एवं शरीर-विन्यास तो उत्तम कलाकारकी कलाके शुद्धतम भावोंका ही ज्वलन्त प्रतीक है। कलाकारका हृदय और मस्तिष्क दोनों ही इस अनुपम कृतिके निर्माणमें पूर्णतः संलग्न थे।

तकियेके उभय पक्षमें खड़े ग्रास बहुत ही सुन्दर व्यक्त किये गये हैं, जो अवान्तर प्रतिमाओंके स्कन्धपर पंजा जमाये हुए हैं। ऊपर मगरमच्छकी मुखाकृतियाँ इतने सुन्दर ढंगसे अंकित हैं कि एक-एक दाँत और जिह्वाकी रेखाएँ एवं चक्षु स्थानपर पड़ी हुई सिकुड़न स्पष्ट है। मूल प्रतिमाके ऊपरी भागमें छत्र-त्रय उल्लिखित हैं। इनके चारों ओर पीपलकी पत्तियाँ स्पष्ट अंकित हैं। छत्र कमलपुष्पकी याद दिलाये बिना नहीं रहते। प्रतिमामें चौबीस तीर्थंकरोंकी लघु प्रतिमाएँ पायी जाती हैं, जो सभी अर्द्ध-पद्मासनस्थ हैं। मूल प्रतिमाके स्कन्ध-प्रदेशके ऊपरी भागमें चामरयुक्त उभय परिचारक विशेष प्रकारकी भावभंगिमा व्यक्त करते हुए खड़े हैं। मुखमंडल भिन्न-भिन्न भावोंका व्यक्तिकरण करता है। मस्तकपर मुकुट इतना सुन्दर और छविका द्योतक है, मानो अजन्ताके ही देव यहाँ अवतीर्ण हो गये हों। अँगुलियोंका विन्यास अतीव आकर्षक है। गन्धर्वके चरण-भाग यद्यपि अग्र भागसे दबे हुए हैं; पर प्रतिमाके पश्चात् भागसे विदित होता है कि कदली वृक्षतुल्य चरण-रचना इतनी सूक्ष्मतासे की गई है कि रोमराजिके छिद्रतकका आभास मिले बिना नहीं रहता। मूल प्रतिमाके उभय चरण-भागमें क्रमशः दाहिने देव और बायें देव और देवीकी प्रतिमाएँ बनी हुई हैं, जो दोनों चतुर्भुज एवं अर्द्धपद्मासनस्थ हैं। देवके चारों हाथोंमें आयुध आदिका बाहुल्य है। विविध प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित होते हुए भी मुखमण्डलपर वृद्धत्वसूचक एवं घृणाके भाव न-जाने क्यों व्यक्त किये गये हैं। मस्तिष्क पटलपर भृकुटी चढ़ी हुई है। देवके चरण शरीरकी अपेक्षा काफी छोटे और स्थूल हैं। देवीकी चतुर्भुजी प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासनस्थ है। दाहिने हाथमें बीजपूरक बिजौरा एवं उरमें शंखाकृतिवत् आयुधका आभास मिलता है। बायें हाथसे गदाका चिह्न और दूसरा हाथ आशीर्वादात्मक मुद्रा व्यक्त कर रहा है। देवीके विभिन्न अंगोंपर आवश्यक आभूषण और भी शोभामें अभिवृद्धि कर रहे हैं। इस प्रकारकी चतुर्भुजी देवीकी प्रतिमा देखकर मूर्ति-विज्ञानके कुछ हमारे परिचित विद्वानोंने धारणा बना ली थी

कि इस प्रतिमाको तारादेवीकी प्रतिमा ही क्यों न माना जाय, परन्तु गवेषणा करनेपर विदित हुआ कि बौद्ध-तान्त्रिक-साहित्यमें तारादेवीका जैसा वर्णन उल्लिखित है, उस वर्णनका आंशिक रूप भी प्रस्तुत प्रतिमामें चरितार्थ नहीं होता। प्रज्ञापारमिताकी एक प्रतिमा हमारे अवलोकनमें अवश्य आई है, पर उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे जैन-परिकरमें इस देवीको कहीं भी कोई स्थान नहीं मिला है। प्रतिमाके निम्न भागमें चारों ओर ग्रास बने हैं। सारी प्रतिमा चार खम्भोंपर स्थित है। सम्पूर्ण प्रतिमाका, ढांचा एक मन्दिरके शिखरको दृष्टिमें ला देता है। उपर्युक्त विभागमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं, जो तत्कालीन भारतीय संस्कृतिके विशुद्धतम स्वरूपको बड़े ही सुन्दर ढंगसे व्यक्त करती हैं। यद्यपि प्रतिमाका निर्माण-काल स्पष्टरूपसे व्यक्त करनेवाला कोई लेख विद्यमान नहीं है; पर इस मूर्तिकी कलासे हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि ये संभवतः १० वींसे १२ वीं शतीकी निर्मित है। मूर्त्ति उत्तर-भारतीय मूर्त्तिकलासे प्रभावित होते हुए भी मध्यप्रान्तीय विशेषताओंसे युक्त है।

भद्रावतीका मध्यप्रान्तके इतिहासमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणादि प्राचीन साहित्यमें इसकी बड़ी महिमा गाई गई है। यहाँके बहुसंख्यक भग्नावशेषोंको देखनेसे मालूम होता है कि जैनों और बौद्धोंका यहाँपर एक समय पूर्ण प्रभाव था। यहाँके क्षत्रिय[1] राजा बौद्ध धर्मको मानते थे, जैसा कि तत्रस्थ बीजासन-गुफ़ाके लेखसे विदित होता है। यहाँपर जैन-धर्मके प्राचीन अवशेष भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। इस समय मन्दिरमें मूलनायक पार्श्वनाथ प्रभुकी जो प्रतिमा है, वह भी यहींसे प्राप्त हुई है। सुना जाता है कि एक अंग्रेजको स्वप्नमें यह मूर्ति दिखी और बादमें प्रकट हुई। उस अँग्रेजको उपर्युक्त

---

[1] विशेषके लिए देखें "बौद्ध पुरातत्त्व" शीर्षक मेरा निबन्ध।

मूर्तिपर अत्यन्त श्रद्धा थी[1]। यहाँके अम्बिकादेवीके मन्दिरमें अनेक जैन प्रतिमाएँ और पुरातन जैन-मन्दिरोंके त्रुटित स्तम्भ अस्त-व्यस्त पड़े हैं। कहा जाता है कि ये मूर्त्तियाँ वहाँसे चार फर्लांग दूर एक टीलेसे लाकर यहाँ रखी गई हैं। सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि पहले यह जैन-मन्दिर था। मन्दिरके तोरणमें १४ महास्वप्न और कुम्भ कलशादि बने हुए हैं। भद्रावतीसे १॥ मील दूर जो विजासन गुफा है, उसके बरामदेमें भी चार प्राचीन जैन-मूर्तियाँ और एक सरस्वतीकी मूर्त्ति अवस्थित है। भद्रनागके मन्दिरके स्तम्भोंपर भी जैन-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इस प्रकार भद्रावतीमें ५० से ऊपर १० वींसे लेकर १३ वीं शतीकी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनकी मूर्त्ति विज्ञानशास्त्रकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है।

पौनार

यह ग्राम वर्धासे नागपुर जानेवाली सड़कपर, आठवें मीलपर है। यह वही ग्राम है, जहाँ सर्वप्रथम आचार्य विनोवा भावेने महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित व्यक्तिगत सत्याग्रह किया था। एक समय यह ग्राम वाकाटक-साम्राज्यकी राजधानी था। कहा जाता है कि महाराज प्रवरसेनका बसाया हुआ प्रवरपुर, यही पवनार है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस कथामें आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि महाराज प्रवरसेनका जो दानपत्र यहाँ प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार यहाँके पुरातन भग्नावशेषोंमें वाकाटक-साम्राज्यका कुछ असर अवश्य रहा है। वहाँपर चार विशालकाय जैन-प्रतिमाएँ एवं खण्डहरोंमें जैन-धर्मोपयोगी पट्टक हमने स्वयं देखे हैं। साथ ही नदीके तीर-पर कुछ ऐसे स्तम्भ भी पाये गये हैं, जिनपर कलश व स्वस्तिक उत्कीर्णित

---

[1] O, Middletom–Stewart, "The Dream God" The Times of India illustrated weekly, july 6, 1924, P. 10-12

हैं। यहाँपर १४ वीं शताब्दीका एक लेख भी मिला है, जो दिगम्बर जैन-इतिहासकी दृष्टिसे मूल्यवान् है। भट्टारक पद्मनाभका उल्लेख इसी लेखमें है। ई० स० १६४५में जब हमारा चातुर्मास रायपुरमें था, तब उस मूल लेखको प्राप्त करनेका प्रयास हमने किया था। पर मालूम हुआ कि अनेक पाषाणोंके साथ वह भी किसी मकानकी दीवारमें लगा दिया गया है। इसकी एक प्रतिलिपि अवश्य हमारे पास सुरक्षित है। अब भी कभी-कभी यहाँपर प्राचीन सिक्के मिल जाते हैं।

केलझर—पौनारसे १० मील दूर नागपुरकी ओर है। प्राचीन गणपति मन्दिर होनेसे यह एक छोटा-सा तीर्थस्थान-सा हो गया है। कहा जाता है कि यह वही मन्दिर है जिसकी पूजा नागपुरके भोंसले जब यहाँ रहते थे, किया करते थे। यह मन्दिर क़िलेमें ही है। क़िलेमें वापिकाके पास दिगम्बर-श्वेताम्बर-प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं। कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त साधारण हैं। तत्रस्थित कतिपय स्तम्भोंमेंसे एक स्तम्भपर भगवान्का समवशरण बहुत ही सुन्दर कलात्मक ढंगसे खुदा हुआ है। हमने पुरातत्त्व-अवशेषोंमें स्तम्भोंपर कहीं भी इतना सुन्दर समवशरण खुदा नहीं देखा। स्तम्भोंके खण्डित होते हुए भी मूल वस्तु यथावत् सुरक्षित है। अफ़सोस इसी बातका है कि इन स्तम्भोंपर गोबरके कण्डे सुखाये जाते हैं।

सिन्दी—केलझरसे ७ मील दूर है। यहाँ दिगम्बर जैन-मन्दिरमें ३६ इंच ऊँची पद्मावती देवीकी एक सुन्दर मनोहर प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है। मूर्ति सर्वथा अखण्डित है। मस्तकपर भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा विराजमान है। इस मूर्तिकी कला असामान्य है। शरीरका कोई भी अवयव ऐसा नहीं, जहाँपर सूक्ष्म कोरणी न की गई हो। प्राचीन आभूषणोंकी दृष्टिसे इस मूर्तिका विशेष महत्त्व है। पूरे प्रान्तके भ्रमणमें ऐसी मनोहर देवीकी मूर्ति हमारे अवलोकनमें नहीं आई।

नागपुरके अद्भुतालयमें प्राचीन जैन-तीर्थंकर और देव-देवियोंकी सुन्दर मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। अधिकतर प्रतिमाएँ कलचुरि-कलासे प्रभावित

मालूम होती हैं। सिवनीके दिगम्बर-जैन मन्दिरमें १२ वीं शतीकी लगभग ७ मूर्तियाँ हैं। ये धुनसौरसे लाई गई हैं। दलसागरके घाटोंमें भी सुन्दर जैनमूर्तियाँ जड़ दी गई हैं। यहाँके प्रसिद्ध मुत्सद्दी श्रावक लक्ष्मीचन्द्रजी मूराके पौत्रके संग्रहमें एक खंडित स्फटिक रत्नकी जैन-प्रतिमा है। सिवनीसे जबलपुर-रोडपर २० वें मीलपर छपारके दिगम्बर जैन-मन्दिरमें ११ वीं शतीकी एक जैन मूर्ति विराजमान है। इस मूर्तिको देखकर हठात् कहना पड़ता है, मानो कला ही मूर्ति-रूपमें अवतरित हुई है। मूर्तिका परिकर अतीव आकर्षक है। दोनों ओर खड्गासनस्थ कर्ण-निकटवर्ती देवियाँ और निम्न भागमें कुछ परिचारिकाएँ उत्कीर्णित हैं। मूर्तिका सिंहासन खंडित है। श्याम पाषाणपर इस प्रकारकी मूर्त्तियाँ प्रान्तमें बहुत कम पाई जाती हैं। कहा जाता है कि यह मूर्ति किसी समय धुनसौरसे लाई गई थी।

जबलपुरका मध्य-प्रदेशके इतिहासमें विशिष्ट स्थान है। शिलान्तर्गत लेखोंमें इसका 'जाबालिपत्तन' नाम प्रसिद्ध है। प्राचीन राजधानी गढ़ा या कर्णबेल थी। यहाँ ६०० वर्ष पूर्वके खण्डहर वर्त्तमान हैं। कर्णदेव कलचुरिने इसे बसाया था। ११ वीं शताब्दीमें मध्यप्रान्तान्तर्गत महाकोसलके अधिपति कलचुरि एवं गुजरातके चालुक्य थे। उभय राजवंशोंके आराध्यदेव शिव थे। दोनोंने शिवके विशाल मन्दिर निर्माणकर योग्य महन्त रखे थे। जैन-धर्मका आदर यों तो दोनों ही करते थे; पर चालुक्य राजवंश विशेष रूपसे करता था। शिल्प-स्थापत्य-कलाका प्रेम दोनों ही राजवंशोंको था। शिल्पकलाकी दृष्टिसे बंगालके पालवंशीय नरेशोंकी तुलना हम उपर्युक्त उभयवंशोंके साथ आसानीसे कर सकते हैं। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोरणी, आभूषणोंमें वैविध्य, पाषाणकी सफाई, चेहरोंपर सजीवता आदि इन राजवंशों द्वारा प्रचारित कलाओंके प्रधान गुण हैं। महाकोसलके कर्णदेवने जिसप्रकार अपने पुत्रको राजगद्दीपर आसीनकर स्वनिवासार्थ कर्णबेल नामक नूतन नगरी बसायी, ठीक उसी प्रकार गुजरातके चालुक्य कर्णदेवने स्वपुत्र सिद्धराजको राज्यपदपर अधिष्ठितकर अपने लिए कर्णावती नगरी

बसाई। जबलपुरमें जैनोंके उभय सम्प्रदायोंके पर्याप्त मन्दिर हैं, जिनमें अनेक कलापूर्ण जैन-प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। प्रान्तीय खण्डहरोंमें उपलब्ध सभी प्रतिमाओंमें हनुमानताल दिगम्बरजैन-मन्दिरमें सुरक्षित प्रतिमाका स्थान बहुत ऊँचा है। कलाकी सजीवता तो प्रतिमाके अङ्ग-प्रत्यंग पर तादृशरूपेण अंकित है। यह प्रतिमा एक बन्द कमरेमें रखी हुई पद्मासनपर विराजमान है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ७×४॥ फीट है। स्वाभाविक उत्फुल्ल वदनपर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता और महान् गम्भीरताके दर्शन होते हैं। मस्तकपर केश-विन्यास तो नहीं हैं, पर तत्तुल्याकृति (घूँघरवाले बाल-जैसी) आकर्षक है। लम्बे कर्ण और कलायुक्त सौन्दर्य वृद्धि करनेवाले हैं। उभय स्कन्ध केशावलिसे सुशोभित हैं।

परिकर

सापेक्षतः इसका परिकर स्वतन्त्र जैन-कलाकृतिका स्वरूप होते हुए भी, बाह्य अलंकरण बौद्ध परिकरमें व्यवहृत कलासे सम्बन्ध रखते हैं। अष्ट-प्रतिहार्यमें भामण्डल प्रभावलिकी गणना की गई है। सामान्यतः समस्त जैन-प्रतिमाओंमें इसका रहना अनिवार्य माना गया है, परन्तु इस प्रतिमाकी प्रभावलिमें जितनी बारीकसे बारीक रेखाएँ अंकित हैं एवं जितनी पारदर्शिता परिलक्षित होती है एवं निकटवर्ती बेलबूटोंका सुकुमार अंकन पाया जाता है, निःसंदेह अद्यावधि अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रभावलिकी रेखाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि एक रेखापर सरलतापूर्वक छेनी नहीं चलाई जा सकती। २½"×२½"से कम प्रभावलिका भाग न होगा, जितनी महत्त्वपूर्ण प्रभावलि-की कोरणी है, उतनी ही सुन्दर, आकर्षक खुदाई छत्रकी है। जैनमूर्तिमें पाये जानेवाले प्रायः ऊपरी तीन भागोंमें विभाजित रहते हैं एवं दण्डका सर्वथा अभाव रहता है, पर प्रस्तुत प्रतिमा इसका अपवाद है, कारण कि जिसप्रकार प्राचीन यक्षप्रतिमाओंमें छत्रको थामनेके लिए दण्डकी अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार यह छत्र भी है। प्रभावलिके ठीक मध्य भागमें छत्र-दण्ड है जो

ऊपर जाकर क्रमशः तीन ओर गोलाईको लिये हुए है। छत्रमें यक्ष छत्रोंके समान इसप्रकार सूक्ष्म खनन किया गया है कि बादमें हो ही नहीं सकता। छत्रके मध्य भागमें कमल-कर्णिकाएँ हैं। तदुपरि विशाल छत्र Squire पौने तीन फीटसे कम न होगा। सामान्यतः जैन-मूर्तियोंमें पाये जानेवाले छत्रोंकी अपेक्षा कुछ वैभिन्न्य है जैसे यक्ष-मूर्तियोंमें विवर्तित छत्रोंमें अग्र-भागके मुक्ताकी लड़ें अर्धगोलाकार रहती हैं वैसा ही अंकन यहाँ है। तदुपरि सिकुड़नको लिये हुए वस्त्रकी झालरके समान रेखाएँ हैं, तदुपरि प्रभावलिमें विवर्तित वेलबूटोंसे भिन्न आकृतियाँ खचित हैं। तदुपरि उल्टी अर्थात् घंटाकृति सूचक कमल-कर्णिकाएँ हैं। सर्वोच्च भागमें दो हाथी सूंड़ मिलाये हुए उभय ओर इस प्रकार उत्कीर्णित हैं, मानो वे छत्रको थामे हुए हैं। कानके उठे हुए भाग, गलेकी तनी हुई रेखाएँ एवं आँखोंके ऊपरके चमड़ेका खिंचाव इस बातके द्योतक हैं कि वे अपने कर्तव्य पालनमें उत्सुकतापूर्वक नियुक्त हैं। आवश्यक आभूषणोंसे वे भी बच नहीं पाये। ऊपर कुछ आकृतियाँ अंकित हैं। हाथीके ऊपर छोटी-सी झूल पड़ी है। हौदा कसा हुआ है, एवम् पीठसे कटि प्रदेशतक किंकिणीसे सुशोभित हैं। हाथियोंके इसप्रकारके गठनसे अनुमान किया जा सकता है कि इस वैज्ञानिक युगमें भी हाथीपर बैठनेकी शैलीमें कोई खास परिवर्त्तन नहीं हुआ। धर्ममूलक-कलाकृतियोंमें भी जन-जीवनकी उपेक्षा उन दिनोंके कलाकारों द्वारा न होती थी, परिकरमें हाथी कमलपर आधृत हैं। तन्निम्न भागमें अर्थात् छत्रके ठीक नीचे उभय ओर दो यक्ष एवं चार नारियाँ गगनविचरण करती बनाई गई हैं। गन्धर्वके हाथमें पड़ी हुई मालाएँ गुथी हुईके समान—चढ़ानेको उत्सुक हों। सापेक्षतः पुरुषोंकी मुखमुद्रापर सुकुमार और स्वस्थ सौन्दर्यकी रेखाएँ प्रतिस्फुटित हुई हैं। मस्तकपर किरीट मुकुट पहिना है। इस प्रकारके किरीट मुकुटोंका व्यवहार गढ़वाके अवशेषोंमें भलीभाँति पाया जाता है। कटनीसे प्राप्त दशा-वतारी विष्णु-प्रतिमाके मस्तकपर भी इसी प्रकारकी मुकुटाकृति है। तात्पर्य कि किरीट मुकुटका व्यवहार श्रेष्ठ कलाकार प्रायः ११वीं शतीतक तो

सफलतापूर्वक करते रहे हैं। इस प्रतिमामें निम्न भागमें दो यक्षोंके मस्तकपर भी किरीट मुकुट हैं। ये अभीतक पाये जानेवाले मुकुटोंमें, निर्माणकी दृष्टिसे एवं सूक्ष्म रेखाओंके लिहाज़से अनुपम हैं। यक्ष एवं परिचारकोंके मुकुट एवं मुख-मुद्राकी भाव-भंगिमा जिस रूपमें व्यक्त की गई है, उसे देखकर तो यही मानना पड़ता है कि इसके कलाकारोंने अजन्ताकी रेखाओंसे प्रेरणा लेकर इस सफल कृतिका निर्माण किया। तत्कालीन पाये जानेवाले बौद्ध शिल्पावशेषोंसे ये कल्पना सहज ही समझमें आती है कि उन दिनों बौद्धोंका शिल्प-कलामें प्रभुत्व था, ऐसी स्थितिमें अजन्ता या गुप्तकालीन मूर्त्ति और चित्रकलाकी रेखाओंका विस्मरण कैसे हो सकता था। परिचारकोंमें भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। दाँयें-बाँयें हाथोंमें कमल-दण्ड लिपटे हुए हैं। जैन मूर्तियोंमें यह रूप कम मिलता है, बौद्धोंमें अधिक। सिरपुरकी धातु मूर्तियाँ इसके उदाहरण स्वरूप रखी जा सकती हैं। निःसंदेह परिचारकोंके अंकनमें जो स्वाभाविकता एवं सजगता है, वह अन्यत्र कम ही मिलती है। दायें परिचारकके बायें हाथका अधखिला कमल, पकड़नेवाली मूर्तियाँ कितनी स्वाभाविक हैं, शब्दोंका काम नहीं, नेत्रों द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। परिचारकके नीचे उभय ओर नारी खड़ी हुई है। हाथमें माला तो है ही, परन्तु कोहनीतक फूल रखनेकी टोकनी पहुँच गई है। नारीपर अधिक आभूषण लादकर सम्भ्रान्त परिवारकी अपेक्षा वह जनताकी प्रतिनिधित्री लगती है।

महाकोसलकी मूर्तियोंके पृष्ठभागमें प्रायः साँचीके तोरणका अनुसरण करनेवाले Horizontal pillars मिलते हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माता केवल कोरा कलाकार न होकर जैन-प्रतिमा-विधानकी सूक्ष्म बातोंका ज्ञाता भी जान पड़ता है। उसने दोनों ओर दो स्तम्भ तो ज़रूर खुदवाये, पर दोनोंको मिलानेवाली मध्यवर्त्ती पट्टिका न बनने दी। कारण कि वह स्थान प्रभावलिसे व्याप्त है। मूल प्रतिमाके निम्न भागमें आकृतियाँ खिंची हुई हैं। यद्यपि इसका निर्माणकाल वर्णमालाके अक्षरोंमें

नहीं है। परन्तु कलाकारकी आत्मा या उसके द्वारा खिंची हुई रेखाएँ मौनवाणीमें अपना निर्माणकाल स्वयं कह रही हैं। १० वीं शतीकी पूर्वकी और ११ वीं की बादकी यह कृति नहीं हो सकती, कारण स्पष्ट है। वस्त्रोंकी शलें एवं नारियोंके मुख तत्कालीन एवं तत्परवर्त्ती विकसित शिल्पकलासे मेल रखते हैं। होठोंकी मुटाई, कर्णफूल एवं नासिका ये विशुद्ध महाकोसलीय उपकरण हैं। पुरुषोंकी नाक Poninted है, वहीं कृत्रिमता है। अवशिष्ट स्वाभाविक एवं जनजीवनसे सम्बन्धित है।

उपर्युक्त विशाल मंदिरमें तेवरसे लाई हुई कुछ और जैन-मूर्तियाँ एवं जैनमन्दिरके स्तम्भ-खण्ड विराजमान हैं। एक प्रतिमा, यद्यपि अपरिकर है, तथापि उसकी मुखाकृति एवं शारीरिक अंगोपांगोंका गठन प्रेक्षणीय है। परिकर विहीन मूर्तियोंमें यही मूर्ति मुझे सर्वश्रेष्ठ जँची।

इस मन्दिरमें मराठा क़लमके कुछ भित्ति-चित्र पाये जाते हैं। जैनधर्म एवं तदाश्रित कथाओंके प्रसंगके अतिरिक्त १४ राजलोक २½ द्वीप आदिके नक्शे भी हैं। पूरे मंदिरमें एक छतकी रेखाएँ एवं इन चित्रोंके अतिरिक्त प्राचीनताका आभास दे सकनेके योग्य सामग्री नहीं है।

जबलपुरसे चार मीलपर छोटी-सी पहाड़ीके ऊपर एक स्थान बना हुआ है, जिसे लोग पिसनहारी की मढ़िया कहते हैं। इसका वास्तविक इतिहास अप्राप्य है, किन्तु किंवदन्तीके आधारपर कहा जा सकता है कि दुर्गावतीकी पिसनहारी श्राविका थी। उसीने इसका निर्माण करवाया। गुम्बजके ऊपर अभी भी चक्कीके दो पाट लगे हुए हैं। उपर्युक्त कल्पना पुष्ट हो जाती है।

त्रिपुरी

त्रिपुरीका जितना ऐतिहासिक महत्त्व है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्व महाकोसलीय पुरातत्त्वकी दृष्टिसे है। कलचुरि वास्तुकलापर प्रकाश डाल सकें, वैसी सामग्री तो त्रिपुरीमें उपलब्ध नहीं होती, पर हाँ महाकोसलीय

मूर्तिविज्ञानके क्रमिक विकासपर व कलचुरिकालीन मूर्तिकलाको आलोकित करनेवाले अगणित सौंदर्यपुंज सम प्रतीक तत्रस्थ खंडहर, वृक्षतल एवं सरोवर के किनारोंपर अरक्षित-उपेक्षित दशामें पड़े हैं। वेचारे कतिपय प्रतीक तो वृक्षोंकी जड़ोंमें इस प्रकार लिपट गये हैं कि उनका संकेतात्मक अस्तित्वमात्र ही रह गया है। महाकोसलकी यह राजधानी जैनपुरातन अवशेषोंकी भी राजधानी है। यहाँसे उच्चकोटिकी कलापूर्ण जैनमूर्तियाँ तो कलकत्ता वग़ैरह स्थानोंके म्यूजियम व जैन-मन्दिरोंमें चली गईं। बहुत बड़ा भाग लढियों द्वारा पथरी व कूंडियोंके रूपमें परिणत हो चुका है, कुछ अवशेष मिर्ज़ापुरकी सड़कोंपर गिट्टियाँ बनकर बिछ चुके और पुलोंमें तो आज भी लगे हुए हैं। कुछ भाग जनताने अपनी दीवालोंको खड़ी करनेमें लगा दिया, या गृह-द्वारमें फिट कर दिया। इस प्रकार क्रमशः जैन-अवशेषोंका त्रिपुरीमें जितना ह्रास और भ्रंश हुआ है, उतना अन्यत्र कम हुआ होगा। जब मैं त्रिपुरी पहुँचा, तब मुझे भी कतिपय जैनशिलावशेष जैसे भी प्राप्त हुए, वे महाकोसलकी जैनाश्रित मूर्तिकलाका प्रतिनिधित्व सम्यक् रीत्या कर सकते हैं। इनमें-से कतिपय प्रतीकोंका परिचय 'महाकोसलका जैन पुरातत्त्व' शीर्षक निबन्धमें दे चुका हूँ। त्रिपुरीमें आज भी जैनाश्रित शिल्पकलाकी ठोस सामग्री उपलब्ध है। बालसागर सरोवर तटपर जो शैव-मन्दिर बना हुआ है, उसकी दीवालोंके बाह्य भागोंमें जैन-चक्रेश्वरी देवीकी आधे दर्जनसे भी अधिक मूर्तियाँ लगी हुई हैं। सरोवरके बीचोंबीच जो मन्दिर है, उसमें भी कतिपय जैन-मूर्तियाँ लगी हुईं हैं। खैरमाईके स्थानके पीछे, जो पुरातन वापिकाके निकट है, अवशेषोंका ढेर पड़ा है, उसमें व बड़ी खैरमाई जाते हुए मार्गमें जो थोड़ा-सा जंगल व गड्ढे पड़ते हैं, उनमें जैनमूर्तियाँ व ऐसे स्तम्भ पाये जाते हैं, जिनपर मीन-युगल, दर्पण, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त आदि चिह्न उत्कीर्णित हैं। यहाँसे हमें जितना भी जैनाश्रित शिल्पकलाकी सामग्री उपलब्ध हुई है, उनपरसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि किसी समय त्रिपुरीमें न केवल जैनोंका

ही निवास रहा होगा, अपितु कहीं श्रमणसंस्कृतिके केन्द्रके सौभाग्यसे भी मंडित रहा होगा।

बहुरीबन्द

जबलपुरसे उत्तर ४२ मीलपर यह ग्राम है। कनिंघम इसे 'टोलेमीका थोलावन' मानते हैं। पुरातत्त्वज्ञोंके लिए यहाँ भी पर्याप्त सामग्री, बहुत ही उपेक्षित दशामें पड़ी हुई है। पर हमें तो यहाँ "खनुवादेव" का ही उल्लेख करना है। पाठक आश्चर्यमें पड़ेंगे कि "खनुवादेव" क्या बला है? वस्तुतः यह भगवान् शान्तिनाथकी प्रतिमा है। इसकी ऊँचाई १२ फीट है। पाषाण श्याम है। इसके नीचेवाले भागमें एक लेख खुदा है। इसकी लिपि बारहवीं सदीकी जान पड़ती है। जो लेख है उसका सारांश यह निकलता है—"महासामन्ताधिपति "गोल्हणदेव" (राष्ट्रकूट) राठौरके समयमें बनी, जो कलचुरि राजा गयकर्णदेवके अधीन वहाँका शासक था[1]। यह मूर्तिकलाकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस ओर जैन और हिन्दू दोनों उपेक्षित वृत्तिसे काम ले रहे हैं। हिन्दू लोग इसकी पूजा जूतोंसे करते हैं। उनका विश्वास है कि जूतोंके डरसे देव हमारी सुविधाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखेगा। जैनोंने कुछ समय पूर्व इसे प्राप्त करनेके लिए आन्दोलन भी किया था, पर पाना तो रहा दूर, वहाँपर व्यवस्थातक न हो सकी, न आशातना ही मिट सके। आश्चर्य तो इस बातका है कि पुरातत्त्व विभागके उच्च कर्मचारियोंका पुनः-पुनः ध्यान आकृष्ट करनेके बाद भी वे किसी भी प्रकारकी समुचित कार्यवाही न कर सके। स्वाधीन भारतमें इस प्रकारकी अपमानजनक पूजा पद्धति पर, शासनका पूर्णतया मौन बहुत असरता है।

बहुरीबंदसे १॥ मीलपर "तिरवाँ" पड़ता है। यहाँके पुरातन मंदिरकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति उत्कीर्णित है।[2]

---

[1] प्रोग्रेस रिपोर्ट (कजिन्सकी) भा० ४. और आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट भा० ४।

[2] जबलपुर-ज्योति, पृ० १४०,

पनागर

किसी समय पनागरकी जाहो-जलाली जबलपुरसे भी बढ़कर थी। आज तो उसकी प्रसिद्धि केवल 'पान'के कारण ही रह गई है। पुरातत्त्वकी दृष्टिसे पनागर उपेक्षणीय नहीं। यहाँपर कलचुरि शिल्पके सुन्दरतम प्रतीक पर्याप्त प्रमाणमें उपलब्ध होते हैं। कुछेक तो "बलैहा" तालाबके किनारेपर वृक्षोंके निम्न भागमें व कतिपय गाँवके बीचों-बीच वराहकी खंडित मूर्ति जिस चौतरेपर रखी है, वहाँपर अरक्षितावस्थामें विद्यमान है। कथित चौतरेके आगे ही एक मज़बूत जैनमंदिर है, चारों ओर सुदृढ़ दुर्गसे घिरा यह मंदिर किसी भट्टारकका बनवाया हुआ है। वहाँ उनकी गद्दी भी रही है। मंदिरमें एक विशाल पुरातन प्रतिमाका होना बतलाया जाता है।

थानेके सम्मुख एक गली गाँवमें प्रवेश करती है। थोड़ी दूर जानेपर "खैरदय्याका" स्थान आता है। यहाँ भी बहुतसे अवशेष पड़े हैं। जनता जिसे "खैरमाई" या "खैरदय्या" नामसे संबोधित करती है, वस्तुतः वह जैनोंकी अंबिका देवी है। २॥ फिटसे अधिक ऊँची अम्बिकाकी बैठी प्रतिमा है, आम्रलुंब बालक वगैरह लक्षण स्पष्टतः लक्षित होते हैं। देवीके मस्तकपर भगवान् नेमिनाथकी पद्मासनस्थ व पार्श्वमें अन्य खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ हैं। पृष्ठ भागमें विस्तृत आम्रवृक्ष खोदा गया है। इस समूहमें यही मूर्ति प्रधान है। खैरमाईके अनुरूप पूजा होती है, उनके मस्तकपर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व चन्द्रप्रभुकी प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं।

ऐसे ग्राममें कई समूह पाये जाते हैं, जिनमें जैन-अवशेष भी मिल जाते हैं।

स्लीमनाबाद

जबलपुरसे कटनी जानेवाले मार्गपर ३६×५ मीलपर अवस्थित है। "इस गाँवको सन् १८३२ के लगभग कर्नल स्लीमनने, कोहका नामक गाँवकी

ज़मीन लेकर बसाया था ।"[1] यहाँपर महादेव-मन्दिरसे मुझे जिन-मूर्तिका सुन्दर मस्तक प्राप्त हुआ था । नवग्रह युक्त जिन प्रतिमावाला एक शिलापट्टक मुझे यहींपर प्राप्त हुआ था, जिसका परिचय "महाकोसलका जैन पुरातत्त्व" शीर्षक निबन्धमें आ गया है ।

लखनादौन

सिवनीसे जबलपुर जानेवाले मार्गपर उत्तरकी ओर ३८ मील है । इस ग्राममें प्रवेश करते ही दो-एक ऐसे मन्दिर बायीं ओर पड़ेंगे, जिनमें पुरातन अवशेष व मूर्तियाँ लगी हैं । उन्हींसे इसकी पुरातनता सिद्ध हो जाती है । आगे चलनेपर जैनमन्दिर हैं, इनमेंसे मुझे कुछ धातुमूर्ति-लेख प्राप्त हुए, जिनमें "गाड़रवाडा" और 'नरसिंहपुर' का उल्लेख है । लेखोंका १७०३-५-८ है । यहाँपर अन्तिम जैनमन्दिरके पास ही श्री बलदेवप्रसादजी कायस्थके घरमें अत्यन्त मनोहर जिन-प्रतिमा भीतमें चिपकी है । इसपर गेरू पुता है । कहते हैं कि यहाँपर चातुर्मासके बाद कभी-कभी खुदाई करनेपर मूर्तियाँ निकलती हैं । यहाँके विक्रमसेनके खंडित लेखसे ज्ञात होता है कि उसने जैन-तीर्थंकरका मन्दिर बनवाया था ।

नागरा

यह गाँव भंडारा-ज़िलेमें, गोंदियासे ४ मील दूर है । पुरातत्त्वकी दृष्टिसे इसका महत्त्व है । यहाँपर जैनमन्दिरोंके ध्वंसावशेष व मूर्ति खंड पाये जाते हैं—जिनमेंसे कुछेकपर वि०सं० १२०३, १५४३ और शकाब्द १८०६ लेख पाये जाते हैं । सबसे बड़ा लेख १५ पंक्तियोंमें था, पर अज्ञानियों द्वारा शस्त्र तेज करनेसे मिट गया है । इन अवशेषोंको मैंने सन् १९४२में तो देखा था, पर १९५१ में गया तब गायब थे । पूछनेपर ज्ञात हुआ कि एक महन्तकी समाधिमें ये सब अवशेष काम आ गये ।

---

[1] जबलपुर-ज्योति, पृ० १७७ ।

पद्मपुर

यह ग्राम गोंदिया तहसीलमें आमगाँवसे १॥ मील दूर है। महा-महोपाध्याय वा० वि० मिराशीजीका मानना है कि महाकवि भवभूति यहाँके निवासी थे। यहाँपर ग्रामके खेतोंमें भगवान् पार्श्वनाथ व ऋषभदेव तथा महावीर स्वामीकी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इन मूर्तियोंका महत्त्व कलाकी दृष्टिसे बहुत है। वे खंडित हैं पर किसी समझदारने गारेसे ठोंक कर जमा दी है।

आमगाँव

गांधी चौकमें पीपल-वृक्षके निम्न भागमें जैन-मन्दिरके एक स्तम्भका अवशेष पड़ा है। इसके चारों ओर खड़ी जिनमूर्तियाँ खुदी हुई हैं। यह अवशेष यहाँ क्यों और कैसे आया! यह एक प्रश्न है। उत्तर भी सरल है। उपर्युक्त पद्मपुर भले ही आज यहाँसे १॥ मील दूर हो, पर जिन दिनों वह उन्नतिशील नगर था, उस समय इतना भी दूरत्व न रहा होगा। कुछ, अवशेष आमगाँवमें ऐसे भी पाये गये हैं, जिनकी समता पद्मपुरीय कृतियोंसे की जा सकती है।

कामठा

युद्धसमयमें यहाँ वायुयानका केन्द्र था। यों तो कामठा दुर्ग भारती क्रांतिके इतिहासमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु बहुत कम लोग जानते होंगे कि इतिहास और पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी कामठाका महत्त्व है। किसी समय यह बहुत बड़ा नगर था। यहाँके लोंधी (भूतपूर्व) जमींदारका दुर्ग २०० वर्षसे भी प्राचीन है। कुछ वर्ष पूर्व दुर्गका एक हिस्सा परिवर्तनार्थ तुड़वाना पड़ा था। उस समय बड़े गड्ढेमें—जिसपर दुर्गकी सुदृढ़ दीवाल बनी हुई थी—शिखराकृति दिखलाई पड़ी थी। कुछ अधिक खुदाई करनेपर ऐसा ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार इस मन्दिरके ऊपर क़िला बना हुआ है, ठीक उसीप्रकार मन्दिर

भी किसी अवशेषके ऊपर बना प्रतीत होता है। जागीरदारीके प्रबन्धक बाबू तारासिंहजीने इसकी सूचना नागपुर अद्भुतालयके प्रधानको दी। जाँच करनेपर कुछ ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई, पर खेद है कि पुरातत्त्व विभागके उस अफसरने हफ्तोंतक ज़मींदारके आतिथ्यसे लाभ उठाकर भी यथार्थतः अपने कर्त्तव्यका लेशमात्र भी पालन न किया। यदि मंदिरके नीचे और खुदाई की जाती—जैसा कि ज़मीदार साहब वैसा करवानेको तय्यार थे—तो कुछ नवीन तथ्य प्रकाशमें आता। जितना भाग खोदा गया था, उसमें आधे दर्जनसे अधिक जैन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। कुछ एक तो नींवमें पुनः भर दी गई। केवल एक प्रतिमा नमूनेके लिए दुर्गद्वारके अग्रभागमें विराजमान है। समीप ही दशावतारी विष्णुकी अत्यन्त प्रभावोत्पादक मूर्ति अवस्थित है। बाबू तारासिंहसे पता लगा कि मैंने जिस जगहपर खुदाई-कार्य किया था, वहाँ भी जैन मूर्तियाँ निकली थीं। इसमें कोई संशय नहीं कि कामठाके लोग शिल्प-कलाके उन्नायक रहे थे।

बालाघाट अपने जिलेका प्रमुख स्थान है। इसका इतिहास वाकाटक काल तक जाता है। सरकारी अफ़सरोंके आमोद-प्रमोदके लिए एक क्लब बना हुआ है। ठीक इसके पीछे एवं न्यायालयवाले मार्गपर छत-विहीन साधारण कमानके सहारे कुछ जैन-मूर्तियाँ टिकी हुई हैं। जिस रूपमें इन्हें मैंने उन्नीस सौ बयालीसके पराधीन भारतमें देखा था, ठीक उसी रूपमें उन्नीस सौ बावन अप्रैलके स्वाधीन भारतमें भी देखा। बड़ा आश्चर्य है कि इतने वर्षोंके बाद भी हमारे शिक्षित-दीक्षित अफ़सर व मंत्रियोंका ध्यान इस ओर न जाने क्यों नहीं गया। अब भी जाय तो कम-से-कम नष्ट होनेवाली कलात्मक सम्पत्ति तो बचाई जा सकती है।

डोंगरगढ़—का नाम अत्यन्त सार्थक है। सचमुच यह पहाड़ियोंका दुर्गम दुर्ग ही है। जब इस नामसे अभिषिक्त किया गया होगा, उस समय इसकी दुर्गमता कितनी दुर्बोध रही होगी, चतुर्दिक सघन अटवियोंसे यह

भूभाग कितना आच्छादित रहा होगा, इसकी कल्पना प्रत्यक्षदर्शी कलाकार ही कर सकता है। प्रकृतिके अवशेष-स्वरूप आंशिक सौन्दर्य आज भी यहाँ सुरक्षित हैं। कलाकारके मनका न केवल उन्नयन होता है, अपितु महत्त्वपूर्ण उदात्त भावनाका सूत्रपात भी होता है। अग्रसोची शासकोंने भले ही इसे सुरक्षाकी दृष्टिसे बसाया हो, पर आज यह संस्कृति और सौन्दर्यकी साधनाके केन्द्रस्थानके रूपमें प्रसिद्ध है। लाखों जनपदोंकी हार्दिक भावनाका यह केन्द्र-स्थान है। यहाँ शाक्त और वैष्णवोंका किसी समय अवश्य ही समन्वयात्मक अस्तित्व रहा होगा। पहाड़ीके ऊपर बमलाईका शक्ति-पीठ है, तो ठीक उसके पीछेके नगमूलमें वैष्णव साधनाका स्थान बना हुआ है, परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि यहाँपर किसी समय श्रमण परम्परामें विश्वास करनेवालोंका भी साधनास्थान था, जैसा कि तत्रस्थित विशृंखलित अवशेषोंसे फलित होता है।

यों तो मुझे उन्नीस सौ तैंतालिस और उन्नीस सौ इक्कावनमें डोंगरगढ़में विहार करते हुए ठहरनेका अवसर मिला था। इच्छा रहते हुए भी पहाड़ी पर न जा सका, एवं न वहाँके अवशेषोंका ही पता लगा सका; बल्कि मुझे ज्ञात ही न था कि बमलाई देवीको छोड़कर और किसी दृष्टिसे डोंगरगढ़का सांस्कृतिक व ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

जैन-अवशेष

२३ मार्च १९५२को अपनी शोधविषयक आवश्यक सामग्रीके साथ पहाड़ीपर चढ़ा; यों तो ऊपर जानेके दो मार्ग हैं—एक तपसीतालसे एवं दूसरा श्मशान घाटसे। हमारे लिए दूसरा मार्ग ही उपयुक्त था। पहाड़ीपर चढ़ते हुए मार्गमें कहीं-कहीं अवशेष दिखलाई पड़े। उनमेंसे कुछ एक जैनपरम्परासे सम्बद्धित भी ज्ञात हुए, जिनका उल्लेख मैं आगे करूँगा। पहाड़ीसे नीचे उतरनेपर मेरा इरादा तो यही था कि अभी तो निवासस्थानपर चलकर कुछ विश्राम किया जाय; क्योंकि पहाड़ी-

की चढ़ाईकी अपेक्षा उतराई अधिक महँगी पड़ती है। मेरे साथी पण्डित राजूलालजी शर्मा (राजनाँदगाँव) व मुनि श्री मंगलसागरजीका आग्रह हुआ कि टोन्ही-चमलाई व तपसीतालको देखकर ही निवास स्थानपर जाना अधिक उचित होगा, क्योंकि २४ मार्चको हमें प्रस्थान करना था। अनिच्छासे मैं इन लोगोंके साथ आगे बढ़ा। मैं सोचता था कि दुपहरको अवशिष्ट स्थानोंको आरामके साथ देखना ठीक रहेगा; क्योंकि हमारा इस प्रकार भटकना केवल देखनेके लिए न था, अपितु उन-उन स्थानों व तत्र स्थित अवशेषोंसे बातचीतका सिलसिला भी चलाना था। मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खंडहरमें प्रवेश करता है, तब वहाँका एक-एक पत्थर उससे बातें करनेको मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है। कलाकार अवशेषोंको सहानुभूतिपूर्वक अन्तरमनसे देखता है, पर्यवेक्षण करता है, नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक संस्करण तैयार करता है।

आगे चलकर हम लोग शिव-मन्दिरके निकट रुके। एक पंडा भी हमारे पीछे पड़ गया। लगा वहाँकी किंवदन्तियाँ सुनाने। एक किंवदन्ती हमारे कामकी मिल गई। शंकरजीका मन्दिर चबूतरेपर बना हुआ है; ज्योंही उसपर हम चढ़े, त्योंही हमारी दृष्टि दाईं ओर पड़ी हुई पद्मआसनस्थ जिनप्रतिमापर केन्द्रित हो गई। इसी प्रतिमापर श्रीयुत महाजनसाहबने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। यह प्रतिमा भगवान् ऋषभदेव स्वामीकी है, यद्यपि प्रतिमाकी निर्माण-शैलीको देखते हुए कहना पड़ेगा कि—इसके परिकर-निर्माणमें व्यवहृत कलात्मक उपकरण तो विशुद्ध महाकोसलीय ही हैं। इस प्रकारकी प्रतिमाएँ सम्पूर्ण महाकोसलमें पायी जाती हैं, सापेक्षतः मुझे इसमें एक नावीन्य दृष्टिगोचर हुआ। वह यह कि प्रान्तमें जितनी भी जैनमूर्तियाँ अद्यावधि मैंने देखी हैं, उनमें निम्न भागमें नवग्रहोंके स्थानपर केवल नवआकृतियाँ ही उत्कीर्णित रहती हैं, पर इसके परिकरमें नवग्रहोंका अंकन सशरीर व सायुध है। मुझे ऐसा लगता है कि यह छत्तीसगढ़ प्रान्त स्थित जैनमूर्ति-निर्माण-विषयक कला-परम्पराका अनुकरण है। यों तो

छत्तीसगढ़ महाकोसलमें अन्तर्भूत हो जाता है, पर मूर्ति-निर्माणकलामें उत्तर और दक्षिण कोसलमें अन्तर है, उत्तर कोसलमें ऐसी जिनमूर्तियाँ अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं, जिनमें ग्रहांकन सशरीर या सायुध हो, जब कि दक्षिण कोसलकी अधिकांश मूर्तियाँ उपर्युक्त परम्पराका अपवाद हैं। परिकरमें साँचीके तोरणकी आकृतिके चिह्न अवश्य ही मिलेंगे। छत्तीसगढ़की जैनधातु-प्रतिमा मुझे सिरपुरसे उपलब्ध हुई थी; उसमें भी नवग्रहोंका सशरीर सायुध अंकन था। यह प्रतिमा नवम शताब्दीकी थी। अधिष्ठाताके स्थानपर कुवेर एवं अधिष्ठातृके स्थानपर अम्बिका विराजमान है। डोंगरगढ़की यह ऋषभदेवकी प्रतिमा उपर्युक्त धातु-मूर्तिके अनुकरणात्मक स्वरूपमें दिखती है। अन्तर इतना ही है कि कुवेर और अम्बिकाके स्थानपर, गोमेध यक्ष एवं यक्षिणी चक्रेश्वरी है।

उपासक व उपासिकाओंका स्थान जैन-परिकरमें आवश्यक माना गया है। यहाँपर भी ये दोनों स्पष्ट है; बल्कि पूजनकी सामग्री भी कलाकारने अंकित कर, अंतिम गुप्तकालीन मूर्ति निर्माण कलाकी आभा बता दी है। सूचित समयकी जैन-बौद्ध-सपरिकर मूर्तियाँ मन्दिरके आकारकी दीखती थीं। धूपदान, आरती, कलश एवं पुष्पपात्र भी अंकित रहते थे। इस परम्पराका विकास सिरपुरस्थ धातुप्रतिमामें स्पष्टतः परिलक्षित होता है। प्रस्तुत ऋषभदेवकी प्रतिमाके परिकरमें विवर्तित किरीट मुकुट बहुत ही आकर्षक बने हैं। मूर्ति सपरिकर चालीस इंच ऊँची छब्बीस इंच चौड़ी है। निस्सन्देह प्रतिमा किसी समय मन्दिरके मुख्य गर्भद्वारकी रही होगी। अभी तो इसपर खूब तैल-युक्त सिन्दूर पोता जाता है, और आध्यात्मिक भावोंकी साकार आकृति द्वारपालका काम करती है।

इसी मन्दिरके निकट और भी नागचूर्णसे अभिषिक्त कतिपय अवशेष पड़े हुए हैं। इनमें कुंभ, कलश, मीन युगल व दर्पणकी आकृतियाँ, उनके

जैनधर्मसे सम्बन्धित होनेके प्रमाण हैं। यहाँसे एक पंडेके साथ हम लोग डोन्हीसमलाईकी ओर चले। यह स्थान सापेक्षतः कुछ विकट और दुर्गम है। बिना मार्ग-दर्शकके वहाँ पहुँचना सर्वथा असंभव है। कारण कि इस ओर ले जानेवाली न तो कोई निश्चित पगडंडी है एवं न ऐसे कोई चरणचिह्न ही दिखलाई पड़ते हैं, जिनके सहारे यात्री सुगमतापूर्वक वहाँ पहुँच सकें। स्थान विकट चट्टानोंके बीच पड़ता है। बड़ी-बड़ी आड़ी टेढ़ी और फिसलनेवाली चट्टानोंको पार कर जाना पड़ता है। यहाँकी समलाईकी पूजा केवल नवरात्रके दिनों होती है। बली भी खूब जमकर होती है, पाठकोंको पढ़कर आश्चर्य होगा कि आजके युगमें भी यहाँ पूजाके दिनोंमें एक बकरेका जीवित बच्चा जमीनमें गाड़ा जाता है।

उपर्युक्त वर्णित डोन्ही समलाईके स्थानमें ही सिन्दूरसे पोती हुई भगवान् पार्श्वनाथ स्वामीकी एक प्रतिमा विराजमान है, कलाकी दृष्टिसे अति सामान्य है। ठीक इस स्थानके कुछ दूर जानेपर बहुसंख्यक अवशेष घनी झाड़ीमें फैले हुए हैं। तीन स्तम्भ छः फुटसे भी अधिक लंबे व ढाई फुटसे अधिक चौड़े हैं, जो नीचेसे चतुष्कोण कुछ ऊपर षट्कोण एवं मध्यमें अष्ट कोणमें विभाजित हैं। सर्वोच्च भागमें दोनों ओर सुन्दर डिज़ाइन व एक भागमें खड्गासनमें जिनमूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जो नग्न हैं। पासमें पड़े हुए चौखटके मध्यभागमें उत्कीर्णित कलशाकृति इस बातकी सूचना देती है कि असंभव नहीं ये सभी अवशेष ध्वस्त जैनमंदिरके ही हों। इन सब अवशेषोंको देखते हुए करीब बारह बजनेका समय हो रहा था; अतः हम लोग दलीझाल नामक स्थानको सामान्य रूपसे देखकर ही खनिजालस्थानको लौटना चाहते थे; पर वहाँ सुयोग्य वैष्णव महंत श्री मथुरादासजीने पहाड़ीके दुर्गम गन्तव्य स्थानोंकी चर्चा की। उन्हें दुपहरके बाद हमने देखना तय किया।

प्रायः चार बजे पुनः मैं और विहारीलाल अहीर तपसीताल पहुँचे। उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैंने पहाड़ीपर चढ़नेके दो मार्गोंका उल्लेख किया है। घने जंगल एवं टेढ़ी-मेढ़ी चट्टानोंवाला एक मार्ग तपसीतालसे फूटता है। आगे चलकर जंगलोंमें विभाजित हो जाता है। समय अधिक हो जानेके कारण हम डेढ़ मीलसे अधिक आगे न जा सके, पर जितना मार्ग तय किया, उस बीच मुझे दर्जनों गढ़े-गढ़ाये पत्थर, आकृतियाँ खचित स्तम्भ, मूर्ति अवशेष व कहीं-कहीं भूमिस्थ डेढ़ फ़ीटसे अधिक लम्बी ईंट दिखलाई पड़ी; यद्यपि यहाँ जैन-अवशेष तो दिखाई नहीं पड़े, परन्तु इतना निश्चित ज्ञात हुआ कि किसी समय इस पहाड़ीमें विस्तृत बनावास व देवमंदिरोंका समूह रहा होगा।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैंने एक कामकी किंवदन्तीका सूचन किया है, वह इस प्रकार है। कहा जाता है कि इस पहाड़ीपर किसी समय बड़ा दुर्ग था; एवं उसमें कामकन्दला नामक एक विख्यात गणिका रहती थी; यहींपर माधवानलके साथ उसकी प्रथम भेंट हुई थी। पंडेसे यह ज्ञात हुआ कि यह गणिका माधवानलकी पुनः-प्राप्तिके लिए नग्न मूर्तियोंका पूजन करती थी। उसीने उपर्युक्त दोनों मूर्तियोंका निर्माण करवाया। इस किंवदन्तीमें विशेष तथ्य तो मालूम नहीं पड़ता, कारण कि उपर्युक्त पंक्तियोंका आंशिक समर्थन भी साहित्य एवं अन्य ऐतिहासिक साधनोंसे नहीं होता, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो डोंगरगढ़के भूभागपर प्रकाश डालनेवाले साधन ही अंधकारके गर्भमें हैं। दूसरी बात यह भी है कि जबलपुर जिलेके बिलहरी ग्राममें एक शैव-मंदिरका खंडहर मैंने देखा है, उसके साथ भी कामकन्दलाका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। लोग मानते हैं कि वह उसका महल है। माधवानलकामकन्दलाके आख्यानोंमें शैव-मंदिरका उल्लेख पुनः-पुनः आया है। छत्तीसगढ़में भी यह आख्यान बड़ा प्रसिद्ध रहा है; जहाँ पुरातन शैवमंदिर दिखें, वहाँ कामकन्दलाके सम्बन्धकी कल्पना निरर्थक है। किंवदन्तीमें वर्णित नग्न मूर्तिके स्थानपर शिवलिंग-

को थोड़ी देरके लिए मान लिया जाय तो कलचुरि या उसके बादके भोंसले आदि शासक इसका जीर्णोद्धार कराये बिना न रहते, जैसा कि रत्नपुर व श्रीपुर—सीरपुरके शैवमन्दिरोंका कराया था।

अब प्रश्न रह जाता है गणिका द्वारा निर्मापित मन्दिर एवं मूर्तियोंका। यह प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना कठिन भी, पर उपेक्षणीय नहीं। इसे सुलझानेका न कोई साहित्यिक प्रमाण है न शिलालिपि ही, केवल प्रतिमा एवं मन्दिर-अवशेषोंकी रचनाशैलीके आधारपर ही कुछ प्रकाश पड़ सकता है। जो दो मूर्तियाँ विभिन्न स्थानोंपर विराजमान कर दी गई हैं, उनकी रचनाशैलीमें पर्याप्त साम्य है। भले ही वे दोनों विभिन्न कलाकारोंकी कृति ज्ञात होती हों, पर टेकनिक एक है, पापाण एक है। स्तम्भों एवं मन्दिरके गवाक्षोंमें खचित आकृतियोंपर कलचुरि कलाका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है; बल्कि कहना चाहिए कि स्थपतिने अपने पूर्वजों द्वारा व्यवहृत शैलीको सुरक्षित रखनेका साधारण प्रयास किया है, पर सफलता नहीं मिली। जिन्होंने कलचुरिकलाके प्रधान केन्द्र त्रिपुरी और बिलहरीकी गृह-निर्माण-कला एवं उनके विभिन्न उपकरणोंका अध्ययन किया है, वे ही उपर्युक्त अवशेषोंकी अनुकरण-शैलीको समझ सकते हैं। मन्दिरोंके चौखट विन्ध्यप्रदेशके सुन्दर बनते थे। कलचुरि कलाकारोंने कुछ परिवर्तनके साथ इस शैलीको अपनाया। उसी शैलीका साधारण अनुकरण दक्षिण-कोसल-छत्तीसगढ़में किया गया। ऐसी स्थितिमें उत्तर भारतीय द्वार-निर्माण-शैलीका प्रभाव बना रहना स्वाभाविक ही है।

डोंगरगढ़की पहाड़ीके अवशेषोंको मैं कलचुरि कालमें नहीं रखना चाहता, कारण कि उपासक, उपासिका तथा पार्श्वदोंके तनपर पड़े हुए वस्त्रोंपर गोंड प्रभाव स्पष्ट है। आभूषण भी गोंड और कलचुरि कलामें व्यवहृत अलंकारोंसे कुछ मेल रखते हैं। ओठ भी मोटे हैं, मस्तकके बाल कुछ लम्बे बँधे हुए हैं, इन सब बातोंसे यह ज्ञात होता है कि इसकी रचना

पन्द्रहवीं या सोलहवीं सदीके बीच कभी हुई होगी। उन दिनों भण्डारा जिलेमें जैनोंका अच्छा स्थान था; कारंजाके भट्टारकका दौरा नागरा तक हुआ था, साथ ही इस शताब्दीकी कुछ मूर्तियाँ लांजी, बालाघाट, पद्मपुर, आमगाँव, कामठा और किरनपुरमें पाई जाती हैं, यद्यपि इन स्थानोंमेंसे कुछ एक तो डोंगरगढ़से काफ़ी दूर पड़ते हैं, पर लांजी वगैरह दूर होते हुए भी, कलचुरियों द्वारा शासित प्रदेश था, अर्थात् शासनकी दृष्टिसे दूरत्व नहींके बराबर था। इसी समयकी गंडईमें भी कुछ एक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। डोंगरगढ़से बारहवें मीलपर बोरतालाव रेल्वे स्टेशन पड़ता है। यहाँपर आज भी इतना बीहड़ जंगल है कि रात्रिको ग्रामकी सीमातक जाना असम्भव है। यों तो यह किसी समय विशेष रूपसे सुरक्षित जंगल माना जाता था, पर आज वहाँ एक शेरने ऐसा उपद्रव मचा रखा है कि दो वर्षमें १५५ व्यक्ति स्वाहा करनेके बाद भी वह मस्तीसे घूमता है; इसी जंगलके द्वारपर एक जलाशय बना हुआ है। जलाशयसे ठीक उत्तर चार फलांग घनघोर जंगलमें प्रवेश करनेपर खंडित मूर्तियोंके एक दर्जनसे कुछ अधिक अवशेष दिख पड़ेंगे; इसमें मस्तक-विहीन एक ऋषभदेवकी प्रतिमा है, जिसपर "संवत् १५४८...जोवरा...डुंगराख्यनगरे...नित्यं प्रणमंति।"

यह लेख भी उपर्युक्तमन्दिर व मूर्तियोंके निर्माण कालीन परिस्थितिपर कुछ प्रकाश डालता है। जीवराज पापड़ीवालद्वारा सारे भारतमें मूर्तियाँ स्थापित करवानेकी न केवल किंवदन्तियाँ ही प्रचलित हैं अपितु कई प्रांतमें मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। लेखान्तरित "जीवरा" शब्दोंसे मैं जीवराज पापड़ीवालका ही सम्बन्ध मानता हूँ और डुंगराख्य नगरसे डोंगरगढ़। यदि लेखकी मिती मिल जाती तो अन्य मूर्तियोंकी मितियोंसे तुलना करते तो अवश्य ही नवीन तथ्य प्रकाशमें आता। उचित समयमें निस्सन्देह डोंगरगढ़में जैनोंका प्राबल्य रहा होगा। उसी समय जैनसमाजकी किसी प्रतिष्ठित नारीद्वारा डोंगरगढ़का उपर्युक्त मन्दिर बना होगा। कुछ समय

बाद जब जैनोंका प्राबल्य घटा या जैनधर्मका आचरण करनेवाली जातिमेंसे आचार-विषयक परम्परा लुप्त हुई, तब कामकन्दलावाली किंवदन्तीमें इस मंदिरको भी लपेट लिया गया हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है। भारतमें बहुतसे-ऐसे धार्मिक स्थान हैं, जिनकी ख्यातिके पीछे नारियोंका नाम जुड़ा हुआ है। उदाहरणार्थ-पिसनहारीकी मढ़िया।

प्रसंगतः एक बातका उल्लेख अत्यावश्यक जान पड़ता है कि उन दोनों डोंगरगढ़के निकटवर्ती भू-भागोंपर जैनकलाकारों और जैनकलाकारोंकी बस्ती पर्याप्त प्रमाणमें रही होगी। सम्भव है उस समयकी बहुत-सी मूर्तियाँ उन्हीं लोगों द्वारा बनवाई गई हों। भण्डारा ज़िलेमें जैनकलाकारोंकी बस्ती प्रायः हर एक गाँवमें मिलेगी। ये जैनकलाकार कल्चुरियोंके अवशेष हैं। इनके नामके आगे जुड़ा हुआ जैन शब्द इस बातका सूचक है कि कुछ समय पूर्व निश्चित रूपसे वे जैनधर्मका पूर्णतया आचरण करते रहे होंगे। इस जातिके कुछ शिक्षित भाई मुझे कामठामें मिले थे। वे स्वयं बोले कि किसी समय हमारे पूर्वज जैन थे, पर ज्यों-ज्यों हमारा सम्बन्ध परिस्थिति-जन्य विषमताओंके कारण, धार्मिक सिद्धान्तोंसे हटता गया; त्यों-त्यों हम इतने धर्मभ्रष्ट हो गये कि अहिंसाकी सुगन्ध भी आज हममें न रही।

अधिक अवकाश न मिलनेके कारण मैं पहाड़ीकी पूर्णतः छानबीन तो नहीं कर सका, पर जितने भागको देखकर समझ सका, उससे मनमें कौतूहल हुआ कि डोंगरगढ़-जैसा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल क्योंकर रहा—यहाँतक कि स्वर्गीय डाक्टर हीरालालजीने भी उपेक्षित रखा।

आरंग

रायपुरसे २२ मील दूर बसे आरंगमें एक प्राचीन जैनमन्दिर है, जिसका एक भाग जीर्ण होने व गिरनेके भयसे सरकारने दुरुस्त करवा दिया है। यहाँके मन्दिरका शिखर अत्यन्त सूक्ष्म नक्क़ाशीदार कोरणियोंसे आच्छादित होनेसे बहुत ही कलापूर्ण एवं मनोज्ञ है। शिखरके चारों ओर देव-देवियों-

की प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं, जिनका सम्बन्ध शायद दिगम्बर-सम्प्रदायसे है। उनमें आभूषणोंका बाहुल्य है। इसका प्रधान कारण कलचुरिकलाका असर जान पड़ता है। मन्दिरके गर्भगृहमें तीन दिगम्बर जैनमूर्तियाँ हरापन लिये हुए श्याम पाषाणपर उत्कीर्णित हैं। कलाकी दृष्टिसे मूर्तियोंसे भी बढ़कर परिकर सुन्दर है। इस मन्दिरके निर्माण-कालके विषयमें वहाँपर कोई लेख उत्कीर्णित न होनेसे निश्चित समय स्थिर करना ज़रा कठिन है, कलाके आधारपर ही समय निर्धारित करना होगा। मध्य-प्रान्तके छत्तीसगढ़-डिवीज़नमें रत्नपुरके पास पाली नामक एक ग्राम है, जहाँका शिव-मन्दिर प्रान्तमें प्राचीनतम माना जाता है। इसका नक्काशी-का काम आबूकी याद दिलाता है। इस मन्दिरका निर्माण बाण-वंशीय राजा विक्रमादित्यने सन् ८७०-८९५के बीच कराया और कलचुरिवंशीय जाजल्लदेव (राज्यकाल १०९५-११२०) ने जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि 'जाजल्लदेवस्य कीर्त्तिरियम्' वाक्यसे प्रकट होता है, जो वहाँके मन्दिरके स्तम्भोंपर उत्कीर्णित है। आरंगका जैन-मन्दिर ठीक इससे सौ या कुछ अधिक वर्ष बाद बनवाया गया मालूम देता है, क्योंकि इसमें शैव मन्दिरकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोरणीका अनुकरण किया गया है। इससे सिद्ध है कि आरंगका जैन-मन्दिर ११ वीं शतीके उत्तरार्द्धमें बना होगा।

महामायाके प्राचीन मन्दिरमें, जो सघन वनमें है, एकाधिक जैन-मूर्तियाँ अवस्थित हैं। एक पाषाणकी विशाल चट्टानपर चौबीस तीर्थंकरों-की एक साथ चौबीस मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। यह चतुर्विंशतिपट्ट महा-मायाके मूलमन्दिरमें सुरक्षित और अखण्डित है। आरंगसे दो मील दूर एक जलाशयपर कुछ ऐतिहासिक खण्डहरोंका हमें पता लगा था। पर परिस्थितिकी प्रतिकूलतावश वहाँ जाना न हो सका। एक केवटको भी रत्नोंकी मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जो रायपुरके दिगम्बर जैनमन्दिरमें सुरक्षित हैं। कहा जाता है कि किसी समय यह नगर जैन-संस्कृतिका प्रधान केन्द्र था। प्रान्तके प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० हीरालालने 'मध्य-

प्रदेशका इतिहास'में लिखा है—"रायपुर जिलेके आरंग-स्थानमें एक प्राचीन वंशके राज्यका पता चलता है, जिसे राजर्षि तुल्य-कुल कहा करते थे। यदि इसका संबंध खारवेलसे रहा हो, तो समझना चाहिए कि खारवेलका वंश सैकड़ों वर्षोंतक चला होगा।" इस अनुमानकी पुष्टि तत्रस्थ प्राप्त जैन-अवशेषोंसे नहीं होती, क्योंकि वे प्राचीन नहीं हैं।

रायपुरके अजायबघरमें भगवान् ऋषभदेव स्वामीकी एक प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति बड़ी सुन्दर, पर खण्डित है। स्थानीय प्राचीन दुर्गस्थ महामायाके मन्दिरमें दीवारपर ऋषभदेव भगवान्की एक प्रतिमा किसी सनातनीने जान-बूझकर चिपका दी है। इसका परिकर बड़ा सुन्दर है; पर अब तो इसका कुछ अंश ही सुरक्षित रह सका है। धमतरीके इतिहास-प्रेमी श्री विसाहुराव बाबर द्वारा हमें ज्ञात हुआ कि सिहावाके आस-पास भी जैन-धर्मसे सम्बन्धित लेख और अवशेष मिले हैं। ऐसे तीन लेखोंकी प्रतिलिपियाँ भी आपने हमें लाकर दी थीं। लेख विश्वसोमसेनके हैं। इसमें कोई शक नहीं कि सिहावा-इलाका इतिहास और अनुसन्धानकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। तन्निकटवर्ती काँकेर-स्टेटमें अनेक जैन-स्तम्भ और विभिन्न जैन-अवशेष मिले हैं। तात्कालिक वहाँके दीवान-जज श्री एम० बी० भादुड़ीने हमें दो ताम्रपत्र भिजवाये थे, जिनका सम्बन्ध वल्लालदेवसे था। ये आजतक अप्रकाशित हैं।

बिलासपुर-कालेजके भूतपूर्व प्रिंसिपल डा० बलदेवप्रसादजी मिश्रसे विदित हुआ कि सक्ती-स्टेटके जंगलमें एक विशालकाय जैनप्रतिमा है, जो वहाँके आदिवासियों द्वारा पूजित है। उन लोगोंकी मान्यता है कि यही उनके आराध्यदेव हैं। वे लोग प्रतिमाके समक्ष बलि भी चढ़ाते हैं। डा० साहबने प्रतिमा प्राप्त करनेके लिए वहाँके राजा साहबसे अनुरोध किया। पर प्रजा एकदम बिगड़ खड़ी हुई कि वह अपनी जान रहते किसीको भी, अपने आराध्यदेवको यहाँसे नहीं ले जाने देंगे। बात वहीं समाप्त हो गई।

श्रीपुर अथवा सिरपुरके अध्ययनके बिना मध्य-प्रान्तके पुरातत्त्वका अध्ययन सर्वथा अपूर्ण रहेगा। यहाँका गन्धेश्वर महादेवका मन्दिर प्राचीन माना जाता है। अर्वाचीन कालमें भी वहाँकी अवस्था और व्यवस्था बड़ी सुन्दर है। इसमें सिरपुरके त्रुटित अवशेष लाकर, बड़े यत्नके साथ रखे गये हैं। मन्दिरके मुख्य द्वारके समक्ष विशालस्तम्भोपरि चार दिगम्बर जैन-प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं, जो खड्गासनस्थ हैं। प्रस्तुत स्तम्भपर जो लेख खुदा है, वह इस प्रकार है—"सं० ११६६ वैशाख...सा... समथर धारू तत् भार्या रूपी...सपरिवार युतेन...धर्मनाथ चतुर्मुख...नित्यं प्रणमंति।" इस स्तम्भसे मालूम होता है कि ऊपरके भागमें भी मूर्तियाँ थीं, जिनका चरण-भाग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मूर्तिकी सुन्दरताके लिए, इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि उसके मुख-कमलसे जो वीतराग भाव प्रस्फुटित होता है, शान्तिका वैसा प्रवाह अन्यत्र कम ही देखनेमें आता है। लक्ष्मणदेवालयके पास एक छोटा-सा अजायबघर-सा किसी समय बना था। पर आज वह अतीव दुरअवस्थामें है। ऊपरकी छत टूट गई है। उसमें अनेक प्रतिमाएँ, स्तम्भ व शिखरके त्रुटित भाग पड़े हैं। इनमेंसे एक साढ़े चार फुट ऊँची पद्मासनस्थ विशाल प्रतिमा है। एक स्तम्भपर अष्टमंगल उत्कीर्णित हैं।

एक महत्त्वपूर्ण धातु-प्रतिमा

यों तो प्रान्तमें अनेक स्थानोंपर प्राचीन धातु-प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं (जिनका सामूहिक निर्माण-काल विक्रमकी बारहवीं शतीसे प्रारम्भ होता है); परन्तु यहाँपर जिस मूर्तिके विषयमें पुरातत्त्व-प्रेमियोंका ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है, वह कलाकी दृष्टिसे अपना अलग ही स्थान रखती है। इसकी रचना-शैली स्वतन्त्र, स्वच्छ और उत्कृष्ट कलाभिव्यक्तिकी परिचायक है। मूल प्रतिमा पद्मासन लगाये है। निम्नभागमें वृषभ-चिह्न स्पष्ट है एवं स्कन्ध-प्रदेशपर अतीव सुन्दर केशावलि प्रसरित है। दोनों लक्षणोंसे

इतना तो विना किसी संकोच कहा जाता है कि प्रतिमा आदिनाथस्वामीकी है। दाहिनी ओर अम्बिकाकी एक मूर्ति है, जिसके बायें चरणपर लघु बालक, गलेमें हँसली पहने बैठा है। दाहिने चरणकी ओर बालक दाहिने हाथमें सम्भवतः मोदक एवं बायें हाथमें उत्थित सर्प लिये खड़ा है। प्रश्न होता है कि आदिनाथस्वामीके परिकरसे अम्बिकादेवीका सम्बन्ध ही क्या? जब कि उनकी अधिष्ठात्री अम्बादेवी न होकर चक्रेश्वरी हैं। परन्तु जाँच-पड़ताल करनेपर मालूम हुआ कि प्राचीन जैन-मूर्तियोंमें अम्बिकादेवीकी प्रतिमा स्पष्टोत्कीर्णित पाई जाती है। मथुरा और लखनऊके अद्‌भुतालयोंमें बहुसंख्यक प्राचीन जैन-प्रतिमाएँ, ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनके साथ अम्बिकादेवीकी प्रतिमा है। ये अवशेष ईस्वी सन् पूर्वके सिद्ध किये जा चुके हैं। सौराष्ट्र-देशान्तर्गत ढाँकमें, जहाँके सिद्ध नागार्जुन थे, दसवीं शतीकी ऐसी ही जैन-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। पश्चात् १२ वीं शताब्दीकी अर्बुदाचल-स्थापित प्रतिमाओंमें भी अम्बिकाका बाहुल्य है। साथ ही कतिपय प्राचीन साहित्यिक उल्लेख भी हमारे अवलोकनमें आये हैं, जिनसे जाना जाता है कि पन्द्रहवीं शतीतक उपर्युक्त मान्यता थी, जैसा कि सं० १४९३ की एक स्वाध्याय पुस्तिकामें उल्लिखित है :—

"बारइ नेमीसर तणइ ए थप्पिय राय सुसम्मि।
आदिनाह अंबिक सहिय कंगढ़कोट सिरम्मि॥"

श्री साराभाई नवाबके संग्रहमें भी अंबिका-सहित आदिनाथजीकी प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। ऋषभदेवकी प्रतिमाके दाहिनी ओर जो देवीकी प्रतिमा है, उसे हम तादृश रूपसे तो चक्रेश्वरी माननेमें पश्चात्पद हुए विना न रहेंगे; क्योंकि आयुधादिका जैसा वर्णन जैन-शिल्पकलात्मक शास्त्रोंमें आया है, वह प्रस्तुत प्रतिमामें आंशिक रूपमें भी नहीं घटता है। देवीके आभूषणोंको हम सामाजिक उत्कृष्टताकी कोटिमें न रख सकें, तथापि सामान्यतः उसका ऐतिहासिक मूल्य एवं महत्त्व तो है ही। केश-विन्यास बड़ा

ही आकर्षक है। मूल स्थानपर भगवान्‌की प्रतिमा उलटे कमल-पुष्पासनपर विराजित है, जिसके चारों ओर गोल कंगूरे स्पष्ट हैं। मस्तक-पर जटा-सा केशगुच्छक अलंकृत है। पश्चात् भागमें प्रभावली (भामण्डल) है, जिसे गुप्तकालीन कलाका आंशिक प्रतीक माना जा सकता है।

प्रतिमाके निम्न भागमें आठ लघु प्रतिमाएँ, विविध प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हैं। बाजूमें उच्चासनपर एक प्रतिमा बनी हुई है। यहाँपर स्मरण रखना चाहिए कि 'वास्तुसार-प्रकरण' में राहु व केतुको एक ही ग्रह माना गया है। बड़ी उदरवाली प्रतिमा देखनेमें कुबेर-तुल्य लगती है; पर वस्तुतः है वह यक्षराज की, जैसा कि तत्कालीन जैन-शिल्पोंसे विदित होता है। यद्यपि इस मूर्तिका निर्माण-काल-सूचक कोई लेख उत्कीर्णित नहीं; पर अनुमानतः यह ९ वीं शताब्दीकी होनी चाहिए। इस प्रतिमाकी कलासे भी उत्कृष्ट कलात्मक बौद्ध और सनातनधर्मान्तर्गत सूर्य आदिकी मूर्तियाँ इसी नगरमें प्राप्त हुई हैं, जिनपर पौनार तथा भद्रावर्तीमें प्राप्त अवशेषोंकी कलाका आंशिक प्रभाव है। उस समय मध्य-प्रान्तमें बौद्धाश्रित कलाका प्रचार था। जहाँपर जिस कला-शैलीका विकास हो, वहाँके सभी सम्प्रदाय उक्त कलासे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इसीका उदाहरण प्रस्तुत प्रतिमा है। बौद्ध तत्त्वज्ञोंने इसे तत्त्वज्ञानका रूप देकर कलामें समाविष्ट किया है। कहना न होगा कि ८ वीं सदीमें यह रूप सार्वत्रिक था। इस प्रतिमाका महत्त्व इसलिए भी है कि प्रान्तके किसी भी भू-भागमें इस प्रकार की जैन-प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है।

इस प्रतिमाकी प्राप्तिका इतिहास भी मनोरंजक है। यद्यपि हमें यह सिरपुरस्थ गन्धेश्वरमहादेव मठके महन्त मंगलगिरिजीसे प्राप्त हुई है; पर वे बताते हैं कि भीखमदास नामक पुजारीको कहीं खोदते समय बहुसंख्यक कलापूर्ण बौद्धप्रतिमाएँ एक विस्तृत पिटारेमें प्राप्त हुई थीं।

उपसंहार—

उपर्युक्त पंक्तियोंके अतिरिक्त रीठी, धन्सौर, सिहोरा, नरसिंहपुर, बरहेठा, एलिचपुर, आदि कई स्थान हैं, जहाँ जैनमूर्तियाँ आज भी प्राप्त होती हैं। "मध्यप्रदेशका इतिहास"के लेखक श्रीयोगेन्द्रनाथ सीलकी डायरियाँ—दैनन्दिनियाँ उनके पुत्र श्री नित्येन्द्रनाथ सीलके पास आज भी सुरक्षित हैं। मध्यप्रदेश और विशेषकर महाकोसलके जैन-पुरातत्त्वकी कौन-सी सामग्री कहाँ किस रूपमें पायी जाती है, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य, उनमें संगृहीत हैं। मुझे आपने कुछ भाग बताया था, उसमें उल्लेख था कि आजसे ५० वर्ष पूर्व धन्सौरमें २५ से अधिक जैनमन्दिर, सामान्यतः ठीक हालतमें थे। पर अब तो वहाँ केवल कुछ भागोंमें खंडहर ही दिखाई पड़ते हैं। यदि सील साहबकी डायरियाँ न होतीं तो आज उन्हें पहचानना कठिन ही था। ऐसी ही एक दैनंदिनी मुझे आजसे ११ वर्ष पूर्व, नागपुर जैन-मंदिर स्थित हस्तलिखित ग्रंथोंके अन्वेषण करते समय प्राप्त हुई थी, जिसमें सिद्धक्षेत्र-पादलिप्तपुरके सत्रहवीं शतीसे २० शतीतकके महत्त्वपूर्ण लेख संग्रहीत हैं। इनमें मध्यप्रदेश स्थित एलिचपुरके लेख भी हैं। यह संग्रह नागपुरके एक यति द्वारा २० शतीके आदि चरणमें किया गया था। मुझे बिना किसी संकोचके कहना पड़ता है कि जैन-मुनियोंने म० प्र०के इतिहासके साधन बहुत कुछ अंशोंमें सँभाल रखे हैं, इसप्रकारके अनेक साधन इधर-उधर बिखरे पड़े हैं, जिन्हें एकत्र करना होगा।

पुरातत्त्वान्वेषणमें छोटी-छोटी वस्तुएँ भी, किसी घटना विशेषके साथ संबन्ध निकल आनेपर, महत्त्वकी सिद्ध हो सकती हैं। कभी-कभी ऐसे साधनसे बड़े-बड़े तद्विदोंको अपना मत परिवर्त्तन करना पड़ता है। अतः हमारा प्राथमिक कर्तव्य होना चाहिए कि ऐसे साधनोंका सार्वजनिक दृष्टिसे संग्रह करें, और अन्वेषकों द्वारा प्रकाश डलवावें। ऐसे कार्योंकी प्रगतिके लिए शासनका मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है।

१ अगस्त १९५२]

महाकोसल का जैन-पुरातत्त्व

महाकोसल मध्य-प्रदेशका एक विभाग है। इसमें हिन्दी-भाषी जिले सम्मिलित हैं। छत्तीसगढ़ डिवीजनका समावेश भी इसीके अन्तर्गत है। मध्य-प्रदेशके प्राचीन इतिहासकी दृष्टिसे महाकोसलका विशेष महत्त्व है, सापेक्षतः प्राचीन ऐतिहासिक घटनाएँ निर्दिष्ट भू-भागपर ही घटी हैं। एतद्विषयक ऐतिहासिक साधन इसी भू-भागसे प्राप्त हुए हैं। आज भी महाकोसलके वन एवं गिरिकन्दरा तथा खण्डहरोंमें, भारतीय शिल्पस्थापत्य एवं मूर्तिकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाली व इनके क्रमिक विकासपर कलाकी दृष्टिसे—प्रकाश डालनेवाली मौलिक कलाकृतियाँ प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होती ही रहती हैं। मुझे विशेष रूपसे यहाँकी मूर्त्तिकलाका अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ, जब १२वीं शताब्दीमें अन्य प्रान्तोंके कलाकार मूर्त्तिनिर्माणमें शिथिल पड़ गये थे, उन दिनों यहाँके कलाकार अपनी शिल्प-साधनामें पूर्णतः अनुरक्त थे।

अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा महाकोसलमें शिल्पकलाकी दृष्टिसे अनुसन्धान कार्य बहुत ही कम हुआ है। जो हुआ है वह नहींके बराबर है। जनरल कनिंहाम[1] और राखालदास[2] बनर्जी आदि पुरातत्त्वविदोंने अवश्य ही प्रमुख स्थानोंका निरीक्षण कर इतिवृत्तकी खानापूर्ति की है। परन्तु जितने स्थानोंका विवरण प्रकाशित किया गया है, उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान एवं अवशेष आज भी उपेक्षित पड़े हुए हैं, जिनकी ओर केन्द्रीय पुरातत्त्व-विभाग एवं प्रान्तीय शासनने आजतक ध्यान नहीं दिया; न देनेवाले सांस्कृतिक कार्यकर्त्ताओंको प्रोत्साहित ही किया, बल्कि तथाकथित व्यक्तियोंके प्रति अभद्र व्यवहार किया गया। उचित अनुसन्धानके अभावमें महत्त्वपूर्ण

---

[1] आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ् इंडिया, पुस्तक १७।

[2] हैहयाज् ऑफ त्रिपुरी एण्ड देअर मान्यूमेण्ट्स।

जैन कलाकृतियोंका प्रकाशमें न आना सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ बिखरे हुए जैन-अवशेषोंको देखकर तो ऐसा ही लगता है कि किसी समय महाकोसल जैन-संस्कृतिका प्रधान केन्द्र रहा होगा। जैन-पुरातत्त्वके अवशेषोंको समझनेमें शुरूसे विद्वानोंने बड़ी भूल की है। जैन-बौद्ध-मूर्तिकलामें जो अंतर है, वे समझ नहीं पाते, इसी कारण महाकोसलकी अधिकतर जैन-कलाकृतियाँ बौद्धसे पहचानी जाती हैं।

सरगुजा राज्यमें लक्ष्मणपुरसे १२ वें मीलपर रामगिरि पर्वतपर जो गुफाएँ उत्कीर्णित हैं, उनमें कुछ भित्तिचित्र भी पाये गये हैं। रायकृष्णदासजीका मत है, इनमेंसे "कुछ चित्रोंका विषय जैन था।"[१] कारण कि पद्मासन लगाये एक व्यक्तिका चित्र पाया जाता है। इस गुफामें एक लेख भी उपलब्ध हुआ है। भाषा प्राकृत है। डा० ब्लाखके मतसे इसका काल ईसवी पूर्व ३ शती जान पड़ता है। इस प्रमाणसे तो यही प्रमाणित होता है कि उन दिनों श्रमणसंस्कृतिका प्रभाव इस भूभागपर अवश्य ही रहा होगा। पद्मासन[२] जैनतीर्थंकरकी ही विशेष मुद्रा है। बौद्धोंमें इस मुद्राका विकास बहुत काल बादमें हुआ है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अशोकका एक स्तम्भ भी रूपनाथमें मिला है, जिसपर उनकी आज्ञाएँ खोदी गई हैं। तो बौद्ध संस्कृतिका प्रतीक रूपनाथ और जैन-संस्कृतिका रामगिरि[३] (रामटेक नहीं जैसा कि

---

[१] भारतकी चित्रकला, पृ० २।

चित्रके लिए देखें आ० स० इं० १६०३-४, पृ० १२३।

[२] केटलाग आफ दि आर्कियोलॉजिकल म्यूज़ियम at Mathura by J. वोगल Ph. D., Allahabad.

[३] श्री उग्रादित्याचार्यने अपना कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ भी शायद इसी रामगिरिपर रचा था।

वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः

प्रोद्यद्वृक्षलतावितानिरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।

सिंगथीजी मानते हैं) अतः ईसवीपूर्व ३ री शतीमें जैन-प्रभाव महाकोसलमें था।

शिल्प-स्थापत्य कलाकी विकसित परम्पराको समझानेके लिए मूर्तिकी अपेक्षा स्थापत्य अधिक सहायक हो सकते हैं। सम-सामयिक कलात्मक उपकरणोंका प्रभाव स्थापत्यपर अधिक पड़ता है। महाकोसलमें प्राचीन जैन-स्थापत्य बच ही नहीं पाये, केवल आरंगका एक जैनमन्दिर बच गया

सर्वे मंदिरकंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते
रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥

इसमें रामगिरिके लिए जो विशेषण दिये गये हैं, गुहा मन्दिर चैत्यालयोंकी जो बात कही है, वह भी इस रामगिरिके विषयमें ठीक जान पड़ती है। कुलभूषण और देशभूषण मुनिका निर्वाणस्थान भी यही रायगढ़ है या उसके आसपास कहीं महाकोसल ही में होगा।

जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २१२

प्रेमीजीकी उपर्युक्त कल्पनासे मैं भी सहमत हूँ, कारण कि कालिदास वर्णित यही रामगिरि है। वाल्मीकि रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें शिलाचित्र एवं उसके खास शब्दोंका उल्लेख आया है। ऊपरके सभी उल्लेख इसी स्थानपर चरितार्थ होते हैं। रामटेकमें उल्लेखनीय शिलाचित्रण उपलब्ध नहीं होते। यदि रामटेक ही रामगिरि होता तो मध्यकालीन जैन-यात्री या साहित्यिक इसका उल्लेख अवश्य ही करते। इतना निश्चित है कि उपर्युक्त मुनियोंका निर्वाणस्थान महाकोसलमें ही था।

महाकोसलमें बहुत-से ऐसे जैन-मन्दिरके अवशेष व पूरे मंदिर पाये जाते हैं, जो अजैनोंके अधिकारमें हैं। कुछ ऐसे भी मन्दिर हैं जो अद्यावधि पहिचाने नहीं गये। उदाहरणार्थ—रायबहादुर डा० हीरालालने मंडला-मयूख पृ० ७६ में कुकर्रा मठकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "इस मन्दिरकी कारीगरी नवीं या १० वीं शताब्दीकी जान पड़ती है। पुरातत्त्वज्ञ इस मन्दिरको जैनी बतलाते हैं।" बरेठा, बिलहरी और बड़गाँवमें ऐसे मन्दिर व अवशेषोंकी कमी नहीं है।

है, वह भी इसलिए कि उसमें जैन मूर्ति रह गई है। यदि प्रतिमा न रहती तो इस जैन-प्रासादका कभीका रूपान्तर हो चुका होता। इस मन्दिरकी आयु भी उतनी नहीं है कि जो उपर्युक्त विशृंखलित परम्पराकी एक कड़ी भी बन सके। तात्पर्य कि यह १० वीं शतीके पूर्वका नहीं है। यहाँपर जैन-अवशेष प्रचुर परिमाणमें बिखरे पड़े हैं। परन्तु जैन तीर्थमाला या किसी भी ऐतिहासिक ग्रंथमें आरंगकी चर्चातक नहीं है। हाँ, ६ शती पूर्व वहाँ जैन-संस्कृतिका प्रभाव अधिक था, पुष्टि स्वरूप अवशेष तो हैं ही। एक और भी प्रमाण उपलब्ध है। यह वह कि आरंगसे श्रीपुर-सिरपुर जंगली रास्तेसे समीप पड़ता है। वहाँपर भी जैन-अवशेष बहुत बड़ी संख्यामें मिलते हैं। इनकी आयु भी मंदिरकी आयुसे कम नहीं है। ६ वीं शताब्दीकी एक धातु मूर्ति-भगवान् ऋषभदेव—मुझे यहींसे प्राप्त हुई थी। श्रीपुर इतःपूर्व बौद्ध संस्कृतिका केन्द्र था। मुझे ऐसा लगता है जहाँ बौद्ध लोग फैले वहाँ जैन भी पहुँच गये। यह पंक्ति महाकोसलको लक्ष्य करके ही लिख रहा हूँ। आरंगके मंदिरको देखकर रायबहादुर डा० हीरालालजीने कल्पना की है कि यहाँपर महामेघवाहन खारवेलके वंशजोंका राज्य रहा होगा। इससे फलित होता है कि ६ वीं शताब्दीतक तो जैन-संस्कृतिका इतिहास मिलता है, जो निर्विवाद है। परन्तु भित्तिचित्रसे लगाकर ८ वीं सदीके इतिहास साधन नहीं मिलते। भारतीय इतिहासके गुप्तकालमें महाकोसल काफ़ी ख्याति अर्जित कर चुका था। इलाहाबादका लेख और एरणके अवशेष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उपलब्ध शिल्पकलाके आधारपर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ८ और ६ वीं शताब्दीसे जैन शिल्पकलाका इतिहास प्रारम्भ होता है। गुफाचित्रोंसे लगाकर आठवीं शतीतकका भाग अन्धकारपूर्ण है। इसका कारण भी केवल उचित अन्वेषणका अभाव ही जान पड़ता है।

कलचुरियोंके समय जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका अच्छा विकास हुआ। वे शैव होते हुए भी परमतसहिष्णु थे। जैनधर्मको विशेष आदरकी

दृष्टिसे देखते थे। कलचुरि शंकरगण तो जैनधर्मके अनुयायी थे, इनने कुल्पाकक्षेत्रमें १२ गाँव भी भेंट चढ़ाये थे। इनका काल ई० सं० सातवीं शती पड़ता है। महाकोसलमें सर्वप्रथम कोक्कल्लने अपना राज्य जमाया। त्रिपुरी-तेवर-इनकी राजधानी थी। कलचुरियोंका पारिवारिक संबंध दक्षिणी राष्ट्रकूट शासकोंके साथ था। राष्ट्रकूटोंपर जैनोंका न केवल प्रभाव ही था, बल्कि उनकी सभामें जैन विद्वान् भी रहा करते थे। महाकवि पुष्पदंत राष्ट्रकूटों द्वारा ही आश्रित थे। अमोघवर्षने तो जैन-धर्मके अनुसार मुनित्व भी अंगीकार किया था, ऐसा कहा जाता है। यद्यपि बहुरीबंद आदि कुछेक स्थानोंकी जैन-मूर्त्तियोंको छोड़कर कलचुरि-कालके लेख नहीं पाये जाते, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो कलचुरिकालीन जैन शिल्प-कृतियोंको छोड़कर, शिलोत्कीर्णित लेख अत्यल्प ही पाये गये हैं, परन्तु लेखोंके अभावमें भी उस समयकी उन्नतिशील जैन-संस्कृतिके व्यापक प्रचारके प्रमाण काफ़ी हैं। जैन-मूर्तियोंके परिकर एवं तोरण तथा कतिपय स्तंभोंपर खुदे हुए अलंकरणोंके गम्भीर अनुशीलनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनपर कलचुरिकालमें विकसित, तक्षणकलाका खूब ही प्रभाव पड़ा है, कुछेक अवशेष तो विशुद्ध महाकोसलके ही हैं। कृतियाँ भिन्न भले ही हों, पर कलाकार तो वे ही थे या उनकी परम्पराके अनुगामी थे। निर्माण-शैली और व्यवहृत पाषाण ही हमारे कथनकी सार्थकता प्रमाणित कर देते हैं। यहाँके इस कालके जैन, बौद्ध और वैदिक अवशेषोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि यहाँके कलाकार स्थानीय पाषाणोंका उपयोग तो कलाकृतियोंके निर्माणमें करते ही थे, पर कभी-कभी युक्त प्रान्तसे भी पत्थर मँगवाते थे। कलचुरिकालके पत्थरकी मूर्तियाँ अलगसे ही पहचानी जाती हैं।

९से १३वीं शती तकके जितने भी जैन-अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमेंसे बहुतोंका निर्माण त्रिपुरी और बिलहरीमें हुआ होगा। कारण दोनों स्थानों-पर जैन-मूर्तियाँ आदि अवशेषोंकी प्रचुरता है। कैमोरके पत्थरकी जैन प्रतिमाएँ प्रायः बिलहरीमें मिलती हैं और त्रिलहरीके ही लाल पत्थरके

तोरण भी पर्याप्त मिले हैं। लाल पत्थर पानीसे खराब हो जाता है, प्रक्षाल-की सुविधाके लिए कलाकारोंने मूर्ति-निर्माणमें कैमोरका भूरा और चिक्कण पत्थर व्यवहृत किया है।

प्रसंगतः सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है, कि जिस प्रकार कल-चुरियोंके समयमें महाकोसलके भू-भागमें उत्तमोत्तम जैनकलाकृतियोंका सृजन हो रहा था, उसी समय-जेजाकभुक्ति-बुंदेलखण्डमें चँदेलोंके शासनमें भी जैनकला विकासकी चोटीपर थी। आजकी शासन-सुविधाके लिए जो भेद सरकारने किये हैं, इससे महाकोसल और बुन्देलखंड भले ही पृथक् प्रदेश जँचते हों, परन्तु जहाँतक संस्कृति और सभ्यताका सवाल है, दोनोंमें बहुत ही सामान्य अन्तर है, यानी जबलपुर और सागर ज़िले तो एक प्रकार-से सभी दृष्टिसे बुन्देलखंडी ही हैं। सामीप्यके कारण कलात्मक आदान-प्रदान भी खूब ही हुआ है। मुझे बुन्देलखंडमें बिखरे हुए कुछेक जैनावशेषोंके निरीक्षणका अवकाश मिला है, मेरा तो इस परसे यह मत और भी दृढ़ हो जाता है कि कलाके उपकरण और अलंकरण तथा निर्माणशैली—दोनोंमें साधारण अन्तर है। अधिक अवशेष, दोनों प्रदेशोंमें एक ही शताब्दीमें विकसित कलाके भव्य प्रतीक हैं। बुन्देलखंडके जैन-अवशेषोंका बहुत बड़ा भाग तो, वहाँके शासकोंकी अज्ञानताके कारण, बाहर चला गया, परन्तु महाकोसलके अवशेष भी बहुत कालतक बच सकेंगे या नहीं, यह एक प्रश्न है। दुर्भाग्यसे इतिहास और कलाके प्रति अभिरुचि रखनेवाले कुछेक व्यक्ति, जिसमें जैन भी सम्मिलित हैं, सीमापर हैं, जो इन पवित्र अवशेषोंको दूसरे प्रान्तोंमें विक्रय किया करते हैं। यह घृणित कार्य्य है। वे अपनी संस्कृतिके साथ महा अन्याय कर रहे हैं। इस ओर शासनका मौन खेद व आश्चर्यजनक है।

स्थापत्य

यहाँपर पाये जानेवाले जैन-अवशेषोंको दो भागोंमें, अध्ययनकी सुविधा-

के लिए विभक्त किया जा सकता है—स्थापत्य और मूर्तिकला। स्थापत्य अवशेषोंमें आरंगके मंदिरको छोड़कर और कृति मेरी स्मृतिमें नहीं है। हाँ, त्रिपुरी, बिलहरी और बड़गाँव आदि स्थानोंमें कुछ स्तम्भ ऐसे पाये गये हैं, जिनपर स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, मीन-युगल और कुंभ कलश आदि चिह्न अवश्य ही पाये जाते हैं। निस्संदेह इनका सम्बन्ध जैनधर्मसे है। ये स्तम्भ जैनप्रासादके ही रहे होंगे। गवेषणा करनेपर इसप्रकारके अन्य प्रतीक भी मिल सकते हैं। विशाल जैनप्रासादोंके कुछ कलापूर्ण तोरण भी उपलब्ध हुए हैं। उदाहरण-स्वरूप दोके चित्र भी दिये जा रहे हैं। कुछ अवशेष मान[1] स्तम्भके भी प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषोंसे फलित होता है कि महाकोसलमें जैनमन्दिर अवश्य ही रहे थे, पर विन्ध्यप्रान्तके समान यहाँ भी अजैनों द्वारा अधिकृत कर लिये गये या विनष्ट कर दिये गये। उपर्युक्त समस्त प्रतीक स्थापत्य कलासे ही सम्बद्ध हैं। जैन स्थापत्यपर विपुल सामग्रीके अभावमें अधिक क्या लिखा जा सकता है।

मूर्तिकला

महाकोसलमें जितनी भी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सभी प्रस्तरोत्कीर्णित हैं। कलाकारको अपने भावोंको मूर्तरूप देनेके लिए पत्थरमें काफ़ी गुञ्जाइश रहती है। धातु मूर्ति[2], आजतक केवल एक ही ऐसी उपलब्ध हुई है, जो कलचुरी पूर्व विकसित मूर्तिकलाकी देन है। १६४५ पन्द्रह दिसम्बरको मुझे श्रीपुरके एक महन्तने भेंट स्वरूप दी थी। इसमें ग्रहोंका अंकन स्पष्ट था। पाषाणपर खुदी हुई जिनप्रतिमाएँ दो प्रकारकी मिली हैं—एक सपरिकर पद्मासन एवं अपरिकर या सपरिकर खड्गासन। सपरिकर पद्मासनस्थ जिनप्रतिमाओंमें सर्वश्रेष्ठ मूर्ति भगवान् ऋषभदेवकी

---

[1] दिगम्बर जैनमन्दिरोंके सम्मुख मानस्तम्भ स्थापित करनेकी प्रथा मध्यकालके कुछ पूर्वकी प्रतीत होती है।

[2] चित्र देखिए विशाल भारत १६४६ सितम्बर, पृ० १९६।

है जो[1] हनुमानताल-स्थित जैनमन्दिरमें सुरक्षित है। शिल्पकी दृष्टिसे इसका परिकर इतना सुन्दर एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि इस कोटिका एक भी दूसरा परिकर महाकोसलमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कलाकारकी सूक्ष्म भावना, उदात्त विचार-गांभीर्य एवं बारीक छैनीका आभास उसके एक-एक अंगमें परिलक्षित होता है। यह परिकर अन्य मूर्तियोंके उपकरणसे कुछ भिन्न जान पड़ता है। जैनप्रतिमाओंके विभिन्न परिकर एवं उपकरणोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि उनके निर्माता शिल्पियोंने अजैन तत्त्वोंका भी प्रवेश करा दिया है। यानी अष्टप्रातिहार्य, यक्ष-यक्षिणी एवं उपासक दम्पति तथा ग्रहोंको छोड़कर अन्य भाव अजैन मूर्तिकलामें विकसित परिकरोंके समान मिलते हैं। इसे प्रान्तीय प्रभाव भी कहना चाहिए।

परिकरहीन पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध हुई हैं जिनमेंसे कुछेक तो निस्सन्देह कला एवं अंगोपांगोंकी क्रमिक रचनाका उत्तम प्रतीक हैं। एक प्रतिमा ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसका परिकर केवल नवग्रहोंसे ही बना है। चित्र प्रबन्धमें दिया जा रहा है।

खड्गासनकी परिकरयुक्त प्रतिमाओंमें कलाकी दृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट मूर्ति जो मुझे जँची उसका चित्र एवं विवरण प्रस्तुत निबन्धमें दिया जा रहा है। आरंभके वर्णित मन्दिरमें वैविध्यकी दृष्टिसे एक परिकरयुक्त त्रिमूर्त्ति विराजमान है। उसे देखनेसे ऐसा लगता है कि कलाकारके हाथ अवश्य सुदृढ़ रहे होंगे, पर मानस दुर्बल था। भोंडी रेखाएँ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियोंकी वहाँ भरमार है। किसी शैलीसे आंशिक मिलता-जुलता एक त्रिमूर्तिपट्ट मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुआ है। बड़े परितापके साथ लिखना पड़ रहा है कि इसे एक ब्राह्मणने अपने गृहके आगे सीढ़ीमें लगा रखा था। परिकरविहीन खड्गासन मूर्तियाँ स्वतन्त्र एवं मन्दिरके स्तम्भोंमें पाई जाती हैं।

---

[1] यह मूर्ति त्रिपुरीसे ही लायी गयी है। कलाकी दृष्टिसे यह कलचुरि कलाका अभिमान है।

प्रासंगिक रूपसे एक बातका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि महाकोसलके कलाकार बहुसंख्यक मूर्तियोंके परिकरका निर्माण इस प्रकार करते थे कि उसमें संपूर्ण मन्दिरकी अभिव्यक्ति हो सके। शिखर, आमलक और कलशकी रेखाएँ स्पष्ट खोदी जाती थीं। जैनमूर्तिकला भी इस व्यापक प्रभावसे अछूती न रह सकी। यही कारण है कि मन्दिरके आगे लगाये जानेवाले तोरणांतर्गत मूर्तियोंमें भी उपर्युक्त भावोंका व्यक्तीकरण बड़ी सफलताके साथ हुआ है। यह विशुद्ध महाकोसलीय रूप जान पड़ता है। सिंहासन शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध है, परन्तु महाकोसलमें वह इतना व्यापक मूर्तरूप धारण कर चुका है कि प्रत्येक मूर्तिके बैठक स्थानके नीचे सिंहकी आकृति अवश्यमेव मिलेगी ही।

यों तो यक्षिणियोंकी प्रतिमाएँ परिकरमें सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु महाकोसल प्रान्तमें न केवल स्वतन्त्र विविध भावोंको लिये हुए यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ निर्मित ही होती थीं, अपितु इनके स्वतन्त्र मंदिर भी बना करते थे। लौकिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिए जैन-अजैन जनता मनौती भी किया करती थी। ऐसा एक मंदिर कटनी तहसील स्थित बिल-हरी ग्रामके विशाल जलाशयपर बना हुआ है। मंदिर अभिनव जान पड़ता है, परन्तु गर्भगृहस्थित चक्रेश्वरीकी मूर्त्ति १२ वीं शतीके बादकी नहीं है। मस्तकपर भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा विराजमान है। प्रथम तीर्थंकरकी अधिष्ठात्री देवीका यह मंदिर आज अजैनोंकी खैरमाई या खैरदैय्या बनी हुई है। इसी प्रकार अंबिका और पद्मावतीकी प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इनके मस्तकपर क्रमशः नेमिनाथ और पार्श्वनाथके प्रतीक रहते हैं।

खण्डित मस्तक

उपर्युक्त पंक्तियोंमें अखंडित या कम खंडित मूर्तियोंपर विचार किया गया है। मुझे अपने अन्वेषणमें केवल त्रिपुरीसे ही दो दर्जनसे अधिक

जैनप्रतिमाओंके मस्तक प्राप्त हुए हैं। संभव है धड़ोंको लोगोंने शिला बनानेके काममें ले लिया हो[1]। लड़ैया जातिका यही व्यवसाय है। इनके पूर्वज उत्कृष्ट शिल्पकलाके निर्मापक थे। उन्हींके वंशज उन्हींकी कलाकृतियोंके ध्वंसक बने हुए हैं। समयकी गति बड़ी विचित्र होती है।

जिन मस्तकोंकी चर्चाकी है, वे खड्गासन एवं पद्मासन दोनों प्रतिमाओंके हैं। कुछ लोग आवश्यक ज्ञानकी अपूर्णताके कारण, या मस्तकके घुंघराले बालोंके कारण तुरन्त राय दे बैठते हैं कि ये मस्तक बौद्ध प्रतिमाओंके हैं। किन्तु मैं सकारण ऐसा नहीं मानता। कारण स्पष्ट है कि उत्तर महाकोसलमें बौद्धकी अपेक्षा जैन-मूर्तियाँ ही अधिक प्राप्त हुई हैं। दक्षिण महाकोसलमें अवश्य ही बौद्ध-प्रतिमाओंकी बहुलता है। दूसरा कारण यह भी है कि कुछ धड़ भी ऐसे प्राप्त हुए हैं, जिनपर सर ठीकसे बैठ गये हैं। इन दो कारणोंके अतिरिक्त तीसरा यह भी कारण है कि बौद्ध-प्रतिमाएँ अक्सर जीवनकी विशिष्ट घटनाओंसे परिपूर्ण रहती हैं। प्रभावलीका अंकन भी निश्चय करके रहता है, जब कि कुछेक जैन प्रतिमाएँ प्रभावली-विहीन पाई गई हैं। मस्तकका पिछला भाग साक्षी-स्वरूप विद्यमान है। परिकर विहीन मूर्त्तिके मस्तक अलगसे ही पहचाने जाते हैं, उनका पिछला भाग चपटा रहता है। सपरिकरका अव्यवस्थित।

महाकोसलके जैन-पुरातत्त्वका सामान्य परिचय ऊपरकी पंक्तियोंमें मिल जाता है। मैंने ऊपर सूचित किया है कि अभीतक इस प्रान्तमें समुचित रूपसे अनुशीलन हुआ ही नहीं है। अभी तो सैकड़ों खंडहर ऐसे-ऐसे पड़े हैं, जिनमें सुन्दर-से-सुन्दर कलापूर्ण जैनपुरातत्त्वकी प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है, दुर्भाग्यसे न केन्द्रीय पुरातत्त्व विभागको इसकी चिन्ता है, न प्रान्तीय

---

[1] विन्ध्यप्रदेशमें जिन-मूर्तियोंके धड़ ही अधिक संख्यामें मिलते हैं, कारण कि मस्तककी कुंडियाँ बना दी जाती हैं, और कहीं-कहीं शिवलिंगके स्थानमें, उल्टे स्थापित कर डाले जाते।

सरकारको। समाज तो इस ओर उदासीन है ही। मेरा तो निश्चित मत है कि गवेषणा करवाई जाय जो जैनाश्रित शिल्पकलाके वैविध्यका ज्ञान अवश्य होगा। १०-१२ जगहसे मुझे सूचना भी मिली है कि मैं वहाँ जाकर जैनमूर्त्तियाँ उठा ले आऊँ? पर पाद-विहार करनेवालेके लिए यह संभव कैसे हो सकता है? अपने परमपूज्य गुरुदेव उपाध्याय मुनि श्री सुखसागरजी महाराज एवं ज्येष्ठ गुरुभ्राता मुनि श्री मंगलसागरजी महाराजके साथ विहार करते हुए मार्गमें जो-जो पुरातत्त्वकी सामग्री अनायास व अयाचित रूपसे मिल गई, उनका संग्रह अवश्य हो गया है। इस संग्रहमें जैनाश्रित कलाके उच्चतम प्रतीक ही अधिक हैं। मैं प्रस्तुत निबन्धमें, उनमेंसे, जो कला की दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं, वैविध्यको लिये हुए हैं और जो अभूतपूर्व कृतियाँ हैं, उन्हींका परिचय दे रहा हूँ।

खड्गासन-जिन-मूर्ति

प्रतिमा ५२३/४" ऊँची है। सपरिकर इसकी चौड़ाई १५३/४" है। इस प्रतिमामें प्रधान मूर्ति एकदम अप्रधान है, क्योंकि शिल्प-स्थापत्यकी दृष्टिसे उसमें शरीर रचनाकी सामान्यताके अतिरिक्त और कोई कलात्मक तत्त्व ध्यान आकृष्ट नहीं करता और न हमारी विवेचन बुद्धिको ही उद्‌बुद्ध करता है। अतः हम मुख्य मूर्तिकी अपेक्षा परिकरकी ओर ही विशेष ध्यान देंगे। यह परिकर निस्संदेह सुन्दर है और मूर्त्तिकलाकी दृष्टिसे क्रान्तिकारी परिवर्तनोंका द्योतक है। साधारणतः परिकरमें अष्टप्रतिहारियों या तीर्थंकरोंके जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ या जिन मूर्तियाँ ही खोदी जाती हैं; परन्तु यहाँ इनके सिवा भी अन्य सुन्दर और व्यापक कलात्मक उपकरणों और शैलियोंको अपना लिया गया है।

मूर्तिके चरणोंके दोनों ओर उभय पार्श्वदोंके अतिरिक्त मूर्ति-निर्माता दम्पति अवस्थित हैं। चारोंके मुख बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये हैं। यद्यपि इनकी शरीराकृति सुघड़ता एवं तदुपरि वस्त्राभूषणोंका खुदाव काफ़ी

बारीकीसे किया गया है। आभूषण सापेक्षतः छोटे होनेके कारण कलाकारकी कुशल छैनीका परिचय दे रहे हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। दोनों ग्रासोंके ऊपर चौकी है और चौकीपर चद्दरका छोर खुदा हुआ है। जिसपर जिन खड़े हुए हैं। व्यालके बायें-दायें यक्ष-यक्षिणी बहुत स्पष्ट एवं सुन्दर भावमुद्रामें उत्कीर्णित हैं। चतुर्मुखी यक्षके दाहिने हाथमें दण्डयुक्त कमल एवं आशीर्वादमुद्रा तथा बायें हाथमें बीजपूरक और परशुके समान एक शस्त्र है। गलेमें हार और कटि प्रदेशमें करधनी ही मुख्य आभूषण हैं। जटाजूटकी ओर ध्यान देनेसे शैव प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और यह स्वाभाविक भी है। कलचुरि और चन्देल वंशके राजा परम शैव थे और बुन्देलखण्ड तथा महाकोसलमें शैव संस्कृति काफ़ी उन्नत रूपमें थी। अन्य पुरातन कलावशेषोंके निरीक्षणसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

मूर्तिके बायें ओर सबसे नीचे यक्षिणी, यक्षके समान ही आभूषणोंको धारण किये बैठी है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ यक्षके बायें हाथमें बीजपूरक है, वहाँ इसके बायें हाथमें कलश अवस्थित है। केश राशि भी शैव प्रभावसे युक्त है। वस्त्रोंकी रचना सुन्दर है। प्रस्तुत प्रतिमा पंचतीर्थीकी है क्योंकि ऊपर-नीचे चारों ओर चार खड्गासनस्थ उत्कीर्णित हैं—पार्श्वदोंकी उभय ओर एवं दो मूर्तिके उपरभागके छत्रके निकट।

यक्षिणीके ऊपर एक खड़ी जिन मूर्तिके ऊपर एक रेखा सीधी गई है जिसमें निम्नलिखित विभिन्न अलंकरणोंका खुदाव कला एवं विविधताकी दृष्टिसे आकर्षक एवं अपेक्षाकृत कुछ नूतनत्वको लिये हुए है। गुप्तकालीन स्तम्भोंमें जिस प्रकारकी बोझसे दबी हुई आकृतियाँ पाई जाती हैं, ठीक उन्हीं आकृतियोंका अनुकरण इस प्रतिमामें किया जान पड़ता है। दोनों हाथ ऊपरकी ओर उठे हुए हैं, जो स्पष्टतः इस प्रकारके हैं मानो कि ऊपरका वज़न संभालनेमें व्यस्त हैं। भुजाओंके ऊपरसे नागावलिकी रेखा स्पष्ट है इसीलिए सीना भी बाहर तन गया है जो इस बातका सूचक है कि व्यक्तिपर काफ़ी बोझ पड़ रहा है। ये कीचक कहे जाते हैं।

इसके ऊपर अगले पाँवोंके आसरे एक हाथीकी प्रतिमा खुदी हुई है। तदुपरि एक सुकुमार बालक बना हुआ है। ध्यान देनेकी बात यह है कि ओठोंकी रचना कलाकारोंने कुछ ऐसे कौशलसे की है कि बालक, पुरुष और स्त्रीकी विभिन्नता उनसे सहज ही स्पष्ट हो जाती है। इस बालककी ओष्ठ रचनामें भी वही बात है। बालकके पीछे कुछ बेल-बूटे उत्कीर्णित हैं। बालकके ऊपर व्यालकी मूर्ति बनी है जो बहुत बारीकीसे गढ़ी जान पड़ती है क्योंकि उसके दाँततक गिने जा सकते हैं। प्रधान प्रतिमाके दूसरी ओर भी यही खुदाव है।

प्रभावली सामान्य है। दोनों ओर मंगल मुख खुदे हुए हैं। उनके हाथोंमें माला है जो पहननेकी तैयारीके प्रतीक स्वरूप है। मस्तकके ऊपर तीन छत्र एवं तदुपरि मृदंग बजाता हुआ एक यक्ष है। दोनों ओर हाथी खड़े हैं। सबसे ऊपर दो पत्तियाँ निकली हुई हैं जो अशोक वृक्षकी होनी चाहिए। इस प्रकार अष्टप्रतिहारी-युक्त प्रस्तुत प्रतिमा १२ वीं शतीकी होनी चाहिए। पत्थर भूरेपनको लिये हुए हैं।

यह मूर्ति मुझे बिलहरीकी एक सर्वथा खंडित व अरक्षित वापिकासे प्राप्त हुई थी। वापिकाके भीतरके चारों आलोंमें चार जिन मूर्तियाँ थीं इनमेंसे एक तो शायद स्व० रा० ब० डॉ० हीरालालजी कटनीवाले ले आये थे, उनके निवासस्थानके, बगीचेमें पड़ी हुई है।

तोरणद्वार

स्पष्टतः यह किसी जैनमन्दिरका तोरणद्वार है। इसकी लम्बाई ऊँचाई ३०"×२४" है। तोरण ११" गहरा है। यह तोरण एक पूर्ण मन्दिरकी आकृति ही है। जो अवशेष प्राप्त है, वह पूर्ण आकृतिका तीन चौथाई अंश है, जिसमें केन्द्र भाग साबित आ गया है। इसके केन्द्र भागमें पद्मासनस्थ जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। जिनके उभय ओर दो पार्श्वद चँवर एवं पुष्प लिये खड़े हैं, तदुपरि पुष्प मालाएँ लिये दो नागकन्याएँ गगनविहार कर रही हैं।

कलाकारने इन नागकन्याओंके ऊपर दो गजोंका निर्माण किया है। दोनों गजोंकी शुण्डाएँ आगेकी ओर उठ-उठकर आपसमें अपने आसरे छत्र सँभाले हुए हैं। उस छत्रकी स्थिति जिनमूर्तिके शिरोभागके बिलकुल ऊपर है। प्रधान मूर्तिपर एक चौकी विराजमान है। चौकीके ऊपर, जैसा अन्यत्र सभी जगह देख पड़ेगा, एक चादरका मुख्य अंश जमा हुआ है, उस प्रकारकी पद्धतिका विकास महाकोसल एवं सन्निकटवर्ती प्रतिमाओंकी अपनी विशेषता है। चौकीके निम्न भागमें उभय ओर मंगल मुख बने हैं। सभी जैन मूर्तियोंमें ये मंगलमुख बने रहते हैं। प्रधान मूर्तिके दायें-बायें अधिष्ठाता-अधिष्ठात्री अङ्कित हैं। अंकन इतना अस्पष्ट और कला-विहीन है कि निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि ये किस तीर्थंकरसे सम्बन्धित हैं। कलाकारने इन दोनोंके वाहन और आयुध स्पष्ट नहीं किये हैं। जिनसे कि उनका निश्चय करनेमें सहायता मिले।

प्रतिमाके मस्तकपर भी एक Arch महराबमें जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। इसके पीछे सम्पूर्ण शिखरका स्मरण दिलानेकी आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। आमलक, अण्डा और कलशतक स्पष्ट हैं। कहनेका तात्पर्यकी तोरणकी मध्यभाग वाली मूर्ति ऊपरकी एक आकृतिको मिलाकर एक मन्दिरके रूपमें दिखलाई पड़ती है। इस शिखरके ऊपर भी कुछ आकृति अवश्य जान पड़ती है, परन्तु खंडित होनेसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किसका प्रतीक होगा? अनुमानतः वह ध्वजका चिह्न होना चाहिए। तोरण में और भी त्रिगड़ा एवं एक अष्टप्रतिहारी, मूर्तियाँ हैं। कलाकी दृष्टिसे उनका विशेष महत्त्व नहीं, अतः स्वतन्त्र उल्लेख अनावश्यक है।

इस तोरणका महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टिमात्रसे नहीं। इसमें जो विभिन्न अलंकरण, डिजाइन तथा सुरुचिपूर्ण बेल-बूटे कढ़े हुए हैं; वे अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण हैं। इसमें रेखागणितकी किन्हीं रेखाओंकी छटा भी खिंच आई है। तोरणके मध्य भागमें एक बालक मकरारूढ़ है। मकर और आरोहीकी मुखाकृति बड़ी सुघड़ है। अन्य अलंकरणोंमें मगध शैलीके

अनुरूप दो दीपक गढ़े गये हैं। मगध और महाकोसलके पारस्परिक कलात्मक आदान-प्रदानकी परम्परा स्पष्टतः इन दीपकोंमें झलकती है।

प्रश्न है कि प्रस्तुत तोरणका निर्माण-काल क्या हो सकता है? तद्विषयक किसी स्पष्ट सूचना, अथवा लेखके अभावमें यह निश्चित संदिग्ध ही रहेगा। हाँ, मूर्तिका प्रस्तर एवं मूर्तियोंके उभय पार्श्वदोंमें जो स्तम्भ बने हैं, वे कुछ सूचनाएँ देते हैं। वेलोंके डिज़ाइन भी कुछ संकेत करते हैं। ऐसे स्तम्भ बुन्देलखण्डके अन्य कतिपय मन्दिरोंमें पाये गये हैं। इन मन्दिरोंकी और उनके स्तम्भकी रचना १२ वीं अथवा १३ वीं शतीकी मानी जाती है। अतः बहुत सम्भव है कि यह तोरण भी उसी युगकी रचना हो। इस प्रकारका प्रस्तर भी १२ वीं और १३ वीं शतीमें ही व्यवहृत होने लगा था। यद्यपि बिलहरीके तोरणको देखकर कल्पना तो इसी पत्थरकी हो सकती है, परन्तु उसमें और इसमें सबसे बड़ा बाह्य वैषम्य यही पड़ता है कि बिलहरीवाला पत्थर घिसनेमें कोमल और क्षरणशील है जब कि यह कठोर और Brittle कड़कीला। तोरणका यह अंश मुझे त्रिपुरीकी एक वृद्धाने भेंट स्वरूप दिया था, इनके पास और भी कलाकृतियाँ सुरक्षित हैं, खासकर नवग्रहोंकी मूर्ति तो अतीव सुन्दर कृति है।

जैन-तोरण

सापेक्षतः यह जैन-तोरण-द्वार अधिक कलात्मक एवं सम्पूर्ण है। पूरा तोरण ५५" × ११" विस्तृत है। सब मिलाकर ६ मूर्तियाँ हैं जिनमें ३ जैन तीर्थङ्करोंकी हैं। मध्यम भागमें पद्मासनस्थ जिन एवं एक गवाक्षके अन्तरपर दोनों ओर खड्गासनस्थ दो दूसरे तीर्थङ्कर हैं। इसके अतिरिक्त ५ शासन देवी और एक यक्ष भी उत्कीर्णित है। मध्य-स्थित प्रभावलीयुक्त जिन-मूर्तिके दोनों ओर भक्त आराधनामें अनुरक्त बताये गये हैं। दायीं ओरके समीपतम भागमें चतुर्भुजी देवी हैं। इनके दो हाथोंमें सदण्ड कमल हैं जो क्रमशः दायें बायें हैं। तीसरा हाथ जो दायाँ है, आशीर्वाद मुद्रामें

है। चौथे हाथमें बीजपूरक धारण किये हुए हैं। दायीं ओरकी दूरतम शासन देवी भी चतुर्भुजी हैं और समान रूपसे दूसरी जैसी ही हैं। जिस यक्षका उल्लेख ऊपर किया गया है, वह कुवेर ही जान पड़ते हैं, जो तोरण की दायीं ओरसे प्रथम ही उत्कीर्णित हैं। इनके बायें हाथमें सर्प एवं दायें हाथमें मोदक रखा हुआ है। पिछली ओर कलाकारने पत्तियों सहित छोटी-मोटी-तरु-शाखाओंका प्रदर्शन किया है। यों तो इस प्रकारकी आकृतियाँ सभी मूर्तियोंके पृष्ठ भागमें अङ्कित हैं, परन्तु इनका अंकन अधिक स्पष्ट और स्वाभाविकताको लिये हुए हैं।

मध्य भागके बायीं ओर चलनेपर पहली शासनदेवी फिर चतुर्भुजी है। दाहिने हाथमें शंख और बायें हाथमें चक्र उत्कीर्णित हैं। अतिरिक्त दो हाथोंमें कुछ फल-जैसी आकृति अंकित है, परन्तु खंडित होनेके कारण निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे क्या लिये हुए हैं। दूसरी शासन-देवी द्विभुजी ही है। यह स्पष्टतः अंबिका हैं, क्योंकि बायें हाथमें शिशु एवं दाहिने हाथमें आम्रलुम्ब धारण किये हुए हैं। यद्यपि अम्बिकाके दो बच्चे होने चाहिए एवं सिंह-वाहन भी अपेक्षित था, परन्तु महाकोसल और तन्निकटवर्ती प्रदेशमें अम्बिकाकी दर्जनों ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें दोनोंका ही स्पष्ट अभाव है। आम्रलुम्ब मात्रसे निस्सन्देह यह अम्बिका ही सिद्ध होती है। अन्तिम शासनदेवीके दायें हाथमें सदण्ड कमल है, एवं दूसरा हाथ जमीनको छुए हुए है।

इस प्रकार इतनी मूर्तियोंवाले तोरण भारतमें कम ही उपलब्ध होते हैं। इस तोरणद्वारके उपरिभाग वाले हिस्सोंमें खुदी हुई देवियोंकी विभिन्न मूर्तियोंसे हम एक बातकी कल्पना कर सकते हैं कि उन दिनोंकी जैन-जनता देव-देवियोंमें अधिक विश्वास करती थी। यदि ऐसा न हुआ तो इसमें जिन-प्रतिमाओंका प्राधान्य रहता।

इस तोरणका महत्त्व जैन-पुरातत्त्वकी दृष्टिसे तो है ही, साथ ही साथ शिल्पकलाकी दृष्टिसे भी इसका विशेष मूल्य है। प्रत्येक मूर्तियोंके उपरि-

भागमें जो आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं वे किसी मन्दिरका मधुर स्मरण दिलाती हैं। इनके अलंकरण, भिन्न-भिन्न बेल-बूटे भी सामान्य होते हुए भी इसके सौन्दर्यका संवर्धन करते हैं। मगधकी प्रतिमाओंका एवं शिल्पकलामें व्यवहृत आकृतियोंका प्रभाव इसपर स्पष्ट है। प्रत्येक मूर्तिका उत्खनन इस प्रकार हुआ है, मानो स्वतन्त्र मन्दिर ही हों, कारण कि प्रत्येक मूर्तिके आगेके भागमें दोनों ओर सुन्दर स्तम्भोंका खुदाव दृष्टि आकर्षित कर लेता है। १२ वीं शतीकी यह रचना होनी चाहिए। यद्यपि ऊपरका कुछ भाग खंडित हो गया है, परन्तु सौभाग्य इस बातका है कि मूर्ति प्रतिमाओंके भाग बिलकुल ही अखण्डित हैं।

जानकर आश्चर्य होगा कि यह अंश मार्गमें ठोकरें खाता था और घरवाले इसपर गोबर थापते रहते थे। यद्यपि कटनीके पुरातन वस्तु-विक्रेता, इसे भी, अन्य अवशेषोंकी तरह हड़पनेकी चेष्टामें थे, पर वे असफल रहे। अब मेरे संग्रहमें हैं।

ऋषभदेव :—संवत् ६५१

प्रस्तुत प्रतिमा साधारण फर्शीका भूरा पत्थर है, वैसे इस प्रतिमाका कोई खास विशेष-सांस्कृतिक अथवा कलात्मक विकास नहीं जान पड़ता, किन्तु इसमें जो संवत् ६५१के अंक एवं लिपिमें जो अन्य शब्द हैं, वे काफ़ी भ्रामक हैं। संवत् ६५१ ज्येष्ठ सुदी तीज' इन शब्दोंको देखकर पुरातत्त्वका सामान्य विद्यार्थी एकदम प्रतिमाको दसवीं शतीकी रचना कह देगा। तिथि इतनी स्पष्ट है, परन्तु अन्य कसौटियोंसे कसे जानेपर यह मत असत्य सिद्ध होगा। तिथि भले ही सापेक्षित प्राचीनताकी परिचायक हो, पर जिस लिपिमें यह तिथि अंकित है, वह तो स्पष्टतः बादकी लिपि है। ऐसी लिपिका बारहवीं शतीमें व्यवहृत होना इतिहास और लिपि शास्त्रकी दृष्टिसे सिद्ध है। अतः यह लिपि १२ वीं शतीकी ही है तो फिर क्या कारण है कि १२ वीं शतीकी प्रतिमामें संवत् ६५१ खोदा जावे। इसका उत्तर भी

उतना स्पष्ट है। यह संवत् विक्रम संवत् नहीं बल्कि कलचुरि संवत् है। जिसका प्रयोग कल्चुरि कालीन महाकोसलमें होना अति साधारण और स्वाभाविक है। कलचुरि संवत् ईस्वी सन् २४८ में प्रारम्भ हुआ जो ठीक उपरोक्त लिपिका ही समर्थन करती है।

एक बात और; प्रस्तुत प्रतिमाको ऋषभदेवकी प्रतिमा माननेके दो कारण हैं। आसनके अधोभागमें वृषभ अर्थात् बैलका चिह्न स्पष्ट बना हुआ है। दायें-बायें गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी देवीकी प्रतिमाएँ भी खुदी हैं। ये प्रतिमाएँ ऋषभदेवके अधिष्ठाता एवं अधिष्ठात्री हैं। यह प्रतिमा त्रिपुरीसे ही प्राप्त की गई हैं।

अर्ध सिंहासन

इस सिंहासनका विस्तार १६"×१२" है। बायें हाथपर ६"×८" विस्तारवाला एक बड़ा ही सुन्दर आसनपर स्थित रूमालका छोर बना हुआ है। इस रूमालके डिज़ाइनकी सुन्दरता देखते ही बनती है। उसका वर्णन कर सकना एकदम असम्भव है। वर्तमान युगमें कपड़ोंपर विशेषतः साड़ीके किनारोंपर जैसे उलझे हुए मनोहरतम Symmetrical डिज़ाइन बने रहते हैं वे भी इस डिज़ाइनके सामने मात खाते हैं। रूमालको कम-से-कम चौड़ाई जो निम्न भागमें है वह ५¾" है। निस्सन्देह इस रूमाल-के ऊपर आसन रहा होगा और उस आसनके ऊपर किसी देवताकी मूर्ति स्थापित रही होगी।

रूमालके दायीं ओर सिंहकी मूर्ति है, जिसके अगले पाँव और पंजे टूट चुके हैं। सिंह जान पड़ता है आसनके नीचे आसीन था। सिंहकी अयाल कलाकी दृष्टिसे खूब ही सुन्दर है, किन्तु जो स्वाभाविक अस्तव्यस्तता उसमें होनी चाहिए, वह भी नहीं है बल्कि कृत्रिमता बड़ी सुघड़ है। वही हाल सिंहकी मूछोंका भी है। वे सुन्दर तो हैं ही पर उनकी तरह स्पष्टतः कृत्रिम हैं। आँखों और मूछोंके बीचकी पिछले बायें पंजेके सामने एक सुन्दर

फूलदार १३/४" ऊँचा टूटा-सा डिज़ाइनदार गुट्टा है, जो निश्चय ही किसी स्तम्भका अधोभाग है।

ये सिंहासन त्रिपुरीमें प्राप्त अन्य अवशेषोंके डिज़ाइनके क्षेत्रमें बिल्कुल अनूठा और अद्वितीय है।

इस स्थलपर डिज़ाइनके संबंधमें एक उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। कलामें, इतिहासमें डिज़ाइनोंका स्वर्णयुग मुग़लकालमें कहा जाता है, परन्तु वे डिज़ाइन फूल-पत्ती इत्यादि प्राकृतिक आधारोंतक ही सीमित रहे हैं। स्वयं कल्पनाके आधारपर डिज़ाइन रचे नहीं पाये जाते। प्राकृत डिज़ाइन ऐसी ही कृत्रिम और कल्पनासे गढ़ी हुई रचना है। इसका युग निश्चयपूर्वक मुगलों यहाँतक कि राजपूती वैभवके पूर्वका है। इस प्रकारके डिज़ाइन महाकोसलके अन्य अवशेषोंमें भी पाये जाते हैं, विशेषतः बुद्धदेव की मूर्तिमें। अतः यह कल्पना बड़ी सहज है कि ऐसे डिज़ाइन महाकोसल की निजी और मौलिक कलात्मक देन है, और भी बिल्हरीके विस्तृत मधु-छत्रपर ६६"×६६" भी इस प्रकारके डिज़ाइन अङ्कित हैं, जिनका रचना काल तेरहवीं शतीके बादका नहीं हो सकता। अत्यन्त दुःखपूर्वक सूचित करना पड़ रहा है कि इतनी सुन्दर कलापूर्ण व सर्वथा अखण्डित कृति आज गड़रियोंके शस्त्रास्त्र पनारनेके काममें आती है। म०प्र० शासन-का ध्यान मैंने आकृष्ट किया। पर उसे अवकाश कहाँ? अर्धसिंहासन भी मुझे तेवरके ही एक लढियेसे प्राप्त हुआ है।

अम्बिका

प्रतिमा १४"×८१/२" है। अर्धनिर्मिता और अम्बिकाकी आसनमुद्रा प्रायः समान ही है, किन्तु इसकी रचनामें कलाकारने अधिक सन्तुलन एवं परिपूर्णता प्रस्तुत की है। नागावली बड़ी स्पष्ट है। उरोजोंकी रचना भी नैसर्गिक है। बायीं गोदमें एक बच्चा है। यह हाथ खण्डित हो गया है। अर्धनिर्मिताकी अपेक्षा अम्बिकाके वस्त्रोंकी शलें अधिक स्पष्ट हैं। चरणोंके

पास पाँच भक्तोंकी समर्पण मुद्राएँ दिखाती हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही इनमें हैं। एक भक्तका सिर टूट गया है। परिकरके दोनों ओर व्याल (ग्रास मकर) खड़े हुए हैं। प्रतिमाके पीछे २, ३ लकीरें पड़ी हुई हैं। इनमें कुछ और भी खुदाई है। असंभव नहीं कि कलाकार साँचीके तोरणसे भी प्रभावित हुआ हो क्योंकि इन मूर्तियोंमें भी—जो मध्यप्रदेशमें पाई गई हैं—इसी प्रकारकी रेखाएँ मिलती हैं। कहीं-कहीं साँचीके तोरणकी आकृति बहुत ही स्पष्ट रूपसे मिली है। इस प्रकारकी शैलीका समुचित विकास सिरपुरकी धातु-मूर्तियोंमें पाया जाता है। मस्तकके पीछे पड़ी प्रभावली बहुत ही अस्पष्ट जान पड़ती है, तो भी सूक्ष्मतया देखनेपर कमलकी पंखुड़ियोंका आकार लिये है। ये पंखुड़ियाँ गुप्तकालमें काफ़ी ऊँचा स्थान पा चुकी थीं, एवं इस परम्पराका प्रभाव १३ वीं शतीतककी मूर्तियोंकी प्रभावलीमें मिलता है। प्रभावलीके उभय ओर पुष्पमाला लिये दो गंधर्व गगनमें विचरण कर रहे हैं। गन्धर्वकी मुखमुद्रा सुन्दर है। दूसरे गन्धर्वकी आकृति टूट गई है।

प्रश्न होता है कि प्रस्तुत प्रतिमा किस देवीकी होनी चाहिए? यद्यपि ऐसा स्पष्ट न तो लिखित प्रमाण है और न इस प्रकारकी अन्य प्रतिमा ही कहीं उपलब्ध है। बायीं गोदमें एक बच्चेके कारण एवं ६ भक्तोंके निम्न भागमें जो प्रतिमाएँ अंकित हैं—दायें भागमें मूर्ति खंडित हो गई है—उनके कारण यदि इसे अंबिकाकी मूर्ति मान लिया जावे तो अनुचित न होगा। बात यह है कि अन्य मुद्राओंमें अम्बिकाकी जितनी भी मूर्तियाँ महाकोसल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशमें पाई गई हैं, उन सभीके निम्न भागमें ५ से अधिक भक्तोंकी आकृतियाँ मिली हैं। अंबिकाकी गोदमें यों तो दो बच्चे होने चाहिए, परन्तु कहीं-कहीं एक बच्चेवाली मूर्ति भी उपलब्ध हुई है।

अतः इसे मैं निश्चित ही अंबिकाकी मूर्ति मानता हूँ। इसका रचना-काल १२ वीं एवं १३ वीं शतीके मध्यकालका होना चाहिए। इन्हीं दिनों महाकोसलमें जैनसंस्कृतिके अनुयायियोंका प्राबल्य था। अंबिकाकी विभिन्न मूर्तियाँ भी इसी शताब्दीमें निर्मित हुईं।

सयक्ष नेमिनाथ

१४"×१४" प्रस्तुत शिलाखंडपर उत्कीर्णित प्रतिमाका कटिप्रदेशसे निम्न भाग नहीं है। अवशिष्ट भागसे भी प्रतिमाका परिचय भली भाँति मिल जाता है। दायीं ओर पुरुष एवं बायीं ओर स्त्री, मध्यमें एक वृक्षकी डालपर धर्मचक्रके समान गोलाकार आकृति अंकित है। दम्पति समुचित आभूषणोंसे विभूषित है। मुग्ध मुद्रामें स्वाभाविक सौंदर्यके साथ सजीवता परिलक्षित होती है। इस खंडित भागके सुव्यवस्थित अंगोपांगसे मूर्तिकी सफल कल्पना हो आती है। मस्तकपर दो पंखुड़ियाँ आम्र वृक्षकी दिखलाई पड़ती हैं। तदुपरि चौकीनुमा आसनपर जिनमूर्ति विराजमान है। दोनों ओर खड्गासनस्थ जिन प्रतिमाओंके बाद उभय पार्श्वके छोरपर पद्मासनस्थ जिन मूर्तियाँ अंकित हैं। सभी जिन-मूर्तियोंके कानके निकटवर्ती दोनों ओर पत्तियाँ हैं। संभव है ये पत्तियाँ अशोक वृक्षकी हों, कारण कि अष्टप्राति-हार्यमें अशोकवृक्ष भी है।

इस प्रकारकी प्रतिमाएँ विन्ध्यप्रान्त एवं महाकोसलके भूभागमें पर्याप्त संख्यामें उपलब्ध होती हैं। विद्वानोंमें इसपर मतभेद भी काफी पाया जाता है। विशेषकर जैन मूर्तिविधान शास्त्रसे अपरिचित अन्वेषकोंने इसपर कई कल्पनाएँ कर डाली हैं। परन्तु मध्यप्रान्तके एक विद्वान्की कल्पना है कि अंबिका और गोमेध यक्ष क्रमशः अशोककी पुत्री संघमित्रा एवं पुत्र महेन्द्र हैं। आम्र वृक्षको बोधि वृक्ष मान लिया गया है, परन्तु यह कल्पना पूर्व कल्पनाओंसे अधिक अयौक्तिक ही नहीं हास्यास्पद भी है। भगवान् नेमिनाथकी मूर्तिको तो भूल ही गये। त्रिपुरीके इतिहासमें इसका चित्र प्रकाशित है। इस चित्रपरसे मुझे भी यह भ्रम हुआ था, पर जब मूर्तिका साक्षात्कार हुआ एवं एक ही शैलीकी दर्जनों प्रतिमाएँ विभिन्न संग्रहालयोंमें देखीं, तब मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि उपर्युक्त प्रतिमा यक्ष-यक्षिणी-युक्त भगवान् नेमिनाथकी है। जैन-मूर्तिविधान-शास्त्रोंसे भी इस बातका समर्थन

होता है। इस विषयपर हमने अन्यत्र विस्तारसे विचार किया है, अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है। स्मरण रहे कि इस प्रकारकी एक प्रतिमा मैंने कौशाम्बीमें भी लाल प्रस्तरपर खुदी हुई देखी थी जो शुंगकालीन है।

नवग्रह-युक्त जिन-प्रतिमा

महाकोसलके जंगलोंमें भ्रमण करते हुए एक वृक्षके निम्नभागमें पड़ी हुई गढ़ी-गढ़ाई प्रस्तर-शिलापर हमारी दृष्टि स्थिर हो गई। सिन्दूरसे पोत भी दी गई थी। पत्थरकी यह शिला जनताकी 'खैरमाई' थी। इस शिलाखण्डको एकान्त देखकर, मैंने उल्टाया। दृष्टि पड़ते ही मन बड़ा प्रफुल्लित हुआ, इसलिए नहीं कि उसमें जैनमूर्ति उत्कीर्णित थी—इसलिए कि इस प्रकारका जैनशिल्पावशेष अद्यावधि न मेरे अवलोकनमें आया था, न कहीं अस्तित्वकी सूचना ही थी। अतः अनायास नवीनतम कृतिकी प्राप्तिसे आह्लाद होना स्वाभाविक था। इस शिलापर मुख्यतः नवग्रहकी खड़ी मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। तन्मध्यभागमें अष्टप्रतिहार्य युक्त जिन प्रतिमा विराजमान थी। जैनमूर्तिविधानशास्त्रमें प्रतिमाके परिकरमें नवग्रहोंकी रचनाका विधान पाया जाता है। कहीं पर नवग्रह सूचक नव-आकृतियाँ एवं कहीं-कहीं मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु नवग्रहोंकी प्रमुखताका द्योतक, परिकर अद्यावधि दृष्टिगोचर नहीं हुआ। लखनऊ एवं मथुरा संग्रहालयके संग्रहाध्यक्षोंको भी इस प्रकारकी मूर्तियोंके विषयमें लिखकर पूछा था। उनका प्रत्युत्तर यही आया कि ग्रह प्रतिमाओंकी प्रमुखतामें खुदी हुई जैनमूर्तिका कोई भी अवशेष न हमारे अवलोकनमें आया, न हमारे यहाँ है ही।

प्रासंगिक रूपसे यह कहना अनुचित न होगा कि अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा महाकोसलमें सूर्यकी स्वतन्त्र एवं नवग्रहकी सामूहिक मूर्तियाँ प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होती हैं। उन सभीकी रचना शैली इस चित्रसे ही स्पष्ट हो जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इस शिलामें जिन-मूर्ति है, जब अन्यत्र वह नहीं

मिली। यहाँकी इस शैलीकी मूर्तियोंकी निर्माण परम्परा १३ वीं शताब्दी के बाद लुप्त-सी हो गई थी, अर्थात् कलचुरिकालीन कलाकारोंने ही इस प्राचीन परम्पराको किसी सीमातक संभाल रखा था। यह मूर्ति मुझे स्लिमनाबादके जंगलसे प्राप्त हुई थी। एक वृक्षके नीचे यों ही अवगड़ी पड़ी थी, जनता द्वारा पूर्णतः उपेक्षित थी।

स्लीमनाबाद-कर्नल स्लीमनके नामपर बसा हुआ, यह जबलपुरसे कटनी जानेवाली सड़कपर अवस्थित है। मध्यप्रदेशका कॉंग्रेसी शासनकी, जो सांस्कृतिक विकासकी ओर खोजकी बहुत बड़ी बातें करता है—पुरातत्त्व विषयक घनघोर उपेक्षावृत्तिका प्रतीक मैंने यहाँपर प्रत्यक्ष देखा। बड़ा ही दुःख हुआ। बात यह है कि P.W.D.के अधिकारमें यहाँपर दो क़ब्रें हैं, जिनमें जो क्रॉस लगे हैं उनपर लेख हैं, परन्तु तथाकथित विभागके कर्मचारी प्रतिवर्ष चूना पोतते हैं। भत्ता पकानेवाले प्रान्तीय व केंद्रीय पुरातत्त्व विभागके एक भी अफ़सरने आजतक इसपर ध्यान नहीं दिया कि आख़िरमें इस कब्रका इतिहास क्या है? स्लीमनाबादके एक व्यापारीको ज्ञात हुआ है कि मैं खोजके सिलसिलेमें भ्रमण कर रहा हूँ, तब उसने मेरा ध्यान इन क़ब्रोंकी ओर आकृष्ट किया। चूना साफ़ करवाकर देखनेसे ज्ञात हुआ कि इसपर कनाड़ी लिपिमें लेख उत्कीर्णित है। कनाड़ीका मुझे अभ्यास न होनेके कारण इस लेखकी सूचना अपने मित्र एवं गवर्नमेंट आफ़ इण्डियाके चीफ़ एपिग्राफिस्ट डॉ० बहादुरचन्दजी छावड़ाको दी। आपने अपने आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री एन० लक्ष्मीनारायणरावको भेजकर इसकी प्रतिलिपि करवाई। दो सैनिकोंको यहाँपर दफ़नाया गया था, उन्हींके स्मारक स्वरूप ये क़ब्रें हैं। ये दोनों दक्षिण भारतीय थे। मध्यप्रदेशमें पाये जानेवाले लेखोंमें कनाड़ीका यह प्रथम लेख है। ऐसे एक दर्जनसे अधिक लेख सड़कों, पुलों और सीढ़ियोंमें लगे हुए हैं, पर हमारी सरकारको एवं भत्ता पानेवाले अफ़सरोंको अवकाश कहाँ कि वे उनपर निगाह डालें।

जिन-मूर्ति

४५"×११" की भूरे रंगकी प्रस्तर शिलापर खड़ी जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। सामान्यतः शरीररचना अच्छी ही बनी है। अजानुबाहुमें हाथोंका मुड़ाव स्वाभाविक है। अँगुलियोंका खुदाव तो बड़ा ही स्पष्ट और भव्य है। मुखमंडल भी अतीव सुन्दर रहा होगा, परन्तु नासिका और चक्षु-युगल बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये हैं। भौहें अच्छी बनी हैं। मस्तकपर घुँघराले बाल बने हैं। इस ओर पाई जानेवाली जैन-बौद्ध-मूर्तियोंमें एवं एक मुखी शिवलिंगमें मस्तकपर उपरिलक्षित केश-रचनाका रिवाज था। इसलिए यदि केवल सर ही किसी मूर्तिका मिल जाय तो अचानक निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह किसका है।

मूर्तिके दोनों हाथोंके पास दो पार्श्वद उत्कीर्णित हैं, परन्तु उन दोनोंके कटि प्रदेशके ऊपरका भाग नहीं है। इन पार्श्वदोंके ठीक अग्रभागमें दायें-बायें क्रमशः यक्ष-यक्षिणी हैं, इनका भी मुखका भाग एवं हाथका कुछ हिस्सा खंडित है। आसनका भाग अन्य मूर्तियोंसे मिलता-जुलता है। केवल निम्न-मध्य भागमें दायों ओर मुख किये उपासक अधिष्ठित हैं एवं आसनके बीचमें सिंहका चिह्न है। ऊपर प्रभावलीके ऊपर ३ छत्र हैं, जिनके उभय भागमें दो हाथी शुण्डा निम्न किये हुए हैं। छत्रपर देव मृदंग बजा रहा है।

प्राचीनकालकी जिनमूर्तियोंमें चिह्न प्रायः नहीं मिलते। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाओंमें यक्ष-यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती हैं। इनसे कौन मूर्ति किस तीर्थंकरकी है ज्ञात हो जाता है, परन्तु इनमें एक बातकी दिक्कत पड़ जाती है कि प्राचीन मूर्तियोंमें यक्ष-यक्षिणियोंके स्वरूप जैन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थोंसे मेल नहीं खाते अर्थात् वास्तुशास्त्रमें वर्णित इनके स्वरूपसे मूर्तियाँ बिल्कुल भिन्न मिलती हैं। उदाहरणार्थ—इसी मूर्तिको लें। इसमें सिंहका चिह्न है। यदि चिह्न न होता और यक्ष-यक्षिणीसे पहचाननेकी चेष्टा करते तो असफल रहते। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्धित है, तदनुसार यह

मातंग और यक्षिणी सिद्धाईका होनी चाहिए। यक्ष हाथीपर आरूढ़ मस्तकपर धर्मचक्रको धारण करनेवाला बनाया जाता है। यक्षिणी दायें हाथमें वरदान एवं बायें हाथमें पुस्तकको धारण करनेवाली, सिंहपर बैठनेवाली वर्णित है। प्रस्तुत मूर्तिमें खुदी हुई मूर्तियोंमें उपरिवर्णित रूप बिल्कुल मेल नहीं खाता। यक्ष अपने दोनों पैर मिलाये दोनों हाथ दोनों घुटनोंपर थामे बैठा है। तोंद काफ़ी फूली हुई है। यक्षिणीके विषयमें स्पष्टतः असम्भव इसलिए है कि उसके अंगोपांग खंडित हैं। हमारा तात्पर्य यही है कि शिल्पशास्त्रोंमें वर्णित स्वरूप कलावशेषोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत तीर्थंकरकी प्रतिमाका आसपासका भाग ऐसा लगता है मानो वह अन्य प्रतिमाओंसे सम्बन्धित होगी; कारण कि जुड़ाव सूचक पट्टियोंका उतार-चढ़ाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमारी इस कल्पनाके पीछे एक और तर्क है, वह यह कि इसी साइज़की इसी ढंग एवं प्रस्तरकी एक प्रतिमा अंजलिबद्धमें रायबहादुर हीरालालजीके संग्रह, कटनीमें देखी थी। वे उस प्रतिमाको बिलहरीके उसी स्थानसे लाये थे जहाँसे मैंने इसे प्राप्त किया।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियोंसे सिद्ध है कि महाकोसलमें जैन-पुरातत्त्वकी कितनी व्यापकता रही है। मैंने चुने हुए अवशेषोंपर ही इस निबन्धमें विचार किया है। साहजिक परिश्रमसे जब इतनी सामग्री मिल सकी है, तब यदि अरक्षित-उपेक्षित स्थानोंकी स्वतन्त्र रूपसे खोज की जाये तो निस्सन्देह और भी बहुसंख्यक मूल्यवान् कलाकृतियाँ पृथ्वीके गर्भसे निकल सकती हैं। सच बात तो यह है कि न जैनसमाजने आज तक सामूहिक रूपसे इन अवशेषोंकी ओर ध्यान दिया न वह आज भी दे रहा है। यदि इस तरह उपेक्षित मनोवृत्तिसे अधिक कालतक काम लिया गया तो रही-सही कलात्मक सामग्रीसे भी वंचित रह जाना पड़ेगा। ऐसे सांस्कृतिक कार्योंके

लिए सरकारका मुँह ताकना व्यर्थ है। समाज स्वयं अपना कला-केन्द्र स्थापित कर सकता है। अरक्षित कलावशेषोंको एक स्थानपर सुरक्षित रखना क़ानूनी अपराध नहीं है, बल्कि जान-बूझकर इनको नष्ट होने देना अक्षम्य सांस्कृतिक अपराध है।

१ अप्रैल १९५०]

प्रयाग-संग्रहालय

की

जैन-मूर्तियाँ

श्रमण-संस्कृतिके इतिहासमें प्रयागका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैनसाहित्यमें इसका प्राचीन नाम पुरिमताल मिलता है। कथात्मक[1] ग्रन्थोंसे विदित होता है कि १४ वीं शताब्दीतक यह नाम पर्याप्त प्रचलित था। भगवान् ऋषभदेवको यहींपर केवलज्ञान उत्पन्न भी हुआ था। कल्पसूत्रमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

"जे से हेमंताणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे
फग्गुणबहुले, तस्स णं फग्गुणबहुलस्स
इक्कारसी पक्खेणं पुव्वण्हकाल समयंसि
पुरिमतालस्स नयरस्स बहिया सगड मुहंसि
उज्जाणंसि नग्गोहवरपायवस्स अहे..."

कल्पसूत्र २१२

श्रीजिनेश्वरसूरि रचित कथाकोशमें भी इस प्रकार समर्थन किया है (११ वीं सदी)

"अण्णया 'पुरिमताले' संपतस्स

अहे नग्गोहपाययेस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स भगवओ समुप्पण्णं केवलनाणं"

कथाकोश प्रकरण, पृ० ५२

'विविधतीर्थकल्प'में भी "पुरिमताले आदिनाथः"[2] उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त अवतरणोंसे सिद्ध है कि पुरिमताल—प्रयाग जैनोंका महातीर्थ था। प्रयाग शब्दकी उत्पत्ति भी इसकी पुष्टि करती है। श्री जिनप्रभसूरिजी अपने 'विविधतीर्थकल्प'में उल्लेख करते हैं, "प्रयागतीर्थे शीतलनाथः"

---

[1] धर्मोपदेशमालामें भी पुरिमतालका उल्लेख है, पृ० १२४।

[2] चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रह कल्प, पृ० ८५।

"गंगायमुनयोर्वेणीसंगमे श्रीआदिकरमंडलम्" (पृ० ८५) उन दिनों शीतलनाथका मन्दिर रहा होगा।

प्रयागके अक्षयवटका सम्बन्ध भी जैनसंस्कृतिसे बताया जाता है। अन्निकाचार्यको यहींपर केवलज्ञान हुआ था। देवताओंने प्रकृष्टरूपसे याग-पूजा आदि की, इसपरसे प्रयाग नाम पड़ा।[1] तब भी अक्षयवट था। इसी अक्षयवटके निम्न भागमें जिनेश्वर देवके चरण थे। इनकी यात्रा जैन मुनि श्री हंससोमने १६ वीं शताब्दीमें की थी, वे लिखते हैं—

तिणिकारण प्रयाग नाम ए लोक पसिद्धउ,
पाय कमल पूजा करी माधव फल लीद्धउ,

प्रा० तो० मा० १४

परन्तु मुनि श्री शीलविजय[2] जी को छोड़कर अन्य यात्री मुनिवरोंने चरणकमलके स्थानपर शिवलिंग देखा। यह अकृत्य किसने किया होगा? इसकी सूचना भी मुनि श्री विजयसागर अपनी तीर्थमालामें इस प्रकार देते हैं।

संवत् सोलेढयाल लाइमिथ्यातीअ
राय कल्याण कुबुद्धिहुओए,
तिणि कीधो अन्याय शिवलिंग थापीअ
उथापी जिनपादुका ए

पृ० ३

---

[1] "अतएव तत्तीर्थं 'प्रयाग' इति जगति प्रपथे। प्रकृष्टो यागः पूजा अत्रेति प्रयागः इत्यन्वयः।

विविधतीर्थकल्प, पृ० ६८

[2] अपयवड छे तिहाँ कने रे जेहनी जड पाताल,
तासतले पगलां हुतां रे, ऋषभजीनां सुविशाल,

प्रा० ती० मा०, पृ० ७६-७

मुनि श्रीसौभाग्यविजयजी इस बातकी इस प्रकार पुष्टि करते हैं—

संवत् सोल अड़तालिसें रे अकबर करे राज
राय कल्याण कुबुद्धिरं रे तिहाँ थाप्या शिवसाजरे

पृ० ७७

मुनि जयविजय भी इसका समर्थन इन शब्दोंमें करते हैं—

राय कल्याण मिथ्यामतीए, कीधउ तेणई अन्याय तउ,
जिन पगलां ऊठाडियाँए, थापा रुद्र तेण ठाय तउ,

पृ० २४

ऊपरके सभी उल्लेख एक स्वरसे इस बातका समर्थन करते हैं कि १६वीं शताब्दीके पूर्व अक्षयवटके निम्न भागमें जिन-चरण तो थे, पर बादमें संवत् १६४८ में सत्ताके बलपर रायकल्याणने शिवचरण स्थापित करवा दिये, संभव है उन दिनों या तो जैनोंका अस्तित्व न होगा या दुर्बल होंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि कल्याणराय कौन था? और उसने इस प्रकारका कार्य किन भावनाओंके वशीभूत होकर किया। उनका उत्तर तात्कालिक इतिहाससे भली-भाँति मिल जाता है। "अकबरनामा"[1] और "बदाउनी"[2] से ज्ञात होता है कि स्तंभतीर्थ-खंभायतका ही वैश्य था, वह जैनोंको बहुत कष्ट पहुँचाता था। एकबार अहमदाबादके शासक, मिर्ज़ाखाँने पकड़ लानेका आदेश दिया था, पर वह स्वयं वहाँ चला गया और अपने अपराधके लिए क्षमा याचना की। स्मरण रहे कि यह राज्याधिकारियोंमेंसे एक था। अकबरके पास जब जैनोंने अपनी कष्ट-कहानी रखी, तब बादशाहने उनका तबादला बहुत दूर प्रयाग कर दिया और प्रतिशोधकी भावनाके कारण उसने प्रयागमें उपर्युक्त कृत्य किया।

सत्रहवीं शतीके सुप्रसिद्ध विद्वान् और कल्याणरायके समकालीन

---

[1] भाग ३, पृ० ६८३।
[2] भाग २, पृ० २४६।

कविवर समयसुन्दरजीने अपनी तीर्थ मास छत्तीसीमें पुरिमतालपर भी एक पद्य रचकर, जैनतीर्थ होनेका प्रमाण उपस्थित किया है[1]।

मुझे दो बार प्रयाग जानेका अवसर मिला है, मैंने अक्षयवट और अकबर निर्मित क़िलेका (मिलिटरी अधिकारियोंकी सहायतासे) इस दृष्टिसे निरीक्षण किया है, पर मुझे जैनधर्मके चरण या ऐसी ही कोई सामग्री दिखी नहीं। हाँ, प्रयाग नगरपालिकाके संग्रहने मुझे बहुत प्रभावित किया। वहाँ जैनमूर्तियोंका अच्छा संग्रह किया गया है, परन्तु उन्हें समुचित रूपसे रखनेकी व्यवस्था नहीं है।

जैन-मूर्तिकलाका क्रमिक-विकास

प्रयाग नगर-सभा संग्रहालय स्थित जैनमूर्तियोंका परिचय प्राप्त करनेके पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन-मूर्ति-निर्माणकला क्या है? इसका क्रमिक विकास कलात्मक और धार्मिक दृष्टिसे कैसा हुआ? यों तो उपर्युक्त प्रश्न इतने व्यापक और भारतीय मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं कि उनपर जितना प्रकाश डाला जाय कम है, कारण कि मूर्तिविधान और विधाताका क्षेत्र अति व्यापक है। आश्रित और आश्रयदाताओंमें भिन्नता हो सकती है, परन्तु कलोपजीवी व्यक्तियोंमें नहीं। विकास संघर्षात्मक परिस्थितिपर निर्भर है। ज्यों-ज्यों युगकी परिस्थितियाँ बदलती हैं, त्यों-त्यों सभी चल-अचल तत्त्वोंमें स्वाभाविक परिवर्त्तनकी लहर आ जाती है। ये पंक्तियाँ मूर्तिकलापर सोलहों आने चरितार्थ होती हैं। इस कलामें युगानुसार परिवर्तनका अर्थ यह है कि कलाकार अपने सुचिन्तित मानसिक भावोंको प्राप्त साधनोंके द्वारा युगकी अभिरुचिके अनुसार व्यक्त करता है। प्रकटीकरणमें माध्यम एवं अन्य सांस्कृतिक विचारोंमें मौलिक ऐक्य रहते

---

[1] इसकी मूल प्रति कविने स्वयं अपने हाथसे सं० १७०० आषाढ़वदि १ को अहमदाबादमें लिखी है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बईमें सुरक्षित है।

हुए भी ज्यों-ज्यों बाह्य उपकरणोंमें परिवर्तन होता जाता है, त्यों-त्यों कलामें मौलिक ऐक्य रहते हुए भी बाह्य अलंकारोंमें परिवर्तन होता जाता है। रुचि एवं देशभेदके कारण भी ऐसे परिवर्तन संभव हैं कि जिनके विकसित रूपको देखकर कल्पना तक नहीं होती कि इनका आदि अंत क्या रहा होगा ? जैन-मूर्तिकलापर यदि इस दृष्टिसे सोचें तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। प्रारम्भिक कालकी प्रतिमाएँ एवं मध्यकालीन मूर्तियोंके सिंहावलोकनके बाद अर्वाचीन मूर्तियों एवं उनकी कलापर दृष्टि केन्द्रित करें तब उपर्युक्त पंक्तियोंका अनुभव हो सकता है। जहाँ जैन-मूर्ति निर्माण कला और उसके विकास तथा उपकरणोंका प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ प्रस्तर, धातु, रत्न, काष्ठ और मृत्तिका आदि समस्त निर्माणोपयोगी द्रव्योंकी मूर्तियोंकी ओर ध्यान स्वाभाविक रूपसे आकृष्ट हो जाता है, परन्तु यहाँपर मेरा क्षेत्र केवल प्रस्तर मूर्तियों तक ही सीमित है। अतः मैं अति संक्षिप्त रूपसे प्रस्तरोत्कीर्णित मूर्तियोंपर ही विचार करूँगा।

भारतमें मूर्तिका निर्माण, क्यों, कैसे तथा कबसे प्रारम्भ हुआ यह एक ऐसी समस्या है, जिसपर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। यद्यपि पौराणिक आख्यानोंकी कोई कमी नहीं है, क्योंकि भारतमें हर चीज़के पीछे एक कहानी चलती है, परन्तु जैनमूर्तियोंके विषयमें ऐसी कहानियाँ अत्यल्प मिलेंगी जिनमें तनिक भी सत्य न हो या उनमें मानव-विकासका तत्त्व न हो। यहाँपर ग्रन्थस्थ लेखोंपर विचार न कर केवल उन्हीं आधारोंपर विचार करना है, जो शिलाओंपर खुदे हुए पुरातत्त्वज्ञोंके सम्मुख समुपस्थित हो चुके हैं। उपस्थित जैन-मूर्तियोंके आधारपर बहुसंख्यक भारतीय एवं विदेशी विद्वानोंने जैन-शिल्प और मूर्ति-विज्ञानपर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। किंतु मथुरासे प्राप्त शिल्प ही प्रधान रूपमें उनके विचारोंके आधार रहे हैं। विद्वानों ने अपना अभिमत-सा बना रखा है कि जैन-मूर्ति-निर्माणका प्रारम्भ सबसे पहले मथुरामें कुषाण-युगमें ही हुआ, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि कुषाण-युगमें जैनाश्रित कलाका विकास काफी हुआ।

यह बात निर्विवाद है कि कलाकी दृष्टिसे जैनोंकी अपेक्षा बौद्ध मूर्ति-निर्माण-कलामें शीघ्र ही बाजी मार ले गये। जिसप्रकार बौद्धोंने धार्मिक क्रान्ति की, उसीप्रकार अत्यन्त ही अल्प समयमें मूर्तिकलामें भी क्रान्तिकारी तत्त्वोंको प्रविष्ट कराकर, मूर्तियोंमें वैविध्य ला दिया। अर्थात् उसी समयकी, भगवान् बुद्धकी तथा बौद्ध धर्माश्रित विभिन्न भावोंको प्रकाशित करनेवाली गान्धार और कुषाण कालकी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं, परन्तु क्रान्तिके मामलेमें जैनी प्रायः पश्चात्पाद रहे हैं फिर शिल्पकलामें—और वह भी धर्माश्रित—परिवर्तन कर ही कैसे सकते थे। इतना अवश्य है कि जैनोंने जिन-मूर्तियोंकी मुद्रामें परिवर्तन न कर जैन-धर्ममान्य प्रसंगोंके शिल्पमें समय-समयपर अवश्य ही परिवर्तन किये एवं मूर्तिके एक अंग परिकर निर्माणमें तथा तदंगीभूत अन्य उपकरणोंमें भी आवश्यक परिवर्तन किया, परन्तु वह परिवर्तन एक प्रकारसे कलाकार और युगके प्रभावके कारण ही हुआ होगा। मजबूरी थी।

श्रमण-संस्कृति अति प्रारम्भिक कालसे ही निवृत्ति-प्रधान संस्कृतिके रूपमें, भारतीय इतिहासमें प्रसिद्ध रही है। उसके बाह्यांग भी इस तत्त्वके प्रभावसे बच नहीं पाये। मूर्तिमें तो जैन-संस्कृतिकी समत्वमूलक भावना और आध्यात्मिक शांतिका स्थायी स्रोत उमड़ पड़ा है। कुशल शिल्पियोंने संस्कृतिकी आत्माको अपने औजारों द्वारा कठोर पत्थरोंपर उतारकर वह सुकुमारता ला दी है, जिसका सौन्दर्य आज भी हर एकको अपनी ओर खींच लेता है। मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि भारतवर्षमें जितने भी सांस्कृतिक प्रतीक समझे जाते हैं या किसी-न-किसी अवशेषमें किंचिन्मात्र भी भारतीय संस्कृति-का प्रतिबिंब पड़ा है, उनमें जैन-प्रतिमाओंका स्थान त्यागप्रधान भावके कारण सर्वोत्कृष्ट है। इसीमें भारतीय संस्कृतिकी आत्मा और धर्मकी व्यापक भाव-नाओंका विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। वहाँपर जाते ही मानव अंतर्द्वंद भूल जाता है। शान्तिके अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव करने लग जाता है। जब कि अन्य धर्मावलम्बी मूर्तियोंमें इस प्रकारकी अनुभूति कम

होती है। जैन-मूर्तिका आदर्श महाकवि धनपालके शब्दोंमें इस प्रकार है—

प्रशम-रस-निमग्नं दृष्टि-युग्मं प्रसन्नं
वदनकमलमङ्कः कामिनी-सङ्ग-शून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्र-सम्बन्धवन्ध्यं
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव।

जिसके नयन-युगल प्रशम-रसमें निमग्न हैं, जिसका हृदय-कमल प्रसन्न है, जिसकी गोद कामिनी संगसे रहित निष्कलंक है, और जिसके करकमल भी शस्त्र संबंधसे सर्वथा मुक्त हैं वैसा तू है। इसीसे वीतराग होनेके कारण विश्वमें सच्चा देव है।

किसी भी जैन-मंदिरमें जाकर देखें वहाँपर तो सौम्य भावनाओंसे ओत-प्रोत स्थायी भावोंके प्रतीक समान धीर-गंभीरवदना मूर्ति ही नज़र आवेगी। खड़ी, शिथिल, हस्त लटकाये, कहीं नग्न तो कहीं कटिवस्त्र धारण किये या कहीं बैठी हुई पद्मासन—दोनों करोंको चेतनाविहीन ढंगपर गोदमें लिये हुए, नासाग्र भागपर ध्यान लगाये, विकार रहित प्रतीक, कहीं भी नज़र आये तो समझना चाहिए कि यह जैन-मूर्ति है, क्योंकि इस प्रकारकी भाव-मुद्रा जैनोंकी भारतीय शिल्पकलाको मौलिक देन है। मुकुटधारी बौद्ध मूर्तियाँ भी जैन-मुद्राके प्रभावसे काफ़ी प्रभावित हैं।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें जिस भाव-मुद्राका वर्णन किया गया है, वह सभी जैन-मूर्तियोंपर चरितार्थ होता है। २४तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंमें मौलिक अंतर नहीं है, परन्तु उनके अपने लक्षण ही उन्हें पृथक् करते हैं। लक्षणोंकी पृथकता भी काफ़ी बादकी चीज़ है, क्योंकि प्राचीन मूर्तियोंमें उनका सर्वथा अभाव पाया जाता है। एक और कारण मिलता है जो अमुक तीर्थंकरकी प्रतिमा है, इसे सूचित करता है, पर यह भी उतना व्यापक नहीं जान पड़ता, वह है यक्षिणियोंका। जो अन्य तीर्थंकरोंकी प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें भी अंबिका यक्षिणी वर्तमान है जब कि जैन वास्तु-शास्त्रानुसार केवल नेमिनाथकी मूर्तिमें ही उसे रहना चाहिए। अस्तु।

मथुरामें जैन अवशेष मिले हैं, उनमें आयागपट्टक भी है। जिसके मध्यभागमें केवल जिन-मूर्ति पद्मासनस्थ उत्कीर्ण है।

प्रासंगिक रूपसे एक बात कह देना और आवश्यक समझता हूँ कि प्रकृत कालीन जैन-स्मारकोंका महत्त्व केवल श्रमण-संस्कृतिकी धार्मिक भावनासे ही नहीं है, अपितु संपूर्ण भारतीय मूर्तिविधान परम्पराके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे उनका अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि कुषाणकालमें भारतीय कलापर विदेशी प्रभाव काफी पड़ा था। बाहरी अलंकरणोंको कलाकारोंने, जहाँतक बन पड़ा, भारतीय रूप देकर अपना लिया। जैनमूर्तियोंमें भी दम्पति-मूर्तियोंकी वेशभूषापर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अयागपट्टक भी इसकी श्रेणीमें आंशिक रूपसे आ सकते हैं। मथुराके अतिरिक्त जैनअवशेष और विशेषतः उत्कीर्ण शिलालेख जैनसंस्कृतिके इतिहासपर अभूतपूर्व प्रकाश डालते हैं। ये लेख भारतीय भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे बड़े मूल्यवान् हैं। मुनिगण और शाखाओंके नाम भी इन लेखोंमें आते हैं।

गुप्तकाल भारतीय मूर्तिविज्ञानका उत्कर्षकाल माना जाता है। मथुरा, पाटलिपुत्र, और सारनाथ गुप्तकालीन मूर्तिनिर्माणके प्रधान केन्द्र थे। विशेषतः इस कालमें बौद्ध-मूर्तियोंका ही निर्माण हुआ है। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी बनीं। कुमारगुप्तके समयमें निर्मित भगवान् महावीरकी एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालयमें अवस्थित है। जो उत्थित पद्मासनस्थ है।[1] स्कन्दगुप्तके समयमें भी गोरखपुर ज़िलान्तर्गत कोहम नामक एक स्थानमें जैन-मूर्ति स्थापित करनेकी सूचना गुप्त लेखोंमें मिलती है।[2]

---

[1] इम्पीरियल गुप्त—श्री रा० दा० बनर्जी, प्लेट, १८।

[2] फ्लीट-गुप्त इन्स्क्रिप्सन्स—१५ "श्रेयोऽर्थपार्थं भूत-भूत्यै नियमवता-मर्हतामादि कर्तॄन्"।

प्रस्तर मूर्तियाँ लेखयुक्त अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं, परन्तु बिना लेख-वाली भी कुछ एक मूर्तियाँ मगधमें पाई जाती हैं जिनको गुप्तकालीन मूर्तियोंकी कोटिमें सम्मिलित किया जा सकता है। राजगृहके तृतीय पहाड़पर फणयुक्त जो पार्श्वनाथकी प्रतिमा है, उसका सिंहासन एवं मुख-निर्माण सर्वथा गुप्तकलाके अनुरूप है। इसी पर्वतपर एक और अष्टप्रतिहार्य युक्त कमलासन स्थित प्रतिमा है। एवं मुँगेर ज़िलेमें क्षत्रियकुंड पर्वतवाले मन्दिरमें अतीव शोभनीय, उपर्युक्त शैलीके सर्वथा अनुरूप एक बिम्ब पाया जाता है, जिनमेंसे तीसरीको छोड़कर, उभय मूर्तियोंको गुप्तकालीन कह सकते हैं। राजगृहमें पंचम पर्वतपर एक ध्वस्त जैनमन्दिरके अवशेष मिले हैं। बहुत-सी इधर-उधर प्राचीन जैनमूर्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं।[1] इनमेंसे नेमिनाथवाली जैनप्रतिमाको निस्संदेह गुप्तकालीन मूर्ति कह सकते हैं। अभिलषित कालीन प्रतिमाओंके भामण्डल विविध रेखाओंसे अंकित रहा करते थे, एवं प्रभावलीके चारोंओर अग्निकी लपटें बनायी गयी थीं। इसे बौद्ध मूर्तिकलाकी जैनमूर्ति कलाको देन मान लें तो अत्युक्ति न होगी। जैन-बौद्ध मूर्तियोंके अध्ययनसे विदित हुआ कि प्रधान मुद्राको छोड़कर परिकरके अलंकरणोंका पारस्परिक बहुत प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ जैनमूर्तियोंमें जो वादित्र-देव-दुन्दुभी-पाये जाते हैं, वे अष्टप्रतिहार्यके अङ्ग हैं। ये ही चिह्न बौद्ध-मूर्तियोंमें भी विकसित हुए हैं। यह जैन-प्रभाव है। बुद्धदेवकी पद्मासनस्थ मूर्तियाँ भी, जैन तीर्थंकरकी का अनुसरण है। बौद्ध-मूर्तियोंके बाहरी परिकरादि उपकरणोंका प्रभाव गुप्तकालीन और तदुत्तरवर्ती मूर्तियोंमें पाया जाता है। गुप्तोंके पूर्वकी जैन-मूर्तियोंके सिंहासनके स्थानपर एक चौकी-जैसा चिह्न

---

[1] राजगृहमें सोनभंडारकी दीवालपर जैनमूर्ति व धर्मचक्र खुदा हुआ है। विशेषके लिए देखे "राजगृहमें प्राचीन जैन सामग्री।"
—जैन भारती, वर्ष १२, अंक २।

मथुरामें जैन अवशेष मिले हैं, उनमें आयागपट्टक भी है। जिसके मध्यभागमें केवल जिन-मूर्ति पद्मासनस्थ उत्कीर्ण है।

प्रासंगिक रूपसे एक बात कह देना और आवश्यक समझता हूँ कि प्रकृत कालीन जैन-स्मारकोंका महत्त्व केवल श्रमण-संस्कृतिकी धार्मिक भावनासे ही नहीं है, अपितु संपूर्ण भारतीय मूर्तिविधान परम्पराके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे उनका अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि कुषाणकालमें भारतीय कलापर विदेशी प्रभाव काफी पड़ा था। बाहरी अलंकरणोंको कलाकारोंने, जहाँतक बन पड़ा, भारतीय रूप देकर अपना लिया। जैनमूर्तियोंमें भी दम्पति-मूर्तियोंकी वेशभूषापर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अयागपट्टक भी इसकी श्रेणीमें आंशिक रूपसे आ सकते हैं। मथुराके अतिरिक्त जैनअवशेष और विशेषतः उत्कीर्ण शिलालेख जैनसंस्कृतिके इतिहासपर अभूतपूर्व प्रकाश डालते हैं। ये लेख भारतीय भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे बड़े मूल्यवान् हैं। मुनिगण और शाखाओंके नाम भी इन लेखोंमें आते हैं।

गुप्तकाल भारतीय मूर्तिविज्ञानका उत्कर्षकाल माना जाता है। मथुरा, पाटलिपुत्र, और सारनाथ गुप्तकालीन मूर्तिनिर्माणके प्रधान केन्द्र थे। विशेषतः इस कालमें बौद्ध-मूर्तियोंका ही निर्माण हुआ है। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी बनीं। कुमारगुप्तके समयमें निर्मित भगवान् महावीरकी एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालयमें अवस्थित है। जो उत्थित पद्मासनस्थ है।[१] स्कन्दगुप्तके समयमें भी गोरखपुर ज़िलान्तर्गत कोहम नामक एक स्थानमें जैन-मूर्ति स्थापित करनेकी सूचना गुप्त लेखोंमें मिलती है।[२]

---

[१] इम्पीरियल गुप्त—श्री रा० दा० बनर्जी, प्लेट, १८।

[२] फ्लीट-गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स—१५ "श्रेयोऽर्थपार्थं भूत-भूत्यै नियमवता-मर्हत्तामादि कर्तृन्"।

प्रस्तर मूर्तियाँ लेखयुक्त अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं, परन्तु विना लेख-वाली भी कुछ एक मूर्तियाँ मगधमें पाई जाती हैं जिनको गुप्तकालीन मूर्तियोंकी कोटिमें सम्मिलित किया जा सकता है। राजगृहके तृतीय पहाड़पर फणयुक्त जो पार्श्वनाथकी प्रतिमा है, उसका सिंहासन एवं मुख-निर्माण सर्वथा गुप्तकलाके अनुरूप है। इसी पर्वतपर एक ओर अष्टप्रतिहार्य युक्त कमलासन स्थित प्रतिमा है। एवं मुँगेर ज़िलेमें क्षत्रियकुंड पर्वतवाले मन्दिरमें अतीव शोभनीय, उपर्युक्त शैलीके सर्वथा अनुरूप एक बिम्ब पाया जाता है, जिनमेंसे तीसरीको छोड़कर, उभय मूर्तियोंको गुप्तकालीन कह सकते हैं। राजगृहमें पंचम पर्वतपर एक ध्वस्त जैनमन्दिरके अवशेष मिले हैं। बहुत-सी इधर-उधर प्राचीन जैनमूर्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं।[1] इनमेंसे नेमिनाथवाली जैनप्रतिमाको निस्संदेह गुप्तकालीन मूर्ति कह सकते हैं। अभिलषित कालीन प्रतिमाओंके भामण्डल विविध रेखाओंसे अंकित रहा करते थे, एवं प्रभावलीके चारोंओर अग्निकी लपटें बतायी गयी थीं। इसे बौद्ध मूर्तिकलाकी जैनमूर्ति कलाको देन मान लें तो अत्युक्ति न होगी। जैन-बौद्ध मूर्तियोंके अध्ययनसे विदित हुआ कि प्रधान मुद्राको छोड़कर परिकरके अलंकरणोंका पारस्परिक बहुत प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ जिनमूर्तियोंमें जो वाजिन्त्र-देव-दुन्दुभी-पाये जाते हैं, वे अष्टप्रतिहार्यके ही अङ्ग हैं। ये ही चिह्न बौद्ध-मूर्तियोंमें भी विकसित हुए हैं। यह स्पष्ट जैन-प्रभाव है। बुद्धदेवकी पद्मासनस्थ मूर्तियाँ भी, जैन तीर्थंकरकी मुद्राका अनुसरण है। बौद्ध-मूर्तियोंके बाहरी परिकरादि उपकरणोंका प्रभाव गुप्तकालीन और तदुत्तरवर्ती मूर्तियोंमें पाया जाता है। गुप्तोंके पूर्वकी जैन-मूर्तियोंके सिंहासनके स्थानपर एक चौकी-जैसा चिह्न

---

[1] राजगृहमें सोनभंडारकी दीवालपर जैनमूर्ति व धर्मचक्र खुदा हुआ है। विशेषके लिए देखे "राजगृहमें प्राचीन जैन सामग्री।"
—जैन भारती, वर्ष १२, अंक २।

मिलता है, जब कि गुप्त कालमें वह स्थान कमलासनमें परिवर्तित हो गया। प्राचीन मूर्तियोंमें छत्र मस्तकके ऊपर बिना किसी आधारके लटके हुए बनाये गये हैं, किन्तु उपर्युक्त कालमें बहुत ही सुन्दर दण्डयुक्त कलापूर्ण छत्र हो गये। मुख्य जैन-मूर्तिके पार्श्वद एवं उसके हस्त, मुख आदिकी भावभंगिमापर अजंताकी चित्रकलाकी स्पष्ट छाया है। परिकरके पृष्ठभागमें प्राचीन मूर्तियोंमें केवल साधारण प्रभामंडल ही दृष्टिगोचर होता है, जब गुप्तकालीन मूर्तियोंमें उसके अर्थात् मस्तक और दोनों स्कन्ध प्रदेशके पृष्ठ भागमें एक तोरण दिखलाई पड़ता है, कहीं सादा और कहीं कलापूर्ण। यह तोरण एक प्रकारसे साँचीका सुस्मरण कराता है। परिकरके निम्न भागमें भी कहीं-कहीं ऐसा देखा जाता है, मानो कमलके वृन्तपर ही सारी मूर्ति आधृत हो। कुछ मूर्तियोंमें कलश, शंख, धूपदान, दीपक और नैवेद्य सहित भक्त खड़ा बतलाया गया है। उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रभाव बुद्ध-कलाकी देन है। जैन-मुद्रा तप प्रधान होनेके कारण मूलतः बौद्ध प्रभावसे वंचित रही। बाह्य अलंकरणोंमें क्रान्ति अवश्य हुई, परन्तु वह भी 'पाल' कालमें तथा उत्तर गुप्तकालमें सुप्त हो गई। गुप्तोत्तरकालीन जैन-मूर्तियाँ मन्दिरोंकी अपेक्षा गुफाओंमें ही भित्तिपर उत्कीर्णित मिलती हैं।

उपर्युक्त कालमें पश्चिमभारतकी अपेक्षा उत्तरभारतमें मूर्तिकलाका पर्याप्त विकास हुआ। यद्यपि कलात्मक दृष्टिसे इनपर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है, तथापि अंग्रेजी जरनलों और भारतीय पुरातत्त्व विषयक कुछ प्रान्तीय भाषाओंके शोधपत्रोंमें कुछ मूर्तियाँ सविवरण प्रकाशित हुई हैं। विदेशी संग्रहालयोंके इतिवृत्तोंमें भी इनका समावेश किया गया है।

उत्तरगुप्तकालीन अधिकतर मूर्तियाँ सपरिकर ही मिलती हैं। इसे हम दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं। प्रथम परिकरमें जैनमूर्ति एवं उसके चारों ओर अवांतर बैठी या खड़ी मूर्तियाँ ही अंकित रहती हैं। एवं निम्न

भागमें मूर्ति बनानेवाले दम्पति तथा यक्ष-यक्षिणी धर्मचक्र एवं व्याल आदि खुदे होते हैं। यह तो सामान्य परिकर है। यद्यपि कलाकारको इसमें वैविध्य लानेमें स्थान कम रहता है। इस शैलीकी मूर्तियाँ प्रस्तर और धातु की मिलती हैं। प्रस्तरकी अपेक्षा धातुकी मूर्तियाँ सौन्दर्यकी दृष्टिसे अधिक सफल जान पड़ती हैं। परिकरका दूसरा रूप इस प्रकार पाया जाता है। मूल प्रतिमाके दोनों ओर चमरधारी, इनके पृष्ठ भागमें हस्ती या सिंहाकृति तदुपरि पुष्पमालाएँ लिये देव-देवियाँ—कहींपर समूह कहींपर एकाकी—मस्तकपर अशोककी पत्तियाँ, कहीं दण्डयुक्त छत्र, कहीं दण्ड रहित, उसके ऊपर दो हाथी तदुपरि मध्यभागमें कहीं-कहीं ध्यानस्थ जिन-मूर्ति-प्रभावली, कहीं कमलकी पंखुड़ियाँ विभिन्न रेखाओंवाली या कहीं सादा। मूर्तिके निम्न भागमें कहीं कमलासन, कहीं स्निग्ध प्रस्तर, निम्न भागमें ग्राम, धर्मचक्र अधिष्ठात्री एवं अधिष्ठाता नवग्रह, कहीं कुबेर, कहीं भक्तगण पूजोपकरण, कमलदण्ड उत्कीर्णित मिलते हैं। सम्भव है कि १२ वीं, १३वीं शतीतकके परिकरोंमें कुछ और भी परिवर्तन मिलते हों। कुछ ऐसे भी परिकर युक्त अवशेष मिले हैं, जिनमें तीर्थंकरके पञ्चकल्याणक और उनके जीवनका क्रमिक विकास भी पाया जाता है। बौद्ध-मूर्तियोंमें भी बुद्धदेवके जीवनका क्रमिक विकास ध्यानस्थ मुद्रावली मूर्तियोंमें दृष्टिगत होता है। राजगृही और पटना संग्रहालयमें इस प्रकारकी मूर्तियाँ देखनेमें आती हैं। परिकर युक्त मूर्ति ही जन-साधारणके लिए अधिक आकर्षणका कारण उपस्थित करती हैं और परिकरवाली मूर्तियोंमें ही कलाकारको भी अपना कौशल प्रदर्शित करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि परिकरका भी प्रमाण है कि मुख्य मूर्तिसे ड्योढ़ा होना चाहिए। पर जिन मूर्तियोंकी चर्चा यहाँपर की जा रही है, उन मूर्तियोंके निर्माणके काफी वर्ष बादके ये शिल्पशास्त्रीय प्रमाण हैं। अतः उपर्युक्त नियमका सार्वत्रिक पालन कम ही हुआ है। परिकरका यों तो आगे चलकर इतना विकास हो गया कि उसमें समयानुसार जरूरतसे ज्यादा देव-देवी और हंसोंकी पंक्तियाँ भी सम्मिलित हो गयीं, परन्तु यह

परिवर्तनकाल प्रकृत स्थानपर विवक्षित कालके आगेका है। अतः इसपर विचार करना यहाँपर आवश्यक नहीं जान पड़ता।

प्रासङ्गिक रूपसे यहाँपर सूचित कर देना परमावश्यक जान पड़ता है कि खड़ी और बैठी जैनमूर्तियोंके अतिरिक्त चतुर्मुखी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। एवं कहीं-कहीं एक ही शिलापट्टपर चौबीसों तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ सामूहिक रूपसे उपलब्ध होती हैं। यहाँपर मूर्तिकलाके अभ्यासियोंको स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार जिनमूर्तियाँ बनती थीं, उसी प्रकार जिनभगवान की अधिष्ठातृदेवियोंकी भी मूर्तियाँ स्वतन्त्र रूपसे काफ़ी बना करती थीं इनके स्वतन्त्र परिकर पाये जाते हैं।

जैन-मूर्ति-निर्माण-कला और उसके क्रमिक विकासको समझनेके लिए उपर्युक्त पंक्तियाँ मेरे ख्यालसे काफ़ी हैं। यह विवेच्य धारा १२ वीं शती तक ही बही है। कारण कि इसके बाद जैनमूर्ति-निर्माण-कालमें कला नहीं रह गयी है। कुशल शिल्पियोंकी परम्परामें वैसे व्यक्ति इन दिनों नहीं रह गये थे, जो अपने औजारों द्वारा पाषाणमें प्राणका सञ्चार कर सकें। उनके पास हृदय न था, केवल मस्तिष्क और हाथ ही काम कर रहे थे।

भवनस्थित मूर्तियोंका परिचय

वर्षोंसे सुन रखा था कि प्रयाग नगरसभाके संग्रहालयमें श्रमण-संस्कृति से सम्बन्धित पर्याप्त मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। काशीमें जब मैं फरवरीमें आया तभीसे विचार हो रहा था कि एक बार प्रयाग जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किया जाय, परन्तु मुझ जैसे सर्वथा पाद-विहारीके लिए थी तो एक समस्या ही। अन्तमें मैंने कड़कड़ाती धूपमें १०–६–४६ को प्रयागके लिए प्रस्थान किया। ग्रीष्मके कारण मार्गमें कठिनाइयोंकी कमी नहीं थी, परन्तु उत्साह भी इतना था कि ग्रीष्मकाल हमपर अधिकार न जमा सका। प्रयाग जाने का एक लोभ यह भी था कि निकटवर्ती कौशाम्बीकी भी यात्रा हो जायगी, परन्तु मनुष्यका सभी चिन्तन, सदैव साकार नहीं होता।

२७ जूनको घूमते हुए हम लोग ऐसे स्थानमें पहुँच गये, जहाँपर भारतीय संस्कृतिसे सम्बन्धित ध्वंसावशेषोंका अद्भुत संग्रह था। वहाँपर प्राचीन भारतीय जनजीवनके तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ और उन प्रतिमा-सम्पन्न अमर शिल्पाचार्योंके प्रति आदर उत्पन्न हुआ, जिन्होंने अपने श्रमसे, अर्थकी तनिक भी चिन्ता न कर, संस्कृतिके व्यावहारिक रूप सभ्यता को स्थायी रूप दिया। कहीं ललित-गति-गामिनी परम सुन्दरियाँ मर्यादित सौन्दर्यको लिये, प्रस्तरावशेषोंमें इस प्रकार नृत्य कर रही थीं, मानो अभी बोल पड़ेंगी। उनकी भावमुद्रा, उनका शारीरिक गठन, उनका मृदु हास्य और अङ्गोंका मोड़ ऐसा लगता था कि अभी मुसकुरा देंगी। कहीं ऐसे भी अवशेष दिखे जिनके मुखपर अपूर्व सौन्दर्य और आध्यात्मिक शान्तिके भाव उमड़ रहे थे।

सचमुच पत्थरोंकी दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी विहीन जीवन-यापन करनेवालोंके साथ एकाकार हो जाता है। अतीतकी स्वर्णिम झाँकियाँ, उन्नत जीवनकी ओर उत्प्रेरित करती हैं। कला केवल वस्तु तत्त्वके तीव्र आकर्षणपर ही सीमित नहीं, अपितु वह सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवनके नैतिक स्तरपर परिवर्तनकर नूतन निर्माणार्थ मार्ग प्रशस्त करती है। स्वतन्त्र भारतमें प्रस्तरपरसे जो ज्ञानकी धाराएँ बहती हैं, उन्हें झेलना पड़ेगा। उनसे हमें चेतना मिलेगी। हमारे नवजीवनमें स्फूर्ति आयेगी। उस दिन तो मैंने सरसरी तौरपर खंडितावशेषोंसे भेंटकर विदा ली। इसलिए नहीं कि उनसे प्रेम नहीं था, परन्तु इसलिए कि एक-एकको भिन्न-भिन्न गौरवगाथा सुननेका अवकाश नहीं था।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मैं अपनी पुरातत्त्व गवेषण-विषयक सामग्री लेकर संग्रहालयमें पहुँचा। वहाँपर इन प्रस्तरोंको एक स्थानपर एकत्र करनेवाले रायबहादुर श्री ब्रजमोहनजी व्यास उपस्थित थे। आपने बड़े मनोयोग पूर्वक संग्रहालयके सभी विभागोंका निरीक्षण करवाया—विशेषकर जैन-विभागका।

अब मैं उन प्रतिमाओंकी छानबीनमें लगा, जिनका सम्बन्ध जैन-संस्कृतिसे था। जो कुछ भी इन मूर्तियोंसे समझ सका, उसे यथामति लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

नं० ४०८—प्रस्तुत प्रतिमा श्वेतपर पीलापन लिये हुए प्रस्तरपर उत्कीर्ण है, कहीं-कहीं पत्थर इस प्रकार खिर गया है कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है कि यह प्रतिमा बुद्धदेवकी न हो। कारण उत्तरीय वस्त्रा-कृतिका आभास होने लगता है। पश्चात् भाग खंडित है। बायें भागमें खड्गासनस्थ एक प्रतिमा अवस्थित है, मस्तकपर सर्पाकृति (सप्तफण) खचित है। निम्न उभय भागमें, परिचारक परिचारिकाएँ स्पष्ट हैं। इसी प्रतिमाके अधोभागमें अधिष्ठातृ देवी अंकित हैं। चतुर्भुज शंख, चक्रादिसे कर अलंकृत है। जो चक्रेश्वरीकी प्रतिमा है। प्रधान प्रतिमाके निम्न भागमें भक्तगण और मकराकृतियाँ हैं। यद्यपि कलाकी दृष्टिसे इस संपूर्ण शिलोत्कीर्ण मूर्तिका कोई विशेष महत्त्व नहीं।

नं० २५—यह प्रतिमा चुनारके समान पाषाणपर खुदी हुई है। गर्दन और दाहिना हाथ कुछ चरणोंकी उँगलियाँ एवं दाहिने घुटनेका कुछ हिस्सा खंडित है। इसके सामने एक वक्षस्थल पड़ा है, इसके दाहिने कंधेके पास दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं, इनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये जैनप्रतिमा ही है, कारण कि खंडित स्कन्ध प्रदेशपर केशावलिके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः यह प्रतिमा निःसंदेह भगवान् ऋषभदेव की है, जो श्रमण-संस्कृतिके आदि प्रतिष्ठापक थे। इसके समीप ही एक स्वतन्त्र स्तंभपर नग्न चतुर्मुख मूर्तियाँ हैं।

उपर्युक्त प्रतिमाओंका संग्रह जहाँपर अवस्थित है, वहाँपर एक प्रतिमा हल्के पीले पाषाणपर खुदी हुई है। पद्मासनस्थ है। ३२॥। × २३ है। उभय ओर चामरधारी परिचारिक तथा निम्न भागमें दायें-बायें क्रमशः स्त्री-पुरुषकी मूर्ति इस प्रकार अंकित है मानो श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हों। बीचमें मकराकृति तथा अर्धधर्मचक्र है। प्रधान जैनप्रतिमाके

मस्तकपर सुन्दर छत्र एवं तदुपरि वाजिन्त्र, पुष्पवृष्टि हो रही है। पाषाण कहाँका है, यह तो कहना ज़रा कठिन है, पर चुनारके पाषाणसे मिलता जुलता है। इस प्रतिमाका संबंध श्रमण संस्कृतिकी एक धारा जैनसंस्कृतिसे जोड़ा जाय या बौद्धसंस्कृतिसे, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। बात यह है कि जितनी भी प्राचीन जैनमूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमेंसे कुछ मूर्तियोंपर तीर्थंकरोंके चिह्न एवं निम्न उभय भागमें अधिष्ठाता, अधिष्ठातृदेवोंकी प्रतिमाएँ भी अंकित रहती हैं। इस प्रतिमामें लांछनके स्थानपर तो एक स्त्री खुदी हुई है। इस प्रकारकी शायद यह प्रथम प्रतिमा है। साथ ही साथ पूर्ण या अर्धमृगयुक्त धर्मचक्र भी मिलता है। कहीं-कहीं अधिष्ठाताके स्थानपर गृहस्थ दम्पतिका चित्रण भी दिखलाई पड़ता है। अब प्रश्न इतना ही है कि यदि यह बौद्ध मूर्ति होती तो वस्त्राकृति अवश्य स्पष्ट होती, जिसका यहाँपर सर्वथा अभाव है। हाँ, श्रमण संस्कृतिकी उभय धाराओंका यदि समुचित ज्ञान न हो तो भ्रमकी यहाँपर काफ़ी गुंजाइश है। मैं तो इसकी विलक्षणतापर ही मुग्ध हो गया। इसके अंग-प्रत्यंग जान-बूझकर ही तोड़ दिये गये हैं। इसपर निर्माणकाल सूचक कोई लिपि वगैरह नहीं है। प्रतिमाके मुखके भावोंका प्रश्न है वे ११ वीं शतीके बादके तो अवश्य ही नहीं हैं, कारण प्रतिमाओंके समय-निर्माणमें उनकी मुखमुद्राका उपयोग किया जाता है, खासकर जैनप्रतिमाओंमें।

संग्रहालयके भवनमें प्रवेश करते समय बायें हाथपर हलके हरे रंगके आकर्षक प्रस्तरपर एक खड्गासनमें जैनमूर्ति अंकित है। ३६×१८। यह मूर्ति न जाने कलाकारने कैसे समयमें बनाई होगी। हर प्रेक्षकका ध्यान आकर्षित कर लेती है, परन्तु चरण निर्माणमें कलाकार पूर्णतः असफल रहा।

इसे एक प्रतिमा न कहकर यदि चतुर्विंशतिका पट्ट कहें तो अधिक अच्छा होगा, क्योंकि उभय भागमें दोनोंकी ६ कोटिमें १२ लघुतम प्रतिमाएँ

हैं, और मध्यमें एक विशालकाय प्रतिमा है जो इन सबमें प्रधान है—इस प्रकार २५ प्रतिमाएँ होती हैं। चतुर्विंशतिका-पट्ट मैंने अन्यत्र भी देखे हैं, पर उनमें मध्य प्रतिमाको लेकर २४ मूर्तियाँ होती हैं, जब इसमें २५ हैं। अर्थात् ऋषभदेवकी दो मूर्तियाँ हैं। लोग कहा करते हैं कि शरीरका सारा सौंदर्य मुखाकृतिपर निर्भर होता है। इस पर यह पंक्ति खूब चरितार्थ होती है। प्रतिमाओंका अंग-विन्यास, स्वाभाविक है, कहींपर भी कृत्रिमता जैसी कोई चीज नहीं है। उँगलियाँ और मुखपर कितना प्राकृतिक प्रभाव है, यह देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। मुखमंडलपर अपूर्व शांति और आध्यात्मिकताके स्थायीभाव तथा ओठोंपर स्मित-हास्य फड़क रहा है। सौन्दर्य पार्थिव जगत्का विषय होते हुए भी यहाँ कलाकारकी कल्पना शक्तिने उनको आध्यात्मिक झलक करा दी है।

प्रतिमाके स्कन्धप्रदेशपर विराजित केशावलि[1] बहुत ही सुन्दर लग रही

---

[1] दशम शतीके पूर्वकी जिन-प्रतिमाओंमें प्रायः लांछन नहीं मिलते। अतः किस तीर्थंकरकी कौन मूर्ति है? यह कहना कठिन हो जाता है। ऋषभदेवकी मूर्तिकी पहचान यों तो लांछनसे की जाती है, परन्तु प्राचीन मूर्तियोंमें तो केशावलि ही परिचय प्राप्त करनेका प्रधान साधन है। सूत्र निर्युक्ति और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रंथोंमें केशावलिका आवश्यक कारण इन शब्दोंमें स्पष्ट बतलाया गया है।—

"तेसिं पंचमुट्ठिओ लोओ सयमेव। भगवओ पुण सक्कवयणेण कणगावदाए सरीरे जडाओ अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ उवलभइऊण" ठिआओ तेण चउमुट्ठिओ लोओ।"—आ० नि० पृ० १६१।

—उनका (तीर्थंकरका) स्वयमेव पंचमुष्टिका लोच था, पर भगवान् ऋषभदेवका इंद्रके वचनसे, उनके कनकवत् उज्ज्वल शरीरपर, अंजन रेखाके समान जटाएँ बिना लुंचित किये ही सुशोभित रहीं, अतः उनका चतुर्मुष्टिका लोच है।

है, चरणके निम्न भागमें वृषभका चिह्न भी स्पष्ट है। अतः यह मूर्ति ऋषभ-देवकी है। दायीं ओर अधोभागमें दम्पति युगल है। बायीं ओर मगर तथा धूप-दीपक आदि पूजनकी सामग्री पड़ी हुई है। इस प्रकारकी पूजन सामग्री बौद्ध-प्रतिमाओंमें उत्कीर्ण रहती है।

२४ तीर्थंकरोंकी भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ उपर्युक्त शिलामें खुदी हैं। उन सभी पर वृषभ, हस्ती आदि अपने-अपने चिह्न भी बने हुए हैं। मध्यवर्ती प्रतिमाके उभय ओर अवस्थित चामरधारियोंकी भावभंगिमा सुकुमारताकी परिचायिका है। ऊपरके भागमें प्रभामण्डल, पुष्पमाला और ध्वनि आदिके चिह्न हैं। इस ललित प्रतिमाका निर्माणकाल १३ वीं शतीके बादका नहीं हो सकता। इस शैलीकी एक प्रतिमा मैंने राजगृह निवासी बाबू कन्हैयालालजीके संग्रहमें देखी थी, जिसका चित्र ज्ञानोदयके प्रथमांक-में प्रकाशित हो चुका है।

प्रवेशद्वारके बायीं ओर एक शिल्पाकृति कुछ विचित्र-सी लगती है जो श्याम पाषाणपर उत्कीर्ण है, सापेक्षतः बहुत प्राचीन नहीं है। अग्रभागमें गजराज हैं। एक पद्मासनस्थ एवं तदुभय भागमें दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं। ऊपरके भागमें सुन्दर नागर शैलीका शिखर अंकित है। निम्न भागमें

"प्रतीच्छति स्म सौधर्माधिपतिः कुन्तलान् प्रभोः।
वस्त्राञ्चले वर्णान्तरतन्तुमण्डनकारिणः ॥६८॥
मुष्टिना पञ्चमेनाऽथ शेषान् केशान् जगत्पतिः।
समुच्चिखोलपन्नेवं ययाचे नमुचिद्विपा ॥६९॥
नाथ ! त्वदंसयोः स्वर्णरुचोर्मरकतोपमा।
वातानीता विभात्येषा तदास्तां केशवल्लरी ॥७०॥
तथैव धारयामास तामीशः केशवल्लरीम्।
याञ्चामेकान्तभक्तानां स्वामिनः खण्डयन्ति न ॥७१॥"
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र सर्ग ३, पृष्ठ ७०।

चक्रके स्थानपर दो हस्ती, इस प्रकार बताये गये हैं, मानो शिर और प्रतिमाओंको वहन किये हुए हैं। इस प्रकारकी शिल्पाकृति अन्यत्र देखनेमें नहीं आयी, अनुमानतः यह रथयात्राका प्रतीक है।

प्रवेशद्वारके सम्मुख २१ × १५ इंचकी शिलापर एक-एक पंक्तिमें छः-छः इस प्रकार पंक्तियोंमें १८ मूर्तियाँ एवं चतुर्थ पंक्तिमें छः प्रतिमाएँ है। ५ खड्गासन और एक पद्मासन। मुखका भाग खंडित है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें जिन मूर्तियोंका परिचय दिया गया है, वे सभी नगर सभा-संग्रहालयकी गैलरीमें रखी गयी हैं, कुछ एक ऐसी भी जैन-मूर्तियाँ हैं, जिनका विशेष महत्त्व न रहनेके कारण परिचय नहीं दिया गया है।

बाहरकी प्रतिमाएँ

नगरसभा-संग्रहालयके उद्यानमें दक्षिणकी ओर प्रवेश करते समय उन दो विशाल जैन-मूर्तियोंपर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है जो दायें-बायें रखी गयी है। यद्यपि दोनों प्रतिमाएँ निम्न सांप्रदायिक मनोवृत्तिकी शिकार हो चुकी हैं तथापि उनका शारीरिक गढ़न एवं सौंदर्य आज भी कलाविदोंको खींचे बिना नहीं रहता। आकार-प्रकारमें प्रायः दोनों समान प्रतीत होती हैं, पर निर्माण शैली और रचनाकालमें बड़ा अन्तर है। बायीं ओरकी मूर्तिका मुख यद्यपि खंडित है तथापि उसका शेष शारीरिक गठन और विन्यास स्वाभाविक है। उदराकृति तो सर्वथा प्राकृतिक प्रतीत होती है। मूल प्रतिमाके उभय ओर चामरधारी परिचायक हैं, जिनके खड़े रहनेका ढंग और कटि प्रदेशपर पड़ी हुई उँगलियाँ रसवृत्ति उत्पन्न करती हैं। दायें परिचारकके निम्न भागमें एक स्त्री आकृति एवं तदधोभागमें एक पुरुष बैठा है और सम्मुख एक स्त्री अंजलिबद्ध खड़ी है। बायें परिचारकका भाग खण्डित हो चुका है। केवल स्त्रीका धड़ हाथमें कमल लिये दिखाई देता है। मूल प्रतिमाका आसन कमलकी पंखुड़ियोंसे सुशोभित हो रहा है। निम्न भागमें

मकराकृतियाँ इस प्रकार बनी हुई हैं मानो संपूर्ण प्रतिमा उन्हींपर आधृत हो। इनके स्कन्ध प्रदेशपर रोमराजि व्यक्त करानेमें कलाकारने बड़ी कुशलतासे काम लिया है। एक-एक रोम गिने जा सकते हैं। प्रतिमाके मस्तकके पृष्ठभागमें सुन्दर और सूक्ष्म खुदाई और रेखाओंवाला भामण्डल प्रभावलि प्रतिमाकी रमणीयतामें अति वृद्धि करता है, जैसा कि बुद्ध प्रतिमाओंमें भी पाया जाता है। सच कहा जाय तो इस प्रभावलिकी ललितकलाके कारण ही मूर्तिमें कलात्मक आकर्षण रह गया है। मस्तकका भाग बुरी तरह खंडित है। केवल दायीं कर्णपट्टिकाका एक अंश बच पाया है। तदुपरि भागमें छत्रका दंड भी खंडित हो गया है। जिसप्रकार यक्ष या कुछ देवियोंकी मूर्तियोंमें दण्ड द्वारा छत्र रखनेका रिवाज था, जैनप्रतिमाओंमें भी कहीं-कहीं उसकी स्मृति दृष्टिगोचर होती है, जिसे उपर्युक्त प्रथाका भ्रष्ट संस्करण कह सकते हैं। छत्रके ऊपरके भागमें अशोक वृक्षकी पत्तियाँ स्वाभाविकतया प्रदर्शित हैं। उभय ओर पुष्पमाला लिये देवियाँ गगन विचरण कर रही हों, ऐसा आभास होता है। कलाकारने पाषाणपर बादलकी घटाएँ बहुत ही उत्तम ढंगसे व्यक्त की हैं। देवियोंका मुख मंडल प्रसन्नताके मारे खिल उठा है। उपर्युक्त पंक्तियोंके बाद बिना कहे नहीं रहा जा सकता कि न जाने इसका मुखमंडल कितना सुन्दर और आध्यात्मिक ज्योति पूर्ण रहा होगा। यह प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी है और कौशाम्बीसे प्राप्त की गई है। प्रभावलीसे स्पष्ट है कि यह गुप्त कालीन कृति है।

बायें भागपर पड़ी हुई प्रतिमा डील-डौलसे तो ठीक उपर्युक्त मूर्तिके अनुरूप ही है, परन्तु कलाकी दृष्टिसे कुछ न्यून है। निर्माणमें अन्तर केवल इतना ही है कि इसके पृष्ठ भागमें देवी और परिचारकके मध्यमें हस्तीपर आरूढ़ दोनों ओर दो देव-देवियाँ हैं, एवं निम्न भागमें मृगयुक्त खड़ा धर्मचक्र स्पष्ट बना हुआ है। यद्यपि इसका मस्तक सर्वथा खंडित नहीं, मुखका अग्रभाग खण्डित है। वक्षस्थलपर छैनीके चिह्न बने हैं। ग्रीवापर

रेखाएँ एवं जिस आसनपर मूर्ति आधृत है, उसका भाग भी उपर्युक्त प्रतिमाकी अपेक्षा पृथक् रेखाओंवाला है।

मुख्य फाटकके फौवारेके सामने जैन-प्रतिमाओंके अलग-अलग चार अवशेष रखे हैं, वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

(१) प्रस्तुत खण्डित पाषाणपर सोलह जैन प्रतिमाएँ ११ × १५ इंचकी शिलापर उत्कीर्णित हैं। निम्नस्थान खंडित है। अनुमानतः खंडित स्थानमें भी आठ खड़ी जैनप्रतिमाएँ अवश्य ही रही होंगी। प्रस्तुत शिलापट्टके प्रधान पार्श्वनाथ हैं।

(२) चुनारकी २२ × २५ की शिलापर २४ जैन प्रतिमाएँ अंकित हैं। चार पंक्तिमें पाँच-पाँच और उपरिभागमें चार इस प्रकार चतुर्विंशति पट्ट है। प्रतिमा-विधानकी दृष्टिसे यह चतुर्विंशतिपट्टिका महत्त्वकी है। अंग-विन्यास बड़ा सुन्दर और भाव-दर्शक है। प्रायः सभीकी मुखाकृति थोड़े बहुत अंशमें खंडित है जैसा कि चित्रसे स्पष्ट है। गुजरातमें भी इस प्रकारकी प्रतिमाएँ बनती थीं, जिनके ऊपरके भागमें शिखराकृतियाँ मिलती हैं।

(३) इस परिकर युक्त प्रतिमाका केवल मस्तकके ऊपरका भाग ही बच पाया है। त्रुटित भागकी मानवाकृतियोंसे पता चलता है कि निःसंदेह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर और कलापूर्ण रही होगी।

(४) इस प्रतिमाका केवल निम्न भाग और मस्तक अलग-अलग पड़े हैं। मेरे ख्यालसे (३) वाले उपरिभागका यह अंश निम्न अंश होना चाहिए। अनजानके लिए निम्न भागको देखकर शंका हुए बिना नहीं रहती कि प्रस्तुत अंशका संबंध किस धर्मसे है। बारीकीके साथ निरीक्षण करनेसे ज्ञात हुआ कि इसका सीधा संबंध श्रमण-संस्कृतिकी एक धारा जैन संस्कृतिसे है, कारण कि प्रतिमाके निम्न भागपर जो आकृतियाँ हैं, वे निर्णय करनेमें बहुत बड़ी मदद देती हैं। दक्षिण निम्न भागमें गोमुख यक्ष और बायीं ओर चक्रेश्वरीकी मूर्तियाँ हैं। मध्यमें वृषभका चिह्न अंकित है। इससे प्रतीत

होता है कि प्रस्तुत अवशेष ऋषभदेवकी प्रतिमाका है। इसपर अंकित धर्मचक्रके उभय भागमें मकर एवं तन्निम्न भागमें नवग्रहोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माणकाल अंतिम गुप्तोंका समय रहा होगा। इसकी चौड़ाई २३" है। अतः दोनों एक ही हैं।

उत्तराभिमुख बहुतसे भिन्न-भिन्न खण्डित अवशेष बिखरे पड़े हैं, जिनमें ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ हैं।

संग्रहालयके पूर्वकी ओर टीनका विशाल गोलाकार गृह बना हुआ है, जिसमें भूमराके बहुसंख्यक सुन्दर कलापूर्ण एवं अन्यत्र अनुपलब्ध अवशेष रखे गये हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास और शिल्प-स्थापत्य कलाकी दृष्टिमें इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। अभीतक सांस्कृतिक दृष्टिसे इनपर समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इन सभीको सरसरी तौरपर देखनेसे प्रतीत हुआ कि इसमें भारतीय लोक-जीवनकी विशिष्ट धाराओंके इतिहासकी कड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं, शैव संस्कृतिके इतिहासपर उज्ज्वल प्रकाश डालनेवाली कलात्मक सामग्री भी पर्याप्त रूपमें है। शिवजीके समस्त गण कई लाल प्रस्तरोंमें बँटे हैं। इसी गृहमें प्राचीन मन्दिरस्थ स्तम्भके टुकड़े पड़े हैं, जिनपर नर्तकियोंकी भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित हैं। सचमुच इनकी भावभंगिमाएँ ऐसे ढंगसे व्यक्त की गई हैं, मानों उन दिनोंका सुखी जन-जीवन ही जीवित हो उठा हो।

महेश्वर, गणेश आदि अन्य अवशेषोंका महत्त्व न केवल सौंदर्यकी दृष्टिसे ही है, अपितु आभूषण और मुद्राओंकी दृष्टिसे भी कम नहीं।

जल-कूपके निकट विशाल टीनका छप्पर बना हुआ है। इसमें कौशाम्बी, खजुराहो और सारनाथसे लाये हुए, भारतीय संस्कृतिकी सभी धाराओंके अवशेष पड़े हुए हैं, उनमें अधिकांश मंदिरोंके विभिन्न अंश हैं। कुछ शिल्प तो ऐसे सुन्दर हैं कि जिनकी स्वाभाविकता और सौंदर्यको लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ एक दो शिल्प ही पर्याप्त होंगे। एक प्रस्तरपर माताके उदरमें रहे हुए दो बच्चोंका जो उत्खनन

कलाकारने अपनी चिर साधित छैनी द्वारा, कल्पनाको साकार रूप देकर किया है, वह अनुपम है। विशेषतः बच्चोंकी मुख-मुद्रापर जो भाव प्रदर्शित हैं, उनको व्यक्त करना कमसे कम मेरे लिए तो संभव नहीं है। एक ऐसा भी अवशेष है, जिसमें बताया गया है कि गौ खड़ी हुई अपने बछड़ेकी पीठको स्नेहवश चाट रही है। बच्चा पयःपान कर रहा है। गौके मुखपर वात्सल्य रस झलक रहा है। एक शिल्पमें दो स्त्रियाँ मथानीसे विलोड़न कर रही हैं। बालक अपनी भोली-भाली मुख मुद्रा लिये मक्खनके लिए याचना कर रहा है। कल्पना कर सकते हैं कि चित्रमें कृष्णकी बाललीलाके भाव हैं। इस मण्डपकी सामग्री साधारण प्रेक्षकोंको तो संभवतः संतुष्ट न कर सके, परन्तु पत्थरोंकी दुनियामें विचरण करनेवाले कोमल हृदयके कलाकारोंको आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहती।

उपर्युक्त मंडलके पास ही लंबी पंक्तिमें भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सती स्मारकोंके अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमेंसे बहुतोंपर लेख भी हैं। इन स्मारकोंका सामाजिक दृष्टिसे थोड़ा-बहुत महत्त्व है। इनपर अभी अधिक अन्वेषण अपेक्षित है। इन सती स्मारकोंके सामने बहुत-से टुकड़े स्थानाभावके कारण इस प्रकार अस्त-व्यस्त पड़े हैं, मानो उनका कोई महत्त्व ही न हो। इनमें भी चार जैनमूर्तियोंके खण्डितांश पड़े हैं।

जल-कूपके निकट एक दूसरा टीनका गृह और बना हुआ है। इसमें वे ही अवशेष संगृहीत हैं, जो खजुराहोसे लाये गये थे। शिल्पकलासे अपरिचित व्यक्तियोंको भी यहाँ आनन्द मिले बिना नहीं रह सकता। प्रवेशद्वारपर ही खजुराहोके एक प्रवेश द्वारका कुछ अंश रखा है। जिसमें नर्त्तकियोंकी विभिन्न भाव-भंगिमाओंसे युक्त मूर्तियाँ, कलाकारको अभिनंदित करनेको बाध्य करती हैं। भारतीय नारी जीवनका आनंद स्वाभाविक रूपेण इन मूर्त्तियोंके अंग-अंगपर चमक रहा है। अंग-विन्यास, उत्फुल्ल वदन, स्मित हास्य, संगीतके विभिन्न उपकरणोंने इनका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। इन सभीका महत्त्व शिल्प-कलाकी दृष्टिसे समझा

जा सकता है, हृदयंगम भी किया जा सकता है, परन्तु वर्णमालाके सीमित अक्षरोंमें कैसे बाँधा जाय! इन अवशेषोंमें कुछ जैन-अवशेष भी हैं जिनका परिचय इस प्रकार है। अवशेषोंकी संख्या अधिक है। कुछ तो श्याम पाषाणपर उत्कीर्णित हैं। मैंने मध्यप्रान्तमें भी ऐसे ही श्याम पाषाणपर खुदी हुई मूर्त्तियाँ देखी हैं। बहुरीबंदवाली मूर्तिसे यह पाषाण समानता रखता है। संभव है त्रिपुरीका जब उत्कर्ष काल रहा होगा, तब शिल्प-कला के उपकरणके रूपमें पाषाण भी बुंदेलखण्डमें कलाकारों द्वारा, मध्यप्रांतसे जाता रहा होगा। क्योंकि खजुराहो जबलपुरसे बहुत दूर नहीं है।

एक जैनप्रतिमाका निम्न भाग पड़ा है। इस चरणको देखते ही कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत प्रतिमा भी ६० इंचसे क्या कम रही होगी, क्योंकि २२ इंच तक तो घुटनेका ही भाग है। शिल्पकलाके पारखी भली-भाँति परिचित हैं कि किसी भी विषयकी संपूर्ण प्रतिमाके सौन्दर्यको समझनेके लिए उसका एक अंग ही पर्याप्त होता है। इस दृष्टिसे तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि प्रस्तुत मूर्तिको शिल्पीने गढ़ ही डाला है। उनके हाथ और छेनी ही काम कर रही थी। हृदय और मस्तिष्क शायद शून्यवादमें परिणत हो गये होंगे। सौभाग्यसे संपूर्ण संग्रहालयमें यही एक ऐसी जैन तीर्थंकरकी प्रतिमा है, जिसपर निर्माणकाल सूचक लेख भी खुदा हुआ है, जिसमें बलात्कारगण वीरनंदी और वर्धमानके नाम पढ़े जाते हैं। १२१४ फाल्गुन सुदी ६ बताया गया है। यदि इस संवत्को सही मानते हैं तो लिपि और निर्माणकालमें अन्तर होनेके कारण उसपर ऐतिहासिक और मूर्ति-विज्ञानके विशेषज्ञ एकाएक विश्वास नहीं कर सकते। बाजूमें ही २७४ नं० का एक टुकड़ा है, जो २७३ से संबंधित प्रतीत होता है। इन टुकड़ोंके निम्न भागमें बहुत ही सुन्दर और सूक्ष्म ७ नग्न प्रतिमाएँ खुदी हैं, इन अवशेषोंसे ही विदित होता है कि प्रतिमा बड़ी सौन्दर्य-संपन्न रही होगी।

नं० ३०२—यह प्रतिमा ऋषभदेवकी है।

२३५—यह प्रतिमा किसी मुख्य प्रतिमाके बायें भागका एक अंश दिखती है। यद्यपि प्रतिमाविधानकी दृष्टिसे स्वतन्त्र मूर्ति ही मानें तो हर्ज नहीं है। इसका मस्तक किसी हृदयहीन व्यक्तिने जानबूझकर खंडित कर दिया है। पर किसी सहृदय व्यक्तिने उसे सीमेण्टसे भद्दे रूपसे चिपका दिया है।

४२-२३ इंचकी मटमैली शिलापर प्रस्तुत जिन-प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसका निर्माण सचमुचमें कुशल कलाकारद्वारा हुआ है। भावमुद्रा और शिलोत्कीर्णित परिकरका गठन, सौन्दर्यके प्रतीक हैं, परन्तु बायाँ घुटना जानबूझकर बुरी तरहसे खंडित कर दिया है। मूल प्रतिमा पद्मासनमें है। उभय ओर १८ इंचकी दो खड्गासनस्थ प्रतिमाएँ हैं। उनमें शांत रसका उद्दीपन स्पष्ट है। मुखमुद्रामें समत्वकी भावना झलक रही है। दोनोंके निम्न भागमें एक-एक पार्श्वद हैं। उपर्युक्त प्रतिमाका निम्न भाग स्वभावतः पाँच भागोंमें बँट गया है। दक्षिण प्रथम भागमें एक गृहस्थ हाथ जोड़े, घुटना टेककर वंदना कर रहा है। बाजूमें सुखासनमें एक मूर्ति खुदी हुई है। शिल्पशास्त्रकी दृष्टिसे तो इस स्थानपर अधिष्ठाता गोमुख यक्षकी प्रतिमा होनी चाहिए, क्योंकि यह प्रतिमा ऋषभदेव स्वामीकी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शिल्पशास्त्रोंमें वर्णित अधिष्ठाताका स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। सबसे बड़ा भिन्नत्व यही पाया जाता है कि यक्षके चार हाथ होने चाहिए जब कि यहाँ पर जो प्रतिमा खुदी है वह दो हाथोंवाली ही है। अतः इसे किस रूपमें माना जाय? मैं अपने अनुभवोंके आधारपर दृढ़ता-पूर्वक कह सकूँगा, कि यह सुखासनस्थ विराजित प्रतिमा कुबेरकी ही होनी चाहिए। कारण कि मुझे सिरपुरसे नवम शताब्दीकी एक ऋषभदेव स्वामी की धातु-प्रतिमा प्राप्त हुई थी, उसमें भी इसी स्थानपर कुबेरकी प्रतिमा विराजमान थी और बायीं ओर द्विभुजी अम्बिका की। प्रस्तुत प्रतिमामें भी बायीं ओर आम्रलुम्ब लिये और बायें हाथसे एक बच्चेको कटिपर थामें, अंबिकाकी मूर्त्ति स्पष्ट दिखायी गयी है। बाजूमें एक गृहस्थ स्त्री

भक्ति पूर्वक वन्दना करती हुई प्रतीत होती है। यद्यपि ऋषभदेव स्वामीकी अधिष्ठातृदेवी गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी है, अतः यहाँ पर उसीकी मूर्ति अपेक्षित थी, जब कि यहाँ अंबिका है। प्रायः बहुसंख्यक प्राचीन कई तीर्थंकरोंकी ऐसी प्रतिमाएँ देखनेमें आयी हैं, जिनकी अधिष्ठातृ देवीके स्थानपर अंबिकाके ही दर्शन होते हैं, विशेषतः पार्श्वनाथ और ऋषभदेव आदिकी मूर्त्तियोंमें। यों तो अंबिका भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ हैं। जैन-मूर्त्ति-विधान शास्त्रमें इसके दो रूप मिलते हैं, परन्तु शिल्प स्थापत्यावशेषोंमें तो वह, अनेक ऐसे रूपोंमें व्यक्त हुई हैं कि उनके विभिन्न पहलुओंको पहचानना भी कहीं-कहीं कठिन हो जाता है।

जिन प्रतिमाकी चर्चा यहाँपर की जा रही है, उसके आसनका भाग इस रूपसे बना हुआ है मानो कोई सुन्दर चौकी ही हो, आसनके रूपमें वस्त्राकृति है। जिसपर वृषभका चिह्न है। और दो मकरोंके बीचमें खड़ा धर्मचक्र है। प्रतिमाके मुखके पश्चात् भागमें प्रभावली है, साधारण रेखाएँ भी हैं। उभय ओर पुष्पमाला लिये गगनविचरण करते हुए देववृन्द हैं, तदुपरि दंडयुक्त छत्र हैं। दायें भागमें एक हाथीका चिह्न है, बायीं ओर इन्द्र। छत्रके ऊपरका भाग बड़ा ही कलापूर्ण है। अशोक वृक्षकी पत्तियाँ और दो हस्त ढोल बजा रहे हैं। छत्रके दोनों भागोंमें पद्मासनस्थ दो जिनमूर्तियाँ भी अंकित हैं। इतने लंबे विवेचनके बाद भी एक प्रश्न रह ही जाता है कि इसका निर्माणकाल क्या हो सकता है? कलाकारने संवत्का कहींपर भी उल्लेख नहीं किया, अतः केवल अनुमानसे ही काम लेना पड़ रहा है। यह मूर्ति खजुराहोसे लाई गई है, प्रस्तर भी वहाँके अन्य अवशेषों से मिलता-जुलता है। इस प्रकारकी अन्य प्रतिमाएँ देवगढ़में पायी गई हैं, जिनपर संवत् भी है। खासकर अंबिका और कुबेरकी प्रतिमाएँ इसके साथ संबंधित हैं, उनके अध्ययनके बाद कहा जा सकता है कि इसका रचनाकाल ९ से ११ वीं शतीका मध्यभाग होना चाहिए, क्योंकि अलंकरणोंका विकास जैसा इसमें हुआ है, वैसा उन दिनों खजुराहो और त्रिपुरी–तेवरकी सभी

धर्मावलंबियोंकी प्रतिमाओंमें हुआ था। विशेषतः अन्तर्गत मूर्तियोंका उपरि भाग—जो मगधकी स्मृति दिला रहा है—बुन्देलखण्डके विष्णु और शाक्त प्रतिमाओंमें पाया जाता है। ५ संख्यावाली उपर्युक्त प्रतिमा जहाँपर सुरक्षित है, ठीक उसके पश्चात् भागमें ही एक ओर जैनमूर्ति है, जो मटमैले पाषाणपर खुदी हुई है। निःसंदेह मूर्तिका सौंदर्य और शारीरिक विकास स्पर्धाकी वस्तु है, परन्तु प्रश्न होता है कि क्या मूर्तिका स्वाभाविक अंग इतना ही था जितना आप चित्रमें देख रहे हैं? मुझे तो संदेह ही है, कारण कि दक्षिण भाग जितना स्पष्ट है, उतना ही वाम भाग अस्पष्ट। मेरा तो ध्यान है कि यह विशालकाय प्रतिमाके परिकरका एक अंगमात्र है। ऊपर जिस मूर्तिका चित्र आप देख रहे हैं, उसके दक्षिण भागकी ही आप कल्पना करें तो इन पंक्तियोंका रहस्य स्वतः समझमें आ जायगा। यह त्रुटितांश एक बातकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि पूर्व प्रतिमा कितनी मनोहर रही होगी।

इस छप्परवाले संग्रहमें उत्थितासन कुछ जैन-मूर्तियाँ हैं, पर कलाकी दृष्टिसे उनका विशेष मूल्य न होनेसे उल्लेख ही पर्याप्त है।

नगरसभा—संग्रहालयके मुख्य गृहके पश्चात् भागमें एक ओर टीनकी मज़बूत चादरोंसे ढका, एक छप्पर है, जो जालियोंसे घिरा हुआ है। इसमें उन्मुक्त भावनाओंके पोषक कलावशेष क़ैद हैं। परन्तु बन्दी जीवन-यापन करनेवालोंमें जो रसवृत्तिका स्थायी भाव देखा जाता है वह सात्त्विक मनो-भावनाका अद्भुत प्रतीक है। इस गृहको मैंने बन्दीखाना सकारण ही कहा है। जब हम लोगोंने इसमें प्रवेश किया तब इतना कूड़ा-कचरा भरा हुआ था मानो महीनोंसे सफाई ही न हुई हो, जहाँ सर ऊँचा किया कि जाले लगे। मूर्तियोंपर तो इतनी धूल जम गई थी कि मुझे साफ करनेमें पूरा १॥ घंटा लगा। कला तीर्थमें भी इस प्रकारकी घोर अव्यवस्था, किसी भी दृष्टिसे क्षम्य नहीं। हमारे देशकी संस्कृतिके प्रतीकसम इन अवशेषोंका संग्रह

यदि दूसरे देशके किसी संग्रहालयमें होता तो शायद इनसे तो अच्छी ही हालतमें होता!

इस गृहमें भरहूत, खजूराहो, नागौद और जसो आदि नगरोंसे लाये हुए अवशेषोंका संग्रह किया गया है। इनमें कुछेक ऐसी ईंटें हैं, जिन पर लेख भी हैं। निःसंदेह यह संग्रह अनुपम है। एक मन्दिरका मुख्य द्वार भी सुरक्षित है, जिसमें केवल कामसूत्रके आसन ही खुदे हुए हैं। यों तो प्राचीन शिल्पस्थापत्य-कलासे सम्बन्ध रखनेवाली पर्याप्त साधन सामग्री इसमें है, परन्तु जैन-मूर्तियोंका भी सबसे अच्छा और व्यवस्थित संग्रह भी इसीमें है। सौभाग्यसे ये साथमें एक ओर सजाकर रखी गयी हैं। इन सबकी संख्या दो दर्जनसे कम नहीं होगी। प्रतीत होता है कि किसी जैनमन्दिरमें ही खड़े हों!

बायीं ओरसे मैं इनमेंसे कुछका परिचय प्रारम्भ करता हूँ। प्रतिमाएँ ऊपर-नीचे दो पंक्तियोंमें हैं।

एक अवशेष ३२"×१२" का है, जिसके उभय भागमें १५ जिन-प्रतिमाएँ खड्गासन और पद्मासनमें हैं। अवशिष्ट भागको ग़ौरसे देखनेसे प्रतीत होता है कि यह किसी मन्दिरके तोरणका अंश है या विशाल प्रतिमाका एक अंग, पत्थर लाल है। इसी टुकड़ेके पास एक और वैसा ही खंडितांश ४०×१७ इंचका है, इसका विषय तो ऊपरसे मिलता जुलता है, पर कला-कौशल और सौंदर्यकी दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है। इसके मध्य भागमें शेरपर बैठी हुई अम्बामाताकी प्रतिमा है। इसके बायें घुटनेपर बालक एवं दक्षिण हस्तमें आम्रलुम्ब हैं। ऊपरके हिस्सेमें चार जिन-प्रतिमाएँ क्रमशः उत्कीर्ण हैं। बायीं ओर ऋषभ और दायीं ओर पार्श्वनाथ तदुपरि देववृन्द विविध वादित्र लिये, स्वच्छन्दता पूर्वक गगन-विचरण कर रहे हैं। भाव बड़ा ही सुन्दर है। इसके समीप ही किसी स्तम्भका खंडितांश है। १३×१० इंच। मध्य भागमें पद्मासन और उभय भागमें खड्गासनस्थ मूर्तियाँ हैं।

६८७ × ३५ किसी जैन-मन्दिरका स्तंभ है। दो मूर्तियाँ हैं।

६८८ × ३४ स्तंभांशपर पार्श्व-प्रतिमा है। २२ × ११॥ इंच।

६१०—यह एक खड्गासनस्थ प्रतिमा है। ३८ × २१ इंच। मस्तकपर सप्तफण स्पष्ट है। उभय ओर पार्श्वद हैं। बायाँ भाग खंडित है। लांछन के स्थानपर बहुत ही स्पष्ट रूपसे शंख दृष्टिगोचर होता है। मूर्ति विलक्षण-सी जान पड़ती है और देखकर एकाएक भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है, कारण कि मस्तकपर नागफन और शंख लांछन, ये दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। फन स्पष्ट होनेके कारण इसे पार्श्वनाथकी मूर्ति मानना चाहिए, शंखका चिह्न भगवान् नेमिनाथका है। अतः मूर्ति नेमि जिनकी भी मानी जा सकती है। ऐसी मान्यताके दो कारण हैं, एक तो शंख लांछन और दूसरा सबल प्रमाण है आम्र वृक्षकी लताएँ, जो भगवान्के मस्तकके ऊपरी भागके समस्त प्रदेश में झूम रही हैं। सम्भव है आम्रलताएँ अंबिकाका प्रतीक हो, ऊपर पंक्तियोंमें प्रसंगतः उल्लेख हो चुका है कि अम्बिकाके हाथमें आम्रलुंब रहती है। मूल प्रतिमाके मस्तकके बायें भागमें एक ऐसी देवीका शिल्प अंकित है, जिसके बायें घुटनेपर बालक बैठा है। मन तो करता है कि इसे ही क्यों न अम्बिका मान लें। ऐसा प्रतीत होता है, मानो आम्रवृक्षकी सुकुमार डालियोंपर वह झूल रही हो, परन्तु पुष्ट प्रमाणके अभावमें इसे अंबिका कैसे मान लें ? मैंने अपने जीवनमें ऐसी एक भी जैन तीर्थंकरकी प्रतिमा नहीं देखी, जिसके मस्तकके ऊपरके भागमें अधिष्ठाता या अधिष्ठातृ देवीके स्वरूप अंकित किये गये हों। हाँ, उभयके मस्तकपर जिन-मूर्ति तो शताधिक अवलोकनमें आई है। मेरे लिए तो यह बड़े ही आश्चर्यका विषय था। कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता था कि इसका निर्णय कैसे किया जाय। मेरे परममित्र मुनि श्री कनकविजयजीने मेरा ध्यान पार्श्वनाथ भगवान्के जलवृष्टिवाले उपसर्गकी ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि यह संभवतः उसीका प्रतीक हो, परन्तु वह भी मुझे नहीं जंचा। कारण कि यदि उपसर्गका प्रतीक होता तो धरणेन्द्र और पद्मावती भी अवश्य ही उपस्थित रहते। एक कल्पना और जोर

मार रही है कि मानो शंख प्रक्षालनार्थ रखा गया हो, जैसा कि बौद्ध प्रतिमाओंमें पाया जाता है, परन्तु यहाँ यही उद्देश्य हो तो साथमें और भी पूजाके उपकरण चाहिए। यदि शंख, लांछनके स्थानपर न हो तब तो मेरी कल्पना काम आ जाती, क्योंकि प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान्‌की मूर्तियाँ ऐसी अवलोकनमें आई हैं, जिनके पास अंबिकाकी प्रतिमा है। यहाँपर भी माना जा सकता था, कि जो आम्रवृक्ष है, वही अंबिकाका प्रतीक है और फर्णोके कारण मूर्ति पार्श्वनाथकी है। जबतक कि प्राचीन शिल्प स्थापत्यके ग्रन्थोंमें इस प्रकारके स्वरूपका पता न चले और इस शैलीकी अन्य प्रतिमाएँ उपलब्ध नहीं हो जातीं, तबतक जैनमूर्ति विधानमें रुचि रखनेवाले अभ्या-सियोंके सामने यह समस्या बनी रहेगी। एतद्विषयक गवेषकोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपने अनुभवोंसे इस समस्यापर प्रकाश डालें। यह मूर्ति खजुराहोसे प्राप्त की गई है और निर्माण काल दशम शताब्दी प्रतीत होता है।

६११—संख्यावाली प्रतिमा २८"×३०" इंच है, यह है तो बड़ी ही सुन्दर पर दुर्भाग्यसे उसका परिकर पूर्णतः खंडित है। जैसा कि आप चित्र-में देख रहे हैं। जो भाग बच पाया है, वह इसकी विशालताका सूचक है। प्रधान प्रतिमाका मुखमंडल भरा हुआ है, ओजपूर्ण है। मस्तकपर केश गुच्छक है, जैसाकि और भी अनेक जैन-प्रतिमाओंमें पाया जाता है। भामंडल भी कलापूर्ण है। प्रतिमाके स्कन्ध प्रदेश पर पड़ी हुई केशावलीसे अवगत होता है कि मूर्ति श्री ऋषभदेवकी है। अधिष्ठातृ देवीके रूपमें, इसमें भी अंबिका ही है। इस प्रतिमाके पृष्ठ भागकी ओर ध्यान देनेसे विदित होता है कि मूर्ति न जाने कितनी विशाल रही होगी। आश्चर्य नहीं चतुर्विंशतिका पट्ट भी हो। दक्षिण भागमें खंडित घुटनेवाली-दो खड़ी जैन-मूर्तियाँ हैं, और इनके भी ऊपर तीन खड़ी हुई हैं। खंडितांशसे पता लगता है कि ऊपरके और भागोंमें भी मूर्तियाँ होंगी, क्योंकि प्रभामंडल आधेसे अधिक खंडित है। इस अनुपातसे तो कम-से-कम २॥ फुटसे ऊपरकी प्रस्तर पट्टिका

चाहिए, जिसमें छत्र, देवांगना, अशोकवृक्ष आदि चिह्न रहे होंगे। बाँयी ओर भी दक्षिणके समान ही मूर्तियाँ होंगी। इस ओरका भाग अपेक्षाकृत अधिक खंडित है। मुझे तो लगता है कि यह जान-बूझकर किसी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवालेने तोड़ दिया है। कारण कि खंडित करनेका ढंग ही कह रहा है। आज भी ऐसा करते मैंने तो कइयोंको देखा है। राजिम (C.P.) में एक कट्टर ब्राह्मणने पार्श्वनाथकी मूर्तिको एक जैनके देखते-देखते ही लाठीसे दो टुकड़े कर दिये।

प्रश्न होता है—इसका निर्माण-काल क्या रहा होगा? पुरानी सभी जैन-प्रतिमाओंके लिए यही समस्या है। इसे अपने अनुभवोंके आधारसे ही सुलझाया जा सकता है। इस मूर्तिमें तीन बातें ऐसी पायी जाती हैं जो काल निश्चित करनेमें थोड़ी बहुत मदद दे सकती हैं—(१) आसनके नीचेका भाग, (२) मस्तकपर केश गुच्छक, (३) भामंडल-प्रभावली। मथुराकी प्रतिमाओंसे कुछेकके आसन प्लेन होते हैं या साधारण चौकी जैसा स्थान होता है। इस प्रकारकी पद्धतिके दर्शन मध्यकालीन जैन-मूर्तियोंमें होते हैं, पर कम। मकराकृतियाँ या कीर्तिमुखका भी अभाव इस प्रतिमामें है। (२) केश गुच्छक पुरानी मूर्तियोंमें और गुप्तकालीन महुडीकी जैन मूर्तियोंमें दिखलाया गया है, पर वे सारे मस्तकको घेरे हुए हैं। जब ७ वीं शतीके बाद वह केवल तलुआतक ही सीमित रह गया है। इस प्रकारका केश-गुच्छक मध्यकालीन प्रस्तर और धातुकी मूर्तियोंमें दिखाई पड़ता है। ११ वीं शताब्दीतक इसका प्रचार रहा, बादमें परिवर्तन हुआ, (३) भामंडल-प्रभावलीकी कमल पंखुड़ियाँ भी मध्यकालीन बौद्ध प्रभामंडलसे मिलती हैं। इन तीनों कारणोंसे यह निश्चित होता है कि मूर्तिका रचनाकाल ९वीं शतीसे ११ वीं शतीके भीतरका भाग होना चाहिए। इसी कालकी और भी मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। उनके तुलनात्मक अध्ययनसे भी यही फलित होता है।

६१२—संख्यावाली प्रतिमा तत्र स्थित समस्त जैन-प्रतिमाओंमें अत्यन्त विशाल है। लम्बाई चौड़ाई ५१"×१८" है। कलाकी दृष्टिसे

और सौन्दर्यकी दृष्टिसे इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है क्योंकि शारीरिक गठन बड़ा भद्दा है। चरणोंको देखनेसे पता लगता है कि दो खम्भे खड़े कर दिये हों। दोनों परिचारकोंके साथ भक्त स्त्रियोंके शिल्प अंकित हैं, जो उत्तरीय वस्त्र और कछौटा धारण कये हुए हैं। बायीं ओर मकरके बगलमें कुवेर, एवं तदुपरि अंबिका, गोदमें बच्चे लिये हैं। इसके ऊपर दो खड्गासनस्थ जैन-प्रतिमाएँ हैं। मस्तकके दोनों ओर देव-देवियाँ हैं। दक्षिण भागके कटावसे प्रतीत होता है कि इस विशाल मूर्तिका परिकर काफ़ी विस्तृत रहा होगा। संपूर्ण प्रतिमाको देखनेसे ऐसा लगता है कि यह किसी स्वतन्त्र मंदिरसे संबंधित न होकर किसी स्तम्भसे जुड़ी हुई, रही होगी। इसका प्रस्तर लाल है।

६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१६, ६८६M३५, ६६० M३५, ६६२M३५, ६६३M३०, ६६४M३६, ६६५M२२, इन संख्याओं वाली समस्त मूर्तियाँ जैन हैं। स्थानाभावके कारण इनका कलात्मक विस्तृत परिचय दिया जाना संभव नहीं। उपर्युक्त प्रतिमाओंके और भी श्रमण-संस्कृतिसे संबंधित स्फुट अवशेष काफ़ी तादादमें वहाँ पड़े हुए हैं। उनमेंसे एक ऐसे सुन्दर अवशेषपर दृष्टि केन्द्रित हुई, जिसका उल्लेख किये बिना निबन्ध अधूरा ही रहेगी। मुझे यह अवशेष इसलिए बहुत पसंद आया कि इस प्रकारकी आकृतियाँ अन्यत्र कम देखनेको मिलती हैं। यह अवशेष एक दृष्टिसे अपने आपमें पूर्ण है, पर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी संभव नहीं। चित्रमें आप देखेंगे तो प्रधानतः तीन तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिनके मस्तकपर सुन्दर शिखर भी बने हुए हैं, जिनके अग्रभागमें एक-एक पद्मासनस्थ जैन-प्रतिमा उत्कीर्णित है। प्रधान तीनों प्रतिमाओंमें उभय ओर सात एवं पाँच फण युक्त पार्श्वनाथकी प्रतिमाएँ हैं, मध्यमें ऋषभदेव की। तीनोंके उभय ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रामें प्रतिमाएँ खुदी हैं। तीनों मूर्तियोंके मध्यवर्ती भागमें दायीं व बायीं क्रमशः अंबिका और चक्रेश्वरी अधिष्ठातृ देवियाँ, सायुध अवस्थित हैं। यहाँपर आश्चर्य तो इस

बातका है कि दोनों अधिष्ठातृ देवियोंके निकट भागमें दो-दो कायोत्सर्ग मुद्राकी मूर्तियाँ हैं। अन्यत्र देवियोंके पार्श्ववर्ती प्रदेशमें जैन तीर्थंकरकी मूर्तियाँ नहीं मिलतीं। यदि मिलती हैं तो वीतरागके परिकरमें ही। उपर्युक्त दोनों शिखरोंके मध्य भागमें दो हिस्से पड़ जाते हैं, जो दोनों देवियोंके ऊपर हैं। इनमें भी तीन-तीन पद्मासनस्थ जैन मूर्तियाँ हैं। समस्त मूर्तियाँ यद्यपि वीतराग भावनाका प्रतीक हैं, तथापि मुख मुद्रामें सामंजस्य नहीं पाया जाता। इस संपूर्ण पट्टिकामें स्वतन्त्र मंदिरका अनुभव होता है। अब इसे स्वतन्त्र मंदिर मानें या किसी मंदिरके तोरणका उपरिअंश? इसका निर्माणकाल ११ वीं शतीके बादका प्रतीत नहीं होता है।

अम्बिका

नगर-सभा-संग्रहालयके उद्यान कूपके निकट छोटेसे छप्परमें एक ६८ × ३६ इंचकी रक्त प्रस्तर शिलापर विभिन्न आभूषण-युक्त कलात्मक प्रतिमा, सपरिकर उत्कीर्णित है। इस प्रतिमाने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि जीवन पर्यन्त उसका विस्मरण मेरे लिए असंभव हो गया। बात यह है कि, संपूर्ण भारतमें इस प्रकारकी प्रतिमा आजतक न मेरे देखनेमें आयी है और न कहीं होनेकी सूचना ही मिली है। मूर्ति अंबिका देवीकी है। इसका परिकर न केवल जैन-शिल्प-स्थापत्य कलाका समुज्ज्वल प्रतीक है, अपितु भारतीय देवी-मूर्ति-कलाकी दृष्टिसे भी अनुपम है। स्पष्ट कहा जाय तो यह भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलामें जैनोंकी मौलिक देन-सी है। यों तो अंबिका इतनी व्यापक देवी रही है कि प्राचीन कालीन प्रायः सभी जैन मूर्तियोंमें इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही साथ पश्चिम एवं उत्तरभारतीय कलाकी बहुत-सी धारा इसीपर बही है, जैसा कि तत्र प्राप्त अवशेषोंसे फलित होता है। इस मूर्तिका वैशिष्ट्य न केवल कला या वास्तु-शास्त्रकी दृष्टिसे ही है, अपितु आभूषण बाहुल्यके कारण सामाजिक दृष्टिसे भी है। मूर्तिका संपूर्ण परिचय इस प्रकार है:—

शिलाके मध्य भागमें चतुर्मुखी अंबिका ४१ इंचमें अंकित हैं। चारों

हाथ खंडित हैं। कंठमें हँसुली प्रमुख बहुत-सी मालाएँ एवं हाथमें भी बाजू-बन्द आदि आभूषण हैं। नागावलिसे हाथोंका सौंदर्य बढ़ गया है। केश-विन्यासके अग्र भागमें भी आभूषण हैं। केश-विन्यास मस्तकपर त्रिवल्यात्मक है, जैसा कि ११वीं शतीकी झाँसीके पास देवगढ़पर पायी जानेवाली देवमूर्तियोंमें एवं नर्त्तकियोंके मस्तकपर पाया जाता है। कमल-पुष्प मस्तककी छविमें अभिवृद्धि करते हैं। नासिका खंडित होनेके बावजूद भी मुख सौन्दर्य में कमी नहीं आने पायी है। शान्ति ज्यों-की-त्यों बनी है। यद्यपि वदन इतना सुन्दर और भावपूर्ण बना है, तथापि कलाकार चक्षु निर्माणमें पश्चात्पाद रहा जान पड़ता है। कटि प्रदेशमें नाना जातिकी कटि मेखलाएँ एवं स्वर्ण कटि मेखला कई लड़ोंकी सुशोभित हैं। खुदाई इतनी स्पष्ट है कि एक-एक कड़ी पृथक्-पृथक् गिनी जा सकती है। बुन्देलखंडमें आज भी इस प्रकारकी कटि-मेखलाएँ, कई लड़ोंमें व्यवहृत होती हैं। देवीके दोनों चरण सुन्दर वस्त्रसे आच्छादित हैं, जो सूक्ष्मताकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं, मानो कोई विविध बेलबूटोंसे छपा हुआ वस्त्र हो। चरणमें नूपुर और तोड़े बने हुए हैं। संपूर्ण प्रतिमाको एक दृष्टिसे देखनेके बाद हृदयपर बड़ा गहरा असर पड़ता है। प्रतिमाकी दायीं ओर एक बालक सिंहपर आरूढ़ है। बायीं ओर भी एक बालक खड़ा है। वह देवीका हाथ पकड़े हुए होगा। दोनोंके निम्न भागमें क्रमशः स्त्री और पुरुष अंजलिबद्ध अंकित हैं। तन्निम्न भागमें कमलके दण्ड अपना सौन्दर्य बिखेर रहे हैं। यह तो हुआ प्रतिमाका शब्द चित्र। अब हमें इसके परिकरकी ओर जाना चाहिए। जो इसकी सुन्दरताको द्विगुणित कर देता है।

परिकर मूल प्रतिमाके ड्योढ़ेसे अधिक भागमें है। दायीं प्रथम पंक्तिके निम्न भागमें सर्वप्रथम एक चतुर्भुजी देवीकी खड़ी प्रतिमा अंकित है। खड्ग, परशु आदि आयुधोंके साथ है। इस प्रतिमाकी ऊपरकी पंक्तिमें चार खड़ी जिन-मूर्तियाँ हैं। तदुपरि हाथी, अश्व और मकराकृतियाँ हैं। इनके ऊपर इस प्रकारके भाव उत्कीर्णित हैं, मानो कोई स्त्री पूजनकी सामग्री लिये

खड़ी हो। इसी प्रकार परिकरका बायाँ भाग भी बना हुआ है। दूसरी पंक्तिके दोनों भागोंमें नवग्रहोंकी प्रतिमाएँ अंकित हैं। तदुपरि दाहिनी एवं बायीं ओर यक्षकी प्रतिमाएँ हैं। हाथमें चक्र है। ऊपरके भागमें दायें बायें सात-सात देवियोंकी प्रतिमाएँ हैं, जिनपर क्रमशः काली, महाकाली, मानसी, गौरी, गाँधारी, अपराजिता, ज्वालामालिनी, आदि नाम अंकित हैं। सभी देवियाँ अपने-अपने आयुधोंसे अंकित हैं। दायीं ओरकी मूर्तियोंका दायाँ पैर और बायीं ओरकी मूर्तियोंका बायाँ पैर इस प्रकार काटा गया है, जैसे एक ही क्षणमें क्रमशः खंडित करते हुए कोई आगे निकल गया हो। उपर्युक्त वर्णित प्रत्येक प्रतिमाके दोनों ओर खास-खास स्तम्भ बने हैं। प्रत्येकके नीचे तख्ती जैसा स्थान रिक्त है, जिसपर नाम उत्कीर्णित हैं। सभी मूर्तियोंकी भाव मुद्रा बड़ी प्रेक्षणीय एवं सहृदय कलाकारकी कुशल कृतिका सुस्मरण कराये बिना नहीं रहतीं। प्रधान प्रतिमाके ऊपरी भागमें पाँच खंडितांश दिखते हैं, जिनसे पता चलता है कि संभवतः वहाँपर देवीके मस्तकका छत्र रहा होगा। तदुपरि मध्य भागमें एक देवीका प्रतीक अंकित है। ऊपरके भागमें दो-दो देवियाँ सब मिलाकर चार देवियाँ हैं। इनके ऊपरी भागमें खड़ी एवं बैठी दो-दो जिन-मूर्तियाँ हैं। दोनों ओर कमलोपरि विराजमान परिचारक-परिचारिकाएँ हैं। इनके ठीक मध्य भागमें देवीके मस्तकपर नेमिनाथ भगवान्की प्रतिमा है, शंखका चिह्न स्पष्ट बना हुआ है। उपर्युक्त संपूर्ण परिकरमें १३ जिन-प्रतिमाएँ, २३ अवांतर देवियोंकी जो नेमिनाथ-भिन्न तीर्थंकरोंकी अधिष्ठातृ देवियाँ हैं—मूर्तियाँ तथा मध्यमें प्रधान प्रतिमा, सब मिलाकर २४ देवी-मूर्तियाँ हैं। प्रकृत मूर्तिके नीचेके भागमें एक पंक्तिका लेख खुदा हुआ है। यद्यपि शामका समय हो जानेसे मैं इसे पूरा पढ़ नहीं पाया, परन्तु इससे इतना तो पता चल ही गया कि रामदास नामक व्यक्तिने इसका निर्माण करवाया था, वह पद्मावतीका निवासी था।

लंबे विवेचनके बाद यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि इस कलाकृतिका

निर्माण काल क्या हो सकता है? कारण कि निर्माताका नाम है, पर सृजन कालकी सूचना नहीं है। इससे निश्चित समयका भले ही पता न चले, पर अनुमित निर्णय तो हो ही सकता है। प्रतिमाके आभूषण, उनकी रचना शैली और लिपि इन तीनोंमेंसे मैंने इसका समय १२–१३ वीं शतीका मध्य भाग माना है। कारण कि इस शैलीकी मूर्तियाँ और भी देवगढ़ तथा मध्यप्रान्तमें पायी गयी हैं।

उपर्युक्त कलाकृतिको घंटों देखते रहिए, "पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" पंक्ति पुनः पुनः साकार होती जायगी। मनुष्य ऐसी कृतियोंके सम्मुख अपने आपको खो बैठता है।

अम्बिकाकी[1] एक और मूर्ति

प्रस्तुत संग्रहालयमें ऐसी ही और भी आकर्षक मूर्तियाँ हैं, जो न केवल जैन-मूर्ति कलाका ही मुख उज्ज्वल करती हैं, अपितु नवीन तथ्योंको भी लिये हुए हैं। इनके रहस्यसे भारतीय पुरातत्त्वके अन्वेषक प्रायः वंचित हैं। यद्यपि ये सभी एक ही रूपकका अनुगमन करती हैं, तथापि रचना काल और ढंग भिन्न होनेके कारण कलाकी दृष्टिसे उनका अपना महत्त्व है। शब्द-चित्र इस प्रकार है :—

एक वृक्षकी दो शाखाएँ विस्तृत रूपमें फैली हुई हैं, इनकी पंखु-ड़ियोंके छोरपर उभय भागोंमें पुष्पमाला धारण किये देवियाँ हैं। वृक्षकी छायामें दायीं ओर पुरुष और बायीं ओर स्त्री अवस्थित है। पुरुषके बायें घुटनेपर एक बालक है। स्त्रीके बायें घुटनेपर भी बालक है, दाहिने हाथमें आम्रफल या बीजपूरक प्रतीत होता है। दोनों बालकोंके हाथोंमें भी फल हैं। पुरुषका दाहिना हाथ खंडित है, अतः निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उसमें क्या था। पुरुषके मस्तकपर नोकदार मुकुट पड़ा हुआ है। गला यज्ञोपवीत और आभूषणोंसे विभूषित है। दंपति स्वतन्त्र दो आसन

---

[1] सतीशचन्द्र काला इसे 'मानसी' मानते हैं, यह उनका भ्रम है।

पर विराजमान हैं। निम्न भागमें सात और मूर्तियाँ हैं, जो आमने-सामने मुख किये हुए हैं। वृक्षकी दोनों पंक्तियोंके बीच जिन-भगवान्की प्रतिमा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"

इस प्रकारकी प्रतिमा जब सबसे पहले राजगृह स्थित पंचम पहाड़के ध्वस्त जैन-मन्दिरके अवशेषोंमें देखी थी, तभीसे मेरे मनमें कौतूहल उत्पन्न हो गया था। भारतके और भी कुछ भागोंमें इन्हीं भावोंवाली मूर्तियाँ मिलती हैं। जिनपर भिन्न-भिन्न विद्वानोंने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। श्री रायबहादुर दयाराम सहानीका अभिमत है कि वह वृक्ष कल्पद्रुम है। ये बच्चे अवसर्पिणी, सुषम-सुषम समयकी प्रसन्न जोड़ियाँ हैं[1]। श्री मदनमोहन नागरने इस प्रकारके शिल्पको "कल्पवृक्षके नीचे बैठी हुई मातृकाओंकी मूर्ति" माना है।[2] श्री वासुदेवशरण अग्रवालने वृक्षको कल्पवृक्ष माना है और निम्न अधिष्ठित दम्पति युगलको यक्ष-यक्षिणी मानते हुए आशा प्रकट की है कि जैन-विद्वान् इसपर अधिक प्रकाश डालेंगे[3]। जैन शिल्प-स्थापत्य तथा मूर्तिकलाके विशिष्ट अभ्यासी श्री साराभाई नवाबसे पूछनेपर भी इस मूर्तिके रहस्यपर कुछ प्रकाश न पड़ सका। उपर्युक्त प्रथम दो विद्वानोंकी सम्मतियाँ ऐसी हैं जिनपर विश्वास करना प्रायः कठिन है।

जब भारतके विभिन्न भागोंमें इस शैलीकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं, तब यह बात तो मनमें अवश्य आती है कि इनका विशिष्ट महत्त्व अवश्य ही रहा होगा, परन्तु जहाँतक प्राचीन शिल्प-स्थापत्य कला-विषयक ग्रन्थोंका प्रश्न है वे, प्रायः इस विषयपर मौन हैं। मेरी रायमें तो यह अम्बिकाकी ही मूर्ति रही होगी।

---

[1] जैन-सिद्धान्त-भास्कर—भाग ८, किरण २, पृष्ठ ७१।

[2] प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८३।

[3] श्री जैन-सत्यप्रकाश वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ ८।

ऐसी स्थितिमें यह समुचित जान पड़ता है कि यदि प्राचीनतम देवी-मूर्तियोंका अध्ययन किया जाय तो संभव है इस उलझनके सुलझनेका मार्ग निकल आये। यहाँपर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थोंमें अंबिकाके जो स्वरूप निर्दिष्ट हैं उनके उल्लेखका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। इन स्वरूपोंसे मेरी स्थापनाको काफ़ी बल मिल जाता है। यहाँपर मैं एक बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि संप्रदाय मान्य शिल्पशास्त्रके जितने भी स्वतन्त्र ग्रन्थ या एतद्विषयक उल्लेख एवं उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे इस शैलीकी मूर्तियोंके निर्माण समयके काफ़ी बादके हैं। तथापि दोनोंमें आंशिक साम्य पाया जाता है एवं जिस कालमें ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ उस कालकी चित्रकलामें भी—विशेषतः पश्चिम भारतकी—अम्बिकाका वैसा ही रूप अभिव्यक्त हुआ है। अतः कोई कारण नहीं कि हम इन परवर्त्ती उल्लेखों पर अविश्वास करें। प्रासंगिक रूपसे यह भी बतला देना आवश्यक है कि शिल्प-शास्त्र जैसे व्यापक विषयमें साम्प्रदायिक मतभेदको स्थान नहीं हो सकता। क्योंकि मैं अपने अनुभवोंके आधारपर देवी-मूर्तियोंके संबंधमें तो अवश्य ही दृढ़ता-पूर्वक कह सकता हूँ कि, प्राचीन-कालमें देवी-मूर्तिके निर्माणमें सांप्रदायिक आग्रह नहीं था। कारण कि शिल्पशास्त्रीय उल्लेखोंके प्रकाशमें देवी-मूर्तियोंको देखेंगे तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि उभय संप्रदायोंमें परस्पर विरोधी भाववाली मूर्तियाँ भी बनीं। जैसे दिगम्बर-मान्य शिल्प ग्रन्थके अनुसार जैसा रूप अंबिकाका दिखता है, उसके अनुसार श्वेताम्बरोंने मूर्ति बनायी और श्वेताम्बर मान्य-रूपके अनुसार दिगम्बर जैनोंने। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों संप्रदायके नामपर कदाग्रह बढ़ता गया, त्यों-त्यों अपने-अपने रूप भी स्वतन्त्र निर्धारित होते गये। इसीके फलस्वरूप वास्तु-साहित्य-सृष्टि भी हुई। यदि प्राचीन मूर्तियोंको छोड़कर, केवल शिल्प कलात्मक ग्रन्थोंके उद्धरणों पर ही विश्वास कर बैठें तो, धोखा हुए बिना न रहेगा।

श्वेताम्बर आचार्य रचित शिल्प ग्रन्थोंमें अंबिकाका रूप इन शब्दोंमें वर्णित है :—

"तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्मांडीं देवीं कनकवर्णां सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुलिंगपाश-युक्त-दक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति ।"

—उन्हींके तीर्थोंमें कूष्माण्ड (अम्बिका) नामक देवी है, वह सुवर्ण वर्णवाली, सिंहवाहिनी और चार हाथवाली है। उसके दक्षिण उभय हस्तमें बीजपूरक और पाश है। बायें दो हाथोंमें पुत्र और अंकुश हैं। कुछ ग्रन्थोंमें दायें हाथमें आम्रलुम्ब या फल रहनेके उल्लेख भी दृष्टिमें आये हैं।

दिगम्बर संम्प्रदायके अनुसार अंबिकाका स्वरूप इस प्रकार है :—

"सव्येकद्युपगप्रियंकरसुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं,
दिव्याम्रस्तवकं शुभंकरकरश्लिष्टान्यहस्तांगुलीम् ।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितमामाम्रद्रुमच्छायगां
वन्यारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रां यजे ॥"

—दस धनुषके देहवाले श्री नेमिनाथ भगवान्की आम्रा (कूष्माण्डिनी) देवी है। वह हरितवर्णा, सिंहपर आरूढ़ होनेवाली, आम्र छायामें निवास करनेवाली और द्वयभुजी है। बायें हाथमें प्रियंकर नामक पुत्र स्नेहार्द्र आम्रडालको तथा दायें हाथमें दूसरे पुत्र शुभंकरको धारण करनेवाली है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें वर्णित अम्बिकाके दोनों स्वरूप सामयिक परिवर्तनके साथ प्राचीन कालसे ही भारतीय मूर्तिकलामें विकसित रहे हैं। परन्तु इस मौलिक स्वरूपकी रक्षा करते हुए, कलाकारोंने समयकी माँगको देखकर या सामाजिक परिवर्तनों एवं शिल्पकलामें आनेवाले नवीन उपकरणोंको अपना लिया है, जैसा कि प्रत्येक शताब्दीकी विभिन्नतम प्रतिमाओंके अवलोकनसे ज्ञात होता है। यों तो प्राप्त अम्बिकाकी प्रतिमाओंके आधार-पर उनके शिल्प-कलात्मक क्रमिक विकासपर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डाला जाय तो केवल अम्बिकाकी मूर्तियोंपर एक अच्छा-सा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि वह देवी अन्य तीर्थंकरोंकी अधिष्ठातृ देवियों-

की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक रूपसे सम्मानित स्थानपर रही है जैसा कि "रूप-मण्डन" से प्रतीत होता है।

२ नम्बरवाले चित्रमें जो आकृति प्रदर्शित है उसे मैं सकारण सयक्ष अम्बिकाकी मूर्ति ही मानता हूँ। कारण कि उभय सम्प्रदाय मान्य उद्धरण भी इसके समर्थनमें ही है, उसे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदिने कल्पवृक्ष माना है। परन्तु मैं इसे आम्रवृक्ष मानता हूँ। पत्तियोंका आकार बिल्कुल आम्र-पत्रके सदृश है। दोनों पत्तियोंके नुकीले भागपर देवियोंकी पुष्पमाला लिये आकृति है, वह एक प्रकारसे परिकरका अंग है। वृक्षके मध्य भागमें जो जिनमूर्ति दिखलाई पड़ती है वह नेमिनाथ भगवान्‌की ही होनी चाहिए, कारण कि अम्बिकाकी उपर्युक्त संग्रहालयमें जो मूर्ति है, उसपर भी नेमि जिन अंकित है। प्रभास-पाटन,[1] खंभात[2] आदि कुछ नगरोंमें १२ वीं शतीकी ऐसी अम्बिकाकी मूर्तियाँ सपरिकर उपलब्ध हुई हैं जिनके मस्तकपर नेमिनाथ भगवान्‌की मूर्तियाँ हैं। जो स्त्री वृक्षके दायीं ओर अवस्थित है वह निस्सन्देह अम्बिका ही होनी चाहिए। जो पुरुष दिखलायी पड़ता है उसे यदि गोमेध यक्ष मान लें तो सारी शंकाएँ दूर की जा सकती हैं। अम्बिकाकी कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ पाई जाती हैं जो आम्र वृक्षकी छायामें अकेली ही बैठी हैं।

राजगृहकी अम्बिका

राजगृहमें वैभारगिरि पर्वतपर गुप्तोत्तरकालीन कुछ खंडहर हैं उनमें एक मानव-कदकी प्रतिमा है, जो आम्र वृक्षकी छायामें कमलासनपर बैठी स्त्रीकी है। जनता इस स्त्रीको महाश्रमण महावीरकी माता मानती है। वस्तुतः यह अम्बिका ही है। कारण कि लुम्ब सहित आम्रवृक्ष अति

---

[1] "भारतना जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प-स्थापत्य, चित्र" ८७।

[2] श्री जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अंक १, पृ० १८५।

स्पष्ट है। तदुपरि दोनों पार्श्वदोंके बीच अर्थात् देवीके मस्तकपर भगवान् नेमिनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। वृक्षकी छायामें अम्बिका बैठी है। शारीरिक विन्यास बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक है। इस प्रकारकी यह एक ही प्रतिमा बिहारमें उपलब्ध हुई है। स्त्री मूर्ति विधान शास्त्रकी दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

एलोराकी अम्बिका

इसी प्रकारकी एक मानव-कद्की प्रतिमा एलौराकी गुफामें भी अंकित है। जिसका निर्माण-काल १० वीं शतीके आसपास है। आम्र-वृक्षकी सघन छाया है। राजगृहकी प्रतिमामें केवल आम्र वृक्षकी एक डाल अंकित करके ही कलाकारने संतोष कर लिया है, जब कि प्रस्तुत प्रतिमाके मस्तकपर तो सम्पूर्ण सघन आम्र वृक्ष अंकित है। इस देवीकी मुख्य प्रतिमाके ठीक मस्तकपर छोटी-सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है, जिसे भगवान् नेमिनाथकी कह सकते हैं। यों तो शिल्पीने इस मूर्तिके निर्माणमें प्रकृतिसे इतना सामंजस्य कर दिखाया है, जैसा अन्यत्र कम मिलेगा। विशेषता यह है कि आम्रवृक्षके दोनों ओर मयूर-मयूरियाँ अंकित हैं। आम्रके टिकोरे-से उसके फल है। वृक्षपर कहीं-कहीं कोयल भी दिखाई पड़ती है। तात्पर्य कि कलाकारने वसन्तागमनके भाव अंकित किये हैं। इसी प्रकारकी एक और प्रतिमा कलोल स्टेशनसे चार मील दूर शेरीसाके श्वेताम्बर जैन मन्दिरमें विद्यमान है। उपर्युक्त वर्णित प्रतिमा सिंहासनपर विराजमान है। ऐसी ही प्रतिमा आबूमें भी पाई जाती है परन्तु यहाँ स्थानाभावसे उनका विस्तृत उल्लेख संभव नहीं है।

प्राचीन तालपत्रीय जैन चित्रोंमें अम्बिकाके जो रूप मिलते हैं वे उपर्युक्त रूपोंसे कुछ भिन्न हैं। ऐसा पता चलता है कि ११ वीं १३ वीं शतीमें गुजरातमें अम्बिकाकी मान्यता व्यापक रूपमें थी। आरासुर और गिरनारमें तो अंबिकाके स्वतंत्र तीर्थ ही हैं। विमलशाके आबूवाले लेखमें इनकी स्तुति भी की गई है। (श्लो० ६)

इतने लंबे विवेचनके बाद मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि राजगृह, रीवाँ, लखनऊ, मथुरा और प्रयाग आदि प्राचीन संग्रहालयोंमें आम्रवृक्षके निम्न भागमें, सिंहासनपर बैठी हुई, द्वय बालक युक्त, जितनी भी प्रतिमाएँ हैं वे भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ अम्बिकाकी ही हैं।

अतिरिक्त सामग्री

उपर्युक्त पंक्तियोंमें जैनसंस्कृतिके मुखको उज्ज्वल करनेवाले महत्त्वपूर्ण कलात्मक अवशेषोंका यथामति परिचय दिया गया है, अतः पाठक यह न समझ बैठें कि वहाँपर इतनी ही सामग्री है, अपितु वहाँपर ऐसी अनेक जिनमूर्त्तियाँ हैं, जिनका महत्त्व मूर्तिकलाके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे अत्यधिक है। समय अत्यन्त अल्प रहनेसे मैं उनका सिंहावलोकन न कर सका। विशेषतः मैं उन वस्तुओंका भी अवलोकन न कर सका, जिनके लिए वहाँका संग्रहालय विशेष रूपसे प्रसिद्ध रहा है। मेरा संकेत वहाँके 'टेराकोटा'-मृण्मूर्त्तियोंसे है। कारण कि यहाँका संग्रह इस विषयमें अनुपम माना जाता है। अधिकतर मृण्मूर्त्तियाँ कौशाम्बीसे प्राप्त की गई हैं। कौशाम्बी एक समय श्रमण-संस्कृतिकी एक धारा जैन-संस्कृतिका केन्द्र रही है।

भारतीय लोक-जीवनका सर्वांगीण प्रतिबिम्ब, यहाँके कलाकारों द्वारा मृण्मूर्त्तियोंमें अधिक स्पष्ट रूपसे अभिव्यक्त हुआ है। जीवनके साधारणसे साधारण उपकरणपर भी कलाकारोंने ध्यान देकर उन्हें अमरता प्रदान की है। जैन तथा उनके विषयोंको भी मृण्मूर्त्तियों द्वारा प्रकाशित करनेका श्रेय कौशाम्बीके कलाकारोंको ही मिलना चाहिए। प्रयाग-नगर-सभा-संग्रहालयमें बहुसंख्यक मृण्मूर्त्तियाँ हैं, जिनका विषय जैन-कथाएँ हैं, परन्तु जैन-कथा साहित्यकी सार्वत्रिक प्रसिद्धि न होनेसे या एतद्विषयक साधन, प्रान्तीय भाषाओंमें अनूदित न होनेके कारण, विद्वान् लोग इन "मृण्मूर्त्तियों" को देखकर भी न समझ पाते हैं, न चेष्टा ही करते हैं। अच्छा हो कोई दृष्टि-संपन्न जैन विद्वान्, इन विषयोंका अध्ययन कर, तथ्यको प्रकाशमें लावें।

इनकी उपयोगिता केवल श्रमणसंस्कृतिकी दृष्टिसे ही नहीं है अपितु भारतीय मानव समाजके क्रमिक विकासको समझानेके लिए भी है।

पुरातत्त्वकी विस्तृत व्याख्यामें प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वहाँ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ भी दस हजारसे कम संगृहीत नहीं हैं। इनमें एक हजारसे अधिक जैन-ग्रन्थ भी हैं। परन्तु इन समस्त ग्रन्थोंके विवरणात्मक सूचीपत्रके अभावमें मैं समुचित रूपसे ग्रन्थावलोकन न कर सका और न मेरे पास उस समय उतना अवकाश ही था, कि एक-एक पोथीको देख सकता। कुछ एक जैन चित्र भी चित्रशालामें लगे हैं, जिनका संबंध कल्पसूत्र और कालककथासे है। कलाकी दृष्टिसे इनका कोई खास महत्त्व नहीं है। हाँ, मुगल एवं कांगड़ा शैलीके तथा तिब्बतीय बौद्ध चित्रकलाके कुछ अच्छे नमूने अवश्य सुरक्षित हैं।

अवशेष उपलब्धि-स्थान

इतने लम्बे विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन अवशेषोंकी उपलब्धि कहाँसे हुई। पुरातत्त्वका इतिहास जितना रोचक और स्फूर्तिदायक होता है कहीं उससे अधिक और प्रेरणाप्रद इतिहास पुरातत्त्व विषयक साधनोंकी प्राप्तिका होता है। यहाँपर जो कलात्मक प्रतीक अवशिष्ट हैं, वे कहींसे भी एक ही साथ नहीं लाये गये हैं। समय और परिस्थितिके अनुसार सारनाथ, कौशाम्बी आदि नगरोंसे एवं विशेष भाग बुंदेलखंडसे संगृहीत किये गये हैं। एक-एक अवशेष अपनी रोचक कहानी लिये हुए हैं। पं० ब्रजमोहनजी व्यास इन अवशेषोंकी कहानियाँ बड़े रोचक ढंगसे सुनाया करते हैं। बुंदेलखंड सचमुच एक समय कलाका बहुत बड़ा केन्द्र था। प्राचीन कालसे ही बुंदेलखंडने कलाकारोंको आश्रय देकर, भारतीय संस्कृतिकी समस्त धाराओं और सुकुमार भावोंकी रक्षा, कठोर पत्थरों द्वारा की है। कलाकारोंका सम्मान न केवल साम्राज्यवादी शासक ही करते थे, अपितु नागरिकोंने भी बहु-संख्यक प्रतिभा-सम्पन्न

कलाकारोंको, हृदय और मस्तिष्कके अनुकूल वायुमण्डल बनाकर, प्रोत्साहन दिया—खरीदा नहीं। जैन-पुरातत्त्वके इतिहासकी दृष्टिमें बुन्देलखंडका स्थान अति महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन शिल्प-स्थापत्य कलाके उच्चतम प्रतीक एवं विशेषतः जैन मूर्ति-निर्माण-कला तथा उसके विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंके विकासमें यहाँके कलाकारोंने, जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह रस और सौन्दर्यकी दृष्टिसे अनुपम है। खजुराहो और देवगढ़की एक बार कलातीर्थके रूपमें यात्रा की जाय, तो अनुभव हुए बिना न रहेगा कि, उन दिनोंके जैनोंका जीवन कला और सौन्दर्यके रसिक तत्त्वोंसे कितना ओतप्रोत था। जहाँपर एकसे एक सुन्दर भावमय, और उत्प्रेरक शिल्प कृतियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिन्हें देखकर मन सहसा कलाकारका अभिनन्दन करनेको विवश हो जायेगा। खजुराहोका वह शैव मन्दिरवाला शिखर आज बुन्देलखण्डमें विकसित कलाका सर्वोच्च प्रतीक माना जाता है। इसके कलात्मक महत्त्वके पीछे प्रचारात्मक भावनाका बल अधिक है। यद्यपि इनके भी सुन्दर कलापूर्ण जैन मन्दिरोंके शिखर, स्तम्भ और तोरण आदि कई शिल्प कलाके अलंकरण उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे जैन होनेके कारण ही आजतक कलाकारों और समीक्षकों द्वारा उपेक्षित रखे गये हैं। कलाकारोंकी दुनियामें रहनेवाला और सौन्दर्यके तत्त्वोंको आत्म-सात् करनेवाला निरीक्षक यदि कला जैसे अति व्यापक विषयमें पक्षपातकी नीतिसे काम ले, तो इससे बढ़कर और अनर्थ हो ही क्या सकता है?

बुन्देलखण्डके देहातोंमें भी जैन अवशेष बिखरे पड़े हैं। इनको देखकर हृदय रो पड़ता है और सहसा कल्पना हो आती है कि हमारे पूर्वपुरुषोंने तो विशाल धनराशि व्यय कर, कलात्मक प्रतीकोंका सृजन किया और उन्हींकी सन्तान आज ऐसी अयोग्य निकली कि एतद्विषयक नवनिर्माण तो करना दूर रहा, परन्तु जीवनमें स्फूर्ति देनेवाले बचे-खुचे कलावशेषोंकी रक्षा करना तक, असंभव हो रहा है। इस वेदनाका अनुभव तो वही कर सकता है, जो भुक्त-भोगी हो। हमारी असावधानीसे, हमारे पैरों तले

हमारे पूर्वजोंके कीर्तिस्तम्भ रौंदे जाते हैं। कहीं अशिक्षित और कहीं सुशिक्षित जनता द्वारा पुरातत्त्वको बहुत बड़ी और मौलिक सामग्री बुरी तरह क्षत-विक्षत की जा रही है। माननीय व्यासजीसे, यह सुनकर मुझे अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ कि बुन्देलखंडके कुछ ग्रामोंमें जैन और बौद्ध मूर्तियोंके मस्तकों (अन्य देवोंकी अपेक्षा इनके मस्तक कुछ बड़े भी होते हैं) को धड़से पृथक् कर उसे खरादकर कुण्डियाँ (पथरी) बनाईं जाती हैं। उफ़!

उपसंहार—

यहाँपर एक बात कहनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता, वह यह कि भारतीय शिल्प और स्थापत्य कलाका मुसलमानोंने बहुत नाश किया है—इस बातको सभी कलाकारोंने माना है, परन्तु यदि सच कहना अपराध न माना जाय तो, मैं कहूँगा कि जितना नाश मुसलमान न कर सके, उससे कई गुना अधिक हमारी साम्प्रदायिकताने किया है। मुसलमानोंने तो केवल मन्दिरोंको मस्जिदोंमें परिवर्तित किया और कहीं मूर्तियाँ खण्डित कीं, परन्तु पारस्परिक साम्प्रदायिक कालुष्यने तो जैन व बौद्ध आदि मूर्तियों एवं उपांगोंको निर्दयतापूर्वक क्षत-विक्षत किया। इन पंक्तियोंका आधार सुनी-सुनाई बातें नहीं, परन्तु जीवनका अनुभव है। पटना, प्रयाग, नालन्दा आदि कुछ संग्रहालयोंमें श्रमण-संस्कृतिसे सम्बंधित कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिलीं जिनकी नाक जानबूझकर आरियोंसे तराश दी गई हैं। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यहाँपर मैं नगर सभा-संग्रहालयके कार्यकर्त्ताओंका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि वे पुरातन अवशेषोंको अधिकसे अधिक सुरक्षित रखनेके उपाय काममें लावें। जिन सभ्यताके प्रतिनिधि-सम खण्डित प्रतीकोंको पृथ्वी माताने शताब्दियों तक अपनी सुकुमार गोदमें यथास्थित सँभालकर रखा, उन्हें हम विवेकशील मनुष्य अपने ऊपर रक्षाका भार लेकर, अरक्षित छोड़ नष्ट न होने दें। इन पंक्तियोंको मैं विशेषकर इसलिए

लिख रहा हूँ कि वहाँपर जो अवशेष, जिस रूपसे रखे गये हैं, वे न तो कलाभिरुचिके द्योतक हैं और न सुरक्षाकी दृष्टिसे ही समीचीन। स्थानकी सफ़ाईपर ध्यान देना भी आवश्यक है। इतने सुन्दर कलात्मक अवशेषोंको पाकर भी कार्यवाहक-मंडल इन्हें कलातीर्थका रूप न दे सका, तो दोष उनका ही होगा। बिखरे हुए कलात्मक अवशेषोंको एकत्र करना कठिन तो है ही, परन्तु इससे भी कठिनतर काम है उनको सँभालकर सुरक्षित रखने का। यह भी तो एक जीवित कला ही है।

भारतीय स्थापत्य कलाके अनन्य उपासक रायबहादुर श्री ब्रजमोहनजी व्यासको धन्यवाद दिये बिना मेरा कार्य अधूरा ही रह जाता है। कारण, इस संग्रहालयको समृद्ध बनानेमें व्यासजीने जितना रक्तशोषक श्रम किया है, वह शायद ही दूसरा कोई कर सके। आज भी आपमें वही उत्साह और पुरातत्त्वके पीछे पागल रहनेवाली लगनके साथ, औदार्य भी है। आप संस्कृत साहित्यके गहरे अभ्यासी हैं। वैदिक संस्कृतिके परम उपासक होते हुए भी जैन-पुरातत्त्व और साहित्यपर आपका आज भी इतना स्नेह है कि जहाँ कहीं भी कोई चीज मिलनेकी संभावना हो, आप दौड़ पड़ते हैं। वे मुझे बता रहे थे कि आज भी बुंदेलखंडसे दो वैगन भरकर जैन मूर्तियाँ मिल सकती हैं।[1] मुझे आपने जिस आत्मीयतासे तत्रस्थ जैन मूर्तियोंके अध्ययनमें सुविधाएँ दीं; उनको मैं किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ? इस संबंधमें प्रकाशित कुछ चित्र भी उन्हींके द्वारा मुझे प्राप्त हुए हैं। श्री संगमलालजी अग्रवालके पुत्रने अपना समय निकालकर अवशेषोंकी फोटो आदिमें सहायता दी थी, एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ।

२५ अगस्त १९४९]

---

[1] बादमें १९५० में मैंने स्वयं उनके बताये हुए स्थानोंपर भ्रमण कर खंडहरोंका साक्षात्कार किया जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

卐

विन्ध्यभूमि

卐 की 卐

जैन-मूर्तियाँ

卐

विन्ध्य प्रदेशका भूभाग प्राचीन कालसे ही भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलासे सम्पन्न रहा है। भारत एवं विदेशी संग्रहालयोंमें, बहुसंख्यक प्रतीक इसी भूभागसे गये हैं, तो भी आज यहाँकी भूमि सौन्दर्यविहीन नहीं है। भरहुत स्तूप जैसी विश्वविख्यात कलाकृतिका सम्बन्ध इसीसे है, जो आज कलकत्ता और प्रयाग-संग्रहालयकी शोभा है। लोकप्रसिद्ध खजुराहो इसी रत्नगर्भाका एक ज्योति-स्तंभ है, शिल्प-सौन्दर्यका अन्यतम प्रतीक है। एक समय था, जब यहाँ उत्कृष्ट कलाकारोंका—स्थपतियोंका—समादर होता था, शासक एवं शासित दोनों कलाके परम उपासक थे। यहाँकी जनता एवं कलाकारोंने अपनी उत्कृष्ट सौन्दर्यसम्पन्न कलाकृतियोंसे, न केवल इस भूभागको ही मंडित किया, अपितु भारतीय-शिल्पकलाके क्रमिक विकासकी मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर, भारतका सांस्कृतिक गौरव द्विगुणित किया। आज भी भारत इसपर गर्व कर सकता है। पार्थिव सौन्दर्यके तत्वोंकी परम्पराको यहाँकी जनताने सुन्दर रूपसे सँभाले रखा। शुंग, वाकाटक, गुप्त एवं तदुत्तरवर्ती शासकोंके समय यहाँका सांस्कृतिक धरातल प्रतिस्पर्धाकी वस्तु था। ग्राम-ग्राम और पहाड़ियोंपर इतस्ततः फैली हुई प्राचीन मूर्तियाँ, मंदिर एवं तथाकथित शिल्पावशेष, आज भी अपनी गौरव गरिमाका मौन परिचय दे रहे हैं। विन्ध्यभूमिके अवशेष कलाकारोंकी उदात्त भावधारा, व्यापक चिन्तन एवं गम्भीरताके परिचायक हैं। यहाँके कलाकार कोरे भावुक न थे, एवं न आध्यात्मिक कृतियोंके सृजन तक ही सीमित थे, अपितु उनने तात्कालिक लोकजीवनके विशिष्ट अंगोंको पत्थरपर कुशल करों द्वारा उत्खनन कर, समाजकी त्रिकालात्मक परम्पराको अक्षुण्ण रखा। कल्पनाके बलपर उन्होंने एक प्रकारसे जनताका नैतिक इतिहास, छैनीसे, मौन रेखाओंद्वारा खचित किया। शताब्दियों तक सांस्कृतिक विचारधाराको अपनी दीर्घ साधनासे सुरक्षित रखा। उनकी कल्पना शक्ति, शिल्पवैविध्य,

सुललित अंकन, शारीरिक गठन एवं उत्प्रेरक तत्त्व आज भी टूटी-फूटी कलाकृतियोंमें परिलक्षित होते हैं। अतः निःसंकोच भावसे कहा जा सकता है कि भारतीय शिल्प-कलाका अध्ययन तब ही पूर्ण हो सकेगा, जब यहाँके अवशेषोंपर, जो आज भी अपेक्षाकृत पर्याप्त उपेक्षित हैं, गंभीर दृष्टि डाली जाय। विन्ध्य-भूमिके कलावशेष मौनवाणीसे कह रहे हैं कि कला, कलाके लिए ही नहीं अपितु जीवनके लिए भी है। यहाँ प्राकृतिक स्थानोंकी बहुलता होनेसे संस्कृति-प्रकृति और कला, त्रिवेणीकी कल्पना साकार हो उठती है।

जैन पुरातत्त्व

विवक्षित भूभागका प्राचीन कलावैभव भरहुत स्तूपमें परिलक्षित होता है। यही स्तूप प्रान्तका सर्वप्राचीन कलादीप है। घटनासूचक लेख होनेसे इसका महत्त्व कलाके साथ इतिहासकी दृष्टिसे भी है। भारतीय लोककलाका यह उच्चतम प्रतीक है। शुंगवंशके बाद भारशिव, जो परम शैव थे, शासक हुए। भूमरा जानेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। वहाँके अवशेष और नागौद राज्यसे पाये गये प्रतीक उपर्युक्त पंक्तिकी सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रसंगमें नचना और लखुरबाग भी उपेक्षणीय नहीं, जहाँ शैव संस्कृतिके ढेर अवशेष आज भी प्राप्त किये जा सकते हैं। ये स्थान भयंकर जंगल और पहाड़ियोंपर हैं। दिनको भी वनचरोंका भय बना रहता है। गुप्तोंके समयमें शिवपूजाका प्रचार काफ़ी रहा। बादमें जैन पुरातत्त्वका स्थान आता है। प्रमाणोंके अभावमें निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक संवत्में जैन संस्कृतिका इस ओर प्रचार प्रारम्भ हुआ, परन्तु प्राप्त जैनमूर्तियों और देवगढ़के मंदिरोंपरसे इतनी कल्पना तो की ही जा सकती है कि गुप्तोंके समयमें जैनोंका आगमन इस ओर हो गया था। जैनाचार्य हरिगुप्त, जो तोरमाणके गुरु थे, इसी प्रान्तके निवासी थे। प्राकृत साहित्यकी कुछेक कथाएँ भी इसका समर्थन करती हैं।

आज विन्ध्यप्रदेशमें जहाँ कहींपर भी खंडहरोंमें जाकर देखें तो, वहाँ जैन अवशेष अवश्य ही दृष्टिगोचर होंगे, भले ही वहाँ जैनी न बसते हों। गत वर्ष मैंने स्वयं भ्रमण कर, अनुभव किया है। नदी तीर, जलाशय, कूप एवं वापिकाओं तकमें जैनमूर्तियाँ उपेक्षित-सी पड़ी हैं। मकानोंकी दीवालों में तो मूर्तियोंका रहना आंशिक रूपसे क्षम्य हो भी सकता है, पर मैंने दर्जनों मूर्तियाँ सीढ़ियों और पाखानोंमेंसे निकलवाई हैं। यह साम्प्रदायिक दूषित मनोभावोंका प्रदर्शन मात्र है। पचासों स्थानपर जैन मूर्तियाँ "खैरमाई" के रूपमें पूजी जाती हैं। जसो, मैहर, उचहरा और रीवांमें मैंने स्वयं इस प्रकार उन्हें अर्चित देखा है। आज प्रयाग-संग्रहालयमें जितनी भी जैन प्रतिमाएँ हैं, उनमेंसे बहुत बड़ा भाग विन्ध्यप्रान्तसे प्राप्त किया गया है। जसोमें तालाबके किनारे एक हाथी मर गया, जहाँ उसे गाड़ा गया, वहाँ कुछ गढ़ा रिक्त रह गया, तब जैन मूर्तियोंसे उसकी पूर्ति की गई। जसो जैन मूर्तियोंका नगर है। जहाँ खोदें वहीं मूर्ति। यह हाल सारे प्रान्तका है। कई सुन्दर जैन मन्दिर भी अवश्य ही रहे होंगे, कारण कि तोरणद्वारके जैन अवशेष और मानस्तंभ तो मिलते ही हैं। मन्दिर न मिलनेका केवल यही कारण पर्याप्त नहीं हैं कि वे गिर पड़े, परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है, जहाँ जैन थे वहाँ तो मन्दिर सुरक्षित रहे, जहाँ न थे वहाँ मूर्ति बाहर फेंक दी और ये अजैनोंके अधिकृत हो गये। एक दर्जन स्थान मैंने स्वयं ऐसे देखे हैं। वहाँकी जनता भी स्वयं स्वीकार करती है।

यहाँपर मैं एक बातका स्पष्टीकरण कर दूँ कि मैं सम्पूर्ण विन्ध्यप्रान्तमें नहीं घूमा हूँ, अतः जिन अवशेषोंको मैंने स्वयं देखा, समझा, उन्हींके आधार-पर विचार उपस्थित कर रहा हूँ। हाँ, इतनी सामग्रीसे मेरा विश्वास अवश्य मज़बूत हो गया है कि यदि केवल कलात्मक अवशेषोंकी गवेषणाके लिए ही विन्ध्यप्रान्तका भ्रमण किया जाय तो निःस्सन्देह जैन शिल्पस्थापत्य कलाके अनेक अश्रुतपूर्व भव्य प्रतीक प्राप्त किये जा सकते हैं। बहुत स्थानोंसे मुझे सूचनाएँ मिली थीं कि वहाँ बहुत कुछ जैन सामग्री है। पर

पैदल चलनेवाला आखिरमें इतने विस्तृत भूभागपर कहाँतक चक्कर काट सकता है, वह भी सीमित समयमें। मैंने तो केवल सतना और रीवां ज़िलेके स्थान ही देखे हैं, जो मेरे मार्गमें थे। देवतलाब, मऊ, प्योहारी, गुर्गी, नागौद, जसो, लखुरबाग, नचना, उचहरा, मैहर आदि प्रधान स्थान एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानोंके अवशेष इस बातकी साक्षी दे रहे हैं, कि एक समय उपर्युक्त भूभाग जैनोंके बड़े केन्द्र रहे होंगे। १२-१२ हाथकी दर्जनों बड़ी मूर्तियोंका मिलना, सैकड़ों जैन मन्दिरोंके तोरणद्वार एवं मूर्तियोंकी प्राप्ति, उपर्युक्त बातकी ओर गम्भीर संकेत करती हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि मध्यकालीन जैनसंस्कृति और कलाके केन्द्रकी घोर उपेक्षा हो रही है। आश्चर्य तो इस बातका है कि इस ओर जैनोंकी संख्या भी सापेक्षतः कम नहीं है। सच बात तो यह है कि उनकी इस ओर रुचि नहीं है। दुर्भाग्यसे भावुक मानसमें एक बात घर कर गई है कि टूटी मूर्ति देखना अपशकुन है।

मेरा विषय यहाँपर अत्यन्त सीमित है, यानी रीवाँ, रामवन, जसो, उचहरा, मैहर आदि स्थानोंके जैन अवशेषोंका परिचय कराना। परन्तु इतः पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि विन्ध्यप्रान्तीय जैन पुरातत्त्वकी अपनी मौलिक विशेषताएँ क्या-क्या हैं? किस कलासे कितना जैन कलाकारोंने लिया? एवं चलती आई परम्पराको निर्वाह करते हुए सामयिक परिवर्तन कौन-कौनसे और कैसे किये? मैं मानता हूँ कि—जैन मूर्तियोंकी मुद्रा निर्द्धारित है, उसमें सामयिक परिवर्तन कैसा? परन्तु यह देखा गया है कि कलाकार हमेशा प्रगतिका साथी होता है, युगकी शक्तिको देखकर उसे मोड़ता है, तभी उसकी कृतियाँ प्राचीन होते हुए, आज भी हमें नूतन लगती हैं। सामयिक उचित परिवर्तन सर्वत्र अपेक्षित है।

कुछ विशेषताएँ—

ऊपर सूचित भूभागकी जितनी भी जैन मूर्तियाँ स्वतन्त्र या तोरणद्वारमें पाई जाती हैं, प्रायः सभी अष्टप्रातिहार्य युक्त ही होती हैं, भले ही

वे कितनी ही लघुतम क्यों न हों। प्रत्येक प्रतिमामें दाईं-बाईं क्रमशः यक्ष-यक्षिणी एवं श्रावक-श्राविकाका अंकन अवश्य ही होगा, जब कि अन्य प्रान्तकी बहुत-सी ऐसी प्रतिमाएँ मिलेंगी, जिनमें यक्ष-यक्षीका अभाव पाया जायगा। विन्ध्यके कलाकार इस बातमें बहुत सजग थे। ३०० से अधिक मूर्तियाँ मैंने देखीं, सभीमें उक्त नियम स्पष्ट परिलक्षित होता आया है। दूसरी देन स्वतन्त्र आसनकी है, अन्य प्रान्तकी मूर्तियोंका आसन प्रायः कमलकी आकृतिसे खचित या प्लेन रहता है। पर विन्ध्यका आसन उन सबमें अलग ही निखर उठता है। विन्ध्यमूर्तिका निम्न भाग ऐसा होता है—दोनों ओर मंगलमुख-सशरीर होते हैं। इनके मस्तकपर एक चौकीनुमा भाग होता है। दो स्तम्भ एवं किनार, तदुपरि अग्र भागमें बारीक खुदाईको लिये हुए लटकता हुआ वस्त्र-छोर, ऊपर गद्दी जैसा चौड़ा ऊँचा आसन, इसपर मूर्ति दृष्टिगोचर होगी, ऐसा आसन महाकोसल और विन्ध्यप्रदेशको छोड़कर अन्यत्र न मिलेगा। तीसरी विशेषता यह भी दृष्टिगोचर हुई, जिसका उल्लेख शिल्प या वास्तु ग्रंथोंमें नहीं है, पर कलाकारोंने प्रभावमें आकर अंकन कर दिया प्रतीत होता है जो स्वाभाविक भी जान पड़ता है। यद्यपि वह विशेषता उतनी व्यापक नहीं है। नागौद और जसोमें मैंने १२ प्रतिमाएँ ऐसी देखीं जिनका परिकर उनके जीवनके विशिष्ट प्रसंगोंसे भरा पड़ा है। भगवान् ऋषभदेवके पुत्रोंका राज्यविभाजन, दीक्षाप्रसंग, भरत-बाहुबलीयुद्ध आदि। महावीर स्वामीकी प्रतिमामें कुछेक पूर्वभव और दीक्षा-प्रसंग अंकित है। ये दोनों अपने ढंगका अन्यतम एवं अश्रुतपूर्व हैं। दशावतारी विष्णु और शिवजीकी ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं। कलाकारने इनका अनुसरण किया ज्ञात होता है। अन्यत्र आबू आदि जैन मन्दिरोंमें तो तीर्थंकरोंके पूर्वजीवनके वैराग्योत्प्रेरक भावोंका अंकन पाया जाता है, पर परिकरमें कहीं सुना नहीं गया। इस ओरकी अधिकतर प्रतिमाएँ ऐसी मिलेंगी, जिनपर सम्पूर्ण शिखरकी आकृति बनी रहती है। जगतीसे लगाकर कलशतक सकल अलंकृत रहता है। तोरणद्वारोंवाली

आकृतियाँ भी इनसे मेल खाती हैं। शिखर नागर शैलीके मिलते हैं, यह शैली भारशिवों द्वारा आविष्कृत हुई है।

यक्षिणोका व्यापक रूप

शासनदेवियोंमें पद्मावती, अम्बिका और चक्रेश्वरीकी मान्यता सर्वत्र प्रधान रूपसे प्रसृत है। पर इस ओर तो सभी तीर्थंकरकी यक्षिणीका स्वतन्त्र अंकन साधारण बात थी। अम्बिका और चक्रेश्वरीके, यहाँकी मूर्तिकलामें, कई रूप मिलते हैं। चक्रेश्वरीकी बैठी और खड़ी कई प्रकारकी स्वतंत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। स्वतंत्र मंदिर तो इसी ओरकी देन हैं। अम्बिकाका व्यापक व्यक्तित्व जितना यहाँके कलाकार चित्रित कर सके हैं, शायद अन्यत्र न मिले। एक ही अम्बिकाके ३-४ रूप मिलते हैं। प्रथम तो सामान्य रूप जैसा परिकरमें उत्कीर्णित रहता है। दूसरा प्रकार शुंगकालीन कलाका स्मरण दिलाता है। मथुराके अवशेषोंमें इसकी अभिव्यक्तिका पता लगाया जा सकता है। आम्रवृक्षकी छायामें गोमेधयक्ष और यक्षिणी अम्बिका बालकोंको लिये क्रमशः दायीं बायीं ओर अवस्थित हैं। वृक्षपर भगवान् नेमिनाथ पद्मासनमें हैं। निम्न भागमें राजुल भी प्रभुके प्रशस्त पथका अनुकरण करती हुई बताई है। जसोसे प्राप्त प्रतिमामें भी एक नग्न स्त्री वृक्षपर चढ़नेका प्रयास करती हुई बताई है, उनका मुख ऊपरवाली मूर्तिकी ओर है, सतृष्ण नेत्रोंसे देख रही है, मानो प्रभुके चरणोंमें जानेको उत्सुक हो। इस प्रकारकी मूर्तियाँ विन्ध्यभूमिके अतिरिक्त तन्निकटवर्ती महाकोसलके त्रिपुरी, गढ़ा, पनागर, बिलहरी और कारीतराई आदि स्थानोंमें भी मिलती हैं। इस शैलीका प्रादुर्भाव कुषाणकालमें हो चुका था, जैसा कि मथुरा और कौशाम्बीके जैन अवशेषोंसे सिद्ध होता है। विन्ध्य-कलाकारोंने इसमें सामयिक परिवर्तन किये। अम्बिकाका तृतीय रूप प्रस्तुत निबन्धमें ही वर्णित है। उच्चकल्प-उचहराके खंडहरोंमें एक रूप और देखा जो विचित्रताको लिये हुए है। ४०×२६ इंचकी शिलापर

एक सघन फल सहित आम्रवृक्ष उत्कीर्णित है। देवी अम्बिका इसकी डालपर बैठी है। निम्न स्थानमें पूँछ फटकारता हुआ सिंह, तनकर खड़ा है। सर्वोच्च भागमें भगवान् नेमिनाथ पद्मासनमें हैं। दोनों ओर एक-एक खड्गासन भी है। केवल अम्बिका, पद्मावती या चक्रेश्वरीके मस्तकपर क्रमशः नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और युगादिदेव तो प्रायः सर्वत्र ही मिलते हैं।

पाठक देखेंगे कलाकार जैन वास्तुशास्त्रकी रक्षा करते हुए, सामयिक परिवर्तन करते गये हैं।

शैवप्रभाव

यक्ष और यक्षिणियोंकी प्रतिमाओंपर शैवकलाकृतियोंका आंशिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ शुंग कालसे ही उनका प्रचार था, बादमें उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। भारशिवोंके समयमें तो वह मध्याह्नमें था, अतः कलात्मक परम्पराका प्रभाव कलाकारोंपर कैसे नहीं पड़ता? शिवजीके जटा-जूटका अंकन यहाँके यक्षोंके मस्तकपर भी पड़ा। जितनी यक्ष मूर्तियाँ (परिकरान्तर्गत) हैं उनके मस्तककी जटा और गुंथा हुआ रूप इसका द्योतक है। भगवान् ऋषभदेवकी जटा यहाँकी प्रतिमाओंमें और ढंगकी मिलती है—पूरा मस्तक जटासे आच्छादित रहता है, कुछ भाग उठा हुआ भी मिलता है। मुकुट भी इसका विस्तृत कलात्मक संस्करण है। यह शैव संस्कृतिकी देन है। इस विषयपर मैं अन्यत्र काफ़ी लिख चुका हूँ।

तोरणद्वार

मूर्तियोंके अतिरिक्त इस ओर तोरणद्वार भी काफ़ी परिमाणमें मिलते हैं। खजुराहो, नचना, अजयगढ़, गुर्गी, रीवाँ, जसो और उच्चकल्प—उच्चहरामें अनेकों कलापूर्ण, विविध रेखाओंसे अंकित जैनतोरण मिले हैं। इनमें तीन प्रतिमाएँ 'जिन'की होती हैं और शेष भागमें कीर्तिमुख आदि रेखाएँ। किसी-किसीमें जैन तीर्थंकरोंके अभिषेकके दृश्य भी देखनेमें आये।

कुछेकमें गोमटस्वामीकी प्रतिमा भी। मुख्यतः इसमें यक्षिणियाँ ही रहती हैं। प्रयाग-संग्रहालयमें भी एक दो तोरण हैं, जो विन्ध्य-भूमिसे ही गये थे।

मानस्तम्भ

अन्य जैनकलावशेषोंके साथ मानस्तम्भ भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध हैं। रीवाँमें मानस्तम्भका उपरिमभाग अवस्थित है, जिसका शब्द-चित्र इसी निबन्धमें आगे दिया गया है। कुछेक मानस्तम्भ जसोमें मुसलमानोंकी बस्तीमें पड़े हुए हैं। इस ऊपरके भागमें सशिखर चतुर्मुख जिन रहते हैं। लाटके अग्र भागपर विविध रेखाएँ उत्कीर्णित रहती हैं।

उचहरावाले स्तंभपर तो विस्तृत लेख भी खुदा है। पर देहातियों द्वारा शस्त्र पनारनेसे यह घिस गया है। परिश्रमसे केवल "सरस्वतीगच्छ" "कुन्दकुन्दान्वये" और "आशाधर" यही शब्द पढ़े गये। हाँ, लिपिसे अनुमान होता है, इसकी आयु ७०० वर्षकी होगी। यह आशधर यदि आशाधर हों तो उनका आगमन इस ओर भी प्रमाणित हो जायगा। गुर्गी और प्यौहारीके निर्जन स्थानोंमें जैन स्तंभ प्रचुर-मात्रामें मिल सकते हैं, जैसा कि श्री अथानअली सा० के कथनसे ज्ञात होता है। ये रीवाँ पुरातत्त्व विभागके अध्यक्ष हैं।

रीवाँके जैन अवशेष

रीवाँ, विन्ध्यभूमिकी वर्त्तमान राजधानी है। पुरातन शिल्पावशेषोंकी भी इतनी प्रचुरता है कि २० लारियाँ एक दिनमें भरी जा सकती हैं। पर यहाँ उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, तभी तो अत्युच्च कलात्मक प्रतीक योंही दैनन्दिन नष्ट हुए जा रहे हैं। रीवाँके बाज़ारसे क़िलेकी ओर जानेवाले मार्गपर बहुत कम ऐसे गृह मिलेंगे जिनपर पुरातत्त्वके अवशेप न जड़े हों, या मार्गमें न पड़े हों। राजमहलमें भी कुछ अवशेष हैं। तात्कालिक शिक्षा-सचिव श्रीयुत तनखा साहबका ध्यान मैंने इस ओर आकृष्ट किया था, पर अधिक सफलता न मिल

थकी, कारण कि उन दिनों रीवाँपर राजनैतिक बादल मँडरा रहे थे।

रीवाँ-राज्यमें इतने पुरातन अवशेष उपलब्ध हुए हैं कि उनसे कई नये मन्दिर बन गये। रीवाँका लक्ष्मणबागवाला नूतन मंदिर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। वहाँके महन्तने गुर्गीके कलापूर्ण अवशेषोंको मँगवाकर, आवश्यकतानुसार तुड़वाकर, स्वतंत्र मन्दिर अभी ही बना लिया है। इनमें जैन अवशेषोंकी सामग्री भी मैंने प्रत्यक्ष देखी। प्राचीन कलाका इतना व्यापक ध्वंस होनेके बावजूद भी, भारत सरकारका पुरातत्त्व विभाग मौन सेवन कर रहा है। रीवाँ-राज्यके बचे-खुचे अवशेष मौलवी अयाज़अली द्वारा "व्यंकट विद्यासदन"में पहुँच गये हैं और सापेक्षतः सुरक्षित भी हैं। उपर्युक्त सदन साधारणतः पुरातन अवशेषोंका केन्द्र बन गया है। इसमें कई ताम्रपत्र, शिलोत्कीर्णित लेख, प्राचीन मूर्तियाँ, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ एवं शस्त्रास्त्रोंका अच्छा संग्रह है। जैन मूर्तियोंकी संख्या भी पर्याप्त है। पर अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण सभीपर जो लेबिल लगे हैं, वे इन्हें बौद्ध ही घोषित करते हैं। स्वतन्त्र भारतके अजायबघरमें ऐसे क्यूरेटर न होने चाहिए जो स्वयं वहाँके योग्य न हों। उन्होंने मेरे कहनेसे परिवर्तन तो कर दिया पर अजैन सैकड़ों अवशेषोंपर ग़लत नाम लगे हैं। उदाहरण स्वरूप नृसिंहावतारको "सिंहेश्वर देव" फणयुक्त पार्श्वनाथको— "सर्पेश्वर देव" आदि।

रीवाँ संग्रहालयके जैन अवशेष इस प्रकार हैं—

संख्या ४—की मूर्ति २७ इंच लम्बी १६ इंच चौड़ी प्रस्तरकी शिलापर भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा अर्द्धपद्मासनस्थ अंकित है, मस्तकपर धुँघरवाले केशों आकृति कलाकारने बतलाई है। लम्ब कर्ण, गलेकी रेखाएँ प्रेक्षकको आकृष्ट कर लेती हैं, छातीपर छोटी-मोटी टाँकीकी मार दिखाई पड़ती है। मुख पूर्णतः खंडित तो नहीं है, पर इस प्रकारसे वर्षरित हो गया है कि किसी भी प्रकारके भावोंकी कल्पना नहीं की जा

सकती है। हाथोंकी कुछ उँगलियाँ भी खंडित व दक्षिण चरण भी खंडित है। आकृतिसे अनुमान यही होता है कि खुदाई करते समय टूट गये होंगे। प्रतिमाके मस्तक पर सप्तफण युक्त नाग है। फणें सभी टूट गई हैं। कलाकारने सर्पाकृतिको बैठकके नीचेसे शुरू की है, क्योंकि लांछनके स्थानपर पूँछका भाग बहुत ही स्पष्ट है। जिस आसनपर प्रतिमा विराजमान है, वह चौकीका स्मरण कराता है, उभय भागमें पार्श्वद हैं, जिनके मुख खंडित हैं। उभय भाग पार्श्वद कमल एवं लम्बे चँमर लिये खड़े हैं। तदुपरि दोनों ओर देव देवी पुष्पमाला लिये एवं नमस्कारात्मक मुद्रामें बतलाये गये हैं। तदुपरि दोनों हस्ती इस प्रकारसे शूँड़ मिलाये खड़े हैं, मानो इन्हींकी शूँड़ोंपर मध्य भागका छत्र आधृत हो। निम्न भागमें उभय ओर ग्राह ऐसे बताये हैं कि उनके मस्तकपर ही सारी प्रतिमाका भार लदा है। दोनों ग्राहोंके बीच पद्मावतीकी छोटी मूर्ति अंकित है। प्रतिमाका निर्माण काल १२वीं शताब्दीके पूर्व तथा १३वीं शताब्दीके बादका नहीं हो सकता। पत्थर साधारण है। प्रस्तुत प्रतिमापर परिचयपत्र है, जिसमें यह बुद्ध भगवान्‌की प्रतिमा कही गई है।

संख्या ५—लम्बी ५६ इंच चौड़ी २६ इंच है। यह प्रतिमा जैन मूर्ति-कलाका सुन्दर प्रतीक है। अन्य मूर्तियोंकी अपेक्षा भिन्न भी है। कमसे कम मेरी दृष्टिमें ऐसी मूर्ति आजतक नहीं आई। कलाकी दृष्टिसे तो अनुपम है ही, साथ-ही-साथ प्रतिमा-विधानकी दृष्टिसे भी विलक्षण है। शब्द-चित्र इस प्रकार है—

ऊपर सूचित विस्तृत पत्थरशिलाके मध्य भागमें जिनप्रतिमा उत्कीर्णित है। मस्तकपरके बाल आदि चिह्न संख्या ४ वाली मूर्तिके अनुरूप होते हुए भी पालिस होनेके कारण वह सुन्दर जान पड़ती है। पार्श्वद कलात्मक ढंगसे खड़े किये गये हैं, उनका मस्तकपरका केशविन्यास प्रेक्षणीय है। और तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंमें पार्श्वद जिस प्रकार खड़े किये जाते हैं, उनमें और इनमें थोड़ा अन्तर है। इस परिवर्तनमें पार्श्वद बिलकुल तीर्थंकरके सामने

इस प्रकार मुखमुद्रा बनाये हुए खड़े हैं, मानो वे सेवाके लिए तत्पर हों। भाव भंगिमा भक्तिके अनुरूप है। पार्श्वदके पिछले हिस्सेमें बैठा हुआ हंस्ती आवेशमें आकर, इस प्रकार अपनी शूँड़ ऊँची किये हुए है और ग्राहके पूँछको दबाये हुए है, मानो शूँड़के बलपर ही वह खड़ा है। खास करके शेरका शारीरिक चित्र इस प्रकार खींचा है, कि मानो वह हाथी शूँड़ शिथिल होते ही गिर पड़ेगा। मूर्ति अर्द्धपद्मासनस्थ है। हाथ और चरणका कुछ भाग खंडित है। इस मूर्तिका आसन भी कुछ अनोखेपनको लिये है और जितनी भी प्रतिमाएँ मैंने देखीं उन सभीका आसन उतना चौड़ा है जितनेमें वह पलथी मारकर बैठ सके, परन्तु इसका आसन ऐसा बना है मानो वह टिकनेके स्थानसे, अतिरिक्त स्थान चाहती ही न हो। अर्थात् दोनों ओरके घुटने आसनसे काफ़ी आगे निकले हुए हैं। आसनकी बनावट भी और प्रतिमाओंसे अधिक सौन्दर्यसम्पन्न है। इसके निर्माणमें कलाकारने तीन भाव बताये हैं। प्रथम—एक चौकी निम्न भागके विशाल ग्राहके सरपर आधृत बताई है, साथ-ही-साथ ग्राहकी गर्दनके पास दो छोटे स्तम्भ भी बना दिये गये हैं, जो ऊपरकी चौकीको थामे हुए हैं। चौकीके अगले भागपर साधारण रेखाएँ हैं। इसके ऊपर एक वस्त्र छिपा हुआ है, जिसका अग्र भाग दो स्तम्भोंके बीच सुशोभित है। वस्त्रकी उठी हुई विभिन्न रेखाएँ इस बातकी कल्पना कराती हैं कि ज़री या किसीसे भरा हुआ है। मध्यमें शंखका चिह्न स्पष्ट है। इसी वस्त्रके ऊपर दो इंच मोटी गद्दी जैसा आकार बना है इसीपर मूल प्रतिमा विराजमान है। इस प्रकारके आसनकी कल्पना बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। अब प्रतिमाके दोनों ओर जो विचित्र मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं, उन्हें भी देखें। दाईं ओर निम्नभागमें एक महिला हाथ जोड़े वन्दना कर रही है। महिलाका मुख बहुत चपटा बनाकर कलाकारने न्याय नहीं किया। बाजूबन्द आदि आभूषणोंके साथ सुन्दर नागावली बनी हुई है। केश-विन्यास १२वीं शताब्दीके अन्यावशेषोंसे मिलता-जुलता है। इस मूर्तिके ऊपर एक खंडित

प्रतिमा अवस्थित है। इसका पेट आवश्यकतासे अधिक फूला हुआ है। गलेमें आभूषण, कटिप्रदेशमें संकल एवं बाएँ हाथमें सर्प दिखलाई पड़ते हैं। मस्तकका पूर्ण भाग तथा दाएँ हाथ और पैरका भाग खंडित है। यह मूर्ति निःसन्देह कुवेरकी ही होनी चाहिए। कारण कि कुवेरकी इस प्रकारकी प्रतिमाएँ अन्य जैन मूर्तियोंमें दिखाई पड़ती हैं। मूल नेमिनाथ भगवान्की प्रतिमामें दोनों स्कन्धप्रदेशोंके निकटवर्ती भागमें आकाशमें उमड़ते हुए गन्धर्व पुष्पमाला लिये उठे हुए बतलाये गये हैं। तदुपरि दोनों ओर अन्य मूर्तियोंके अनुसार हाथी खड़े हुए हैं, जो मध्यवर्ती छत्रको थामे हुए होंगे। छत्रका भाग खंडित है, केवल दंड दिखलाई पड़ता है। दोनों हाथियोंके पीछे क़रीब ६, ६ इंचकी खड्गासनमें जिनप्रतिमा खुदी हुई है। दायीं ओर तो किसी तीर्थंकरकी मूर्ति लगती है, परन्तु इस प्रकारकी बायीं ओर जो मूर्ति है, वह आकृतिमें कुछ अधिक लम्बी है। हाथ घुटनेतक लगे हैं। प्रतिमाके शरीरके उभय भागमें दो रेखाएँ एवं हाथोंमें भी कुछ रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं। जहाँतक मेरा अनुमान है, यह मूर्ति बाहुबली[1] स्वामीकी ही होनी चाहिए। कारण कि दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें इसका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। दूसरा यह भी कारण दिखलाई पड़ता है, कि उपर्युक्त मूर्ति तीर्थंकरकी तो हो ही नहीं सकती, कारण २४ ही के हिसाबसे भी वह अलग पड़ जाती है। जैसे कि नेमिनाथ भगवान्को छोड़कर अतिरिक्त २३ जिन-मूर्तियाँ और खुदी हैं। हाथी और छत्रके ऊपरके भागमें पंक्तियोंमें पद्मासनस्थ जैन-मूर्तियाँ हैं। छत्रके उभय ओर ३, ३ और ऊपरकी दो पंक्तियाँ ८, ८ मूल प्रतिमाके मस्तकके पश्चात्

---

[1] महाकोसलमें भी दर्जनों ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें गोम्मट स्वामीका अंकन पाया जाता है। उन दिनों यात्राकी कठिनाइयोंके कारण भक्तगण अपनी भक्तिके निमित्त किसी भी तीर्थंकरकी प्रतिमाके परिकरमें बाहुबली स्वामीका प्रतीक खुदवा लेते होंगे।

भागमें प्रभावलीके स्थानपर सुन्दर खुदाईका काम पाया जाता है। अब हम बाह्य भागकी पार्श्वस्थ मूर्तिको भी देख लें। निम्न भागसे मूल प्रतिमाके घुटनेतक १६॥ इंचकी एक स्त्रीमूर्ति खुदी है। यह मूर्ति, मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे बहुत ही सुडौल और आकर्षक बनी है। मस्तकपर एक वृक्ष बताकर कलाकारने यह साबित करनेकी कोशिश की है कि प्रतिमा किसी वृक्षकी छायामें खड़ी है। वृक्षका बायाँ भाग एवं मूर्तिका बायाँ भाग खंडित है। स्त्री-मूर्तिका केशविन्यास मस्तकपर बँधा हुआ है। गलेमें मालाएँ एवं कटिप्रदेश विभिन्न अलंकरणोंसे अलंकृत है। नाभिप्रदेश बहुत स्पष्ट है। कलाकारने इस प्रतिमाका निर्माण ऐसे मनोयोगसे किया है कि वह साक्षात् स्त्री हीका आभास कराती है। प्रतिमाका खड़े रहनेका ढंग, ऊँचेसे कमर तक सीधा, बायाँ पैर आगे और कटिप्रदेश बाईं ओर झुकनेके कारण स्तन एवं कटिप्रदेशके मध्य भागमें रेखाएँ पड़ गईं हैं। मूर्तिके दाहिने हाथमें आम्रलुम्ब है, परन्तु बायें हाथमें क्या था, यह नहीं कहा जा सकता। दायें चरणके निम्नभागमें एक बालक हाथमें मोदक लिये बैठा है। बायें चरणके पास भी एक आकृति ऐसी दिखाई पड़ती है, जो बालककी प्रतिमा ज्ञात होती है, क्योंकि बालकके कटिप्रदेशका पृष्ठभाग बहुत स्पष्ट है। मालूम पड़ता है, वह माँसे खेल रहा हो, इस मूर्तिके निम्न भागमें आवेशयुक्त मुद्रामें शेर पूँछ उठाकर बैठा है, और एक स्त्री सामने हाथ जोड़े नमस्कार कर रही है, यद्यपि शेरके सामनेवाला भाग बहुत छोटा-सा और कुछ अस्पष्ट है, परन्तु केशविन्यास और स्तनप्रदेश बहुत स्पष्ट है। इन पंक्तियोंसे पाठक समझ ही गये होंगे कि उपर्युक्त वृक्षकी छायामें खड़ी हुई मूर्ति अम्बिकाकी ही है। वृक्ष आम्रका है, आम्रलुम्ब स्पष्ट है। दो बालक और सिंह, ये समस्त उपकरण अम्बिकाको ही सिद्ध करते हैं। अम्बिकाकी मूर्तियाँ स्वतन्त्र और परिकरोंमें बहुत-सी दृष्टिगोचर हुई हैं, परन्तु इस प्रकारकी प्रतिमा अद्यावधि मेरे अवलोकनमें नहीं आई। सम्पूर्ण प्रतिमा

शिल्पकलाकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही साथ जैनमूर्ति विधानकी दृष्टिसे भी विविधताको लिये हुए है। इतने विवेचनके बाद प्रश्न रह जाता है कि इस मूर्तिका निर्माणकाल क्या हो सकता है? क्योंकि निर्माता और निर्मापकने इसके निर्माणकालके सम्बन्धमें कुछ भी सूचित नहीं किया, तथापि अन्यान्य साधन और उपकरणोंसे इसका काल १२ वीं सदीके पूर्व और १३ वीं सदीके बादका नहीं मालूम पड़ता, प्रथम कारण तो यह है कि मूर्तिका आसन एवं विभिन्न देव गन्धर्व आदि जो आभूषण पहने हुए हैं, वे सभी उपर्युक्त सूचित समयके अन्य अवशेषोंमें दिखलाई पड़ते हैं। उसके केशविन्यास भी लगभग इसी समयके हैं, और दूसरा कारण यह कि इसमें कुवेरकी मूर्ति दिखलाई गई है, यह १३वीं शताब्दीतककी जैन मूर्तियोंमें ही पाई जाती है, बादकी बहुत कम ऐसी मूर्तियाँ मिलेंगी, जिनमें कुवेरका अस्तित्व हो। अम्बिकाका जैसा रूप इस मूर्तिमें व्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र भी जैसे खजुराहो, देवगढ़ आदिकी मूर्तियोंमें पाया जाता है। उन मूर्तियोंमें इस टाइपकी अम्बिकावाली मूर्तियोंका काल १२से १३ वीं शताब्दीका मध्य भाग पड़ता है। यह अम्बिकाका रूप दिगम्बर जैन शिल्पग्रन्थोंके अनुसार ही है। मूर्तिमें व्यवहृत पाषाण भी १२, १३वीं सदीकी शिल्पकृतियोंका है। मूर्तिके आसनके निम्न भागमें दो स्तम्भ दिखाई पड़ते हैं, वे भी काल निर्णयमें बहुत सहायता करते हैं। १२वीं से १४वीं सदीके बुन्देल और बघेलखंडके मन्दिरोंके स्तम्भ जिन्होंने देखे होंगे, वे कह सकते हैं कि इस प्रतिमामें व्यपहृत स्तम्भ भी हमारे ही कालके सूचक हैं। पाषाण भी कुछ ललाईको लिये हुए हैं, जैसा कि खजुराहो, देवगढ़ आदि के शिल्पमें पाया जाता है।

संख्या ६—की जैन प्रतिमाकी सम्पूर्ण आकृति देखनेसे ज्ञात होता है कि वह किसी जैन मन्दिरके गवाक्षमें रही होगी क्योंकि दोनों ओर खम्भे, तत्पश्चात् पार्श्वद, मध्यमें खड़ी नग्न जैन मूर्ति, दाईं ओर पुष्पमाला लिये गन्धर्व, बायाँ भाग काफ़ी खंडित है। समय १५ वीं सदीका ज्ञात

होता है। यह मूर्ति मस्तकविहीन है। लम्बाई १५ इंच चौड़ाई ११॥ इंच है।

संख्या ३२—लम्बाई १३॥ चौड़ाई १७, यह किसी जैन मूर्तिका परिकर प्रतीत होता है। आजू बाजू पार्श्वद और दोनों ओर ३, ४, मूर्तियाँ खड्गासन पद्मासन। दायाँ ऊपरका कुछ भाग खंडित है। कलाकी दृष्टिसे अति साधारण है।

संख्या ८८—प्रस्तुत अवशेष किसी जैन मंदिरके तोरणका है, मध्य भागमें तीर्थंकरकी मूर्ति ४॥ इंचकी है, आजू बाजू परिचारिकाएँ चामर लिए अवस्थित हैं।

संख्या १२७—२६ × १६॥ इंच। प्रस्तुत प्रतिमा संयुक्त है। एक वृक्षकी छायामें दाईं ओर यक्ष और बाईं ओर दाईं गोदमें बच्चा लिये एक यक्षिणी अवस्थित हैं, दोनोंके चरणोंमें स्त्री-पुरुष बैठे हैं। यक्ष एवं यक्षिणियोंके आभूषण और वस्त्र इतने स्पष्ट हैं कि तादृश वस्तुस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। यक्षके मुखका कुछ भाग और मुकुट अजन्ताके चित्रकलाका सुस्मरण कराता है। दोनोंके दायें-बायें स्कन्धप्रदेशके पास कमलासनपर स्त्रियाँ हाथ जोड़े बैठी हैं। वृक्षके मध्य भागमें जिनमूर्ति अवस्थित है, यह गोमेध यक्ष अम्बिका और नेमिनाथ क्रमशः हैं। मूर्तिका निर्माणकाल १२वीं सदीके बादका नहीं हो सकता, क्योंकि पालकालीन शिल्पकला मूर्तिके अंग-अंगपर विकसित हो रही है। उपर्युक्त मूर्तिके समान ही कुछ परिवर्तनके साथ १२७ वाली मूर्तिसे मेल खाती है। दोनोंकी एक ही संख्या है।

संख्या ६६—की प्रतिमा एक देवीकी है, जो आम्रवृक्षके नीचे सिंहपर सवारी किये हुए, बायीं गोदमें एक बच्चा लिये बैठी हैं। दायीं ओर एक बालक खड़ा है। दोनों आम्र पंक्तियोंके बीच तीर्थंकरकी मूर्ति है।

संख्या ४२—की प्रतिमा ५२ इंच लम्बी और २२ इंच चौड़ी है। भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा खड्गासनस्थ है। दोनों हाथ एवं दायाँ

पैर अभिक और कुछ बायाँ खंडित है। दोनों ओर चरणके पास श्रावक श्राविका, पार्श्वद तदुपरि दोनों ओर पद्मासनस्थ दो-दो जैन मूर्तियाँ हैं। ऊपरके भागमें सप्तफणके चिह्न बने हुए हैं, निम्न भागमें दायीं बायीं ओर क्रमशः यक्ष, यक्षिणी, धरणेन्द्र पद्मावती विद्यमान हैं।

संख्या ६०—यह भी किसी जैन मन्दिरके तोरणका अंश है, मूर्ति प्रायः खंडित है। अशोक वृक्षकी छायामें अवस्थित है।

संख्या ६५—यह भी है तो किसी तोरणका अंश ही, पर उपर्युक्त अवशेषोंसे प्राचीन है। मध्य भागमें तीर्थंकरकी मूर्ति, बाजूके ऊपरी भागमें चतुर्भुजादेवी मनुष्यपर सवारी किये हुए अवस्थित है। समय अनुमानतः १३वीं सदी है।

संख्या ४४—की प्रतिमाकी लम्बाई २६ इंच, चौड़ाई १५॥ इंच है। शिलापर स्त्रीमूर्ति चतुर्भुजी खुदी हुई है। दायाँ हाथ आशीर्वाद स्वरूप, ऊपरका गदा लिये और बायें निम्न हाथमें शंख और ऊपरके हाथमें चक्र, इस प्रकार चारों हाथ स्पष्ट हैं। मूर्तिका वाहन कोई स्त्रीका है। क्योंकि पिछले भागमें केशविन्यास स्पष्ट दिखाई देता है। वाहनके दोनों ओर श्रावक-श्राविकाएँ वन्दना कर रही हैं। मूल देवीकी प्रतिमा हँसली, माला, जनेऊ धारण किये हुए है, परन्तु सभीमें नागावलीने मूर्तिका सौंदर्य बहुत अंशोंमें बढ़ा दिया है। देवीके मस्तकपर पद्मासनस्थ तीर्थंकरप्रतिमा दिखलाई पड़ती है। दोनों ओर गन्धर्व पुष्पमाला लिये हुए खड़े हैं। इस प्रतिमामें व्यवहृत पाषाण शंकरगढ़[1] की तरफ़का है। ऐसा सुपरिण्टेण्डेण्ट

---

[1] यह शंकरगढ़ वही होना चाहिए, जो उचहरासे कुछ मीलपर अवस्थित है। और यहाँपर भी जैन पुरातत्त्वके अतिरिक्त और भी कलात्मक साधन-सामग्री प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होती है। एक शंकरगढ़ प्रयागसे २८ मीलपर है। यहाँपर भी पुरातन मूर्तियाँ एवं एक मंदिर है। परन्तु यहाँ उल्लिखित शंकरगढ़ यह प्रतीत नहीं होता।

ऑफ म्यूज़ियमके कहनेसे ज्ञात हुआ है। निर्माण काल १२ वीं सदीका ज्ञात होता है। कालकी दृष्टिसे यह मूर्ति अनुपम है।

संख्या ४७—की मूर्ति सर्वथा ४२ के अनुरूप ही है, बहुत संभव है कि किसी मन्दिरके तीर्थंकरके पार्श्ववर्ती रही हो। इसके ऊर्ध्व भागमें उभय ओर हाथीके चित्र स्पष्ट रूपसे अंकित हैं।

संख्या ४६—लम्बाई ५२ इंच चौड़ाई २६ इंचकी प्रस्तर शिलाकर अष्टप्रातिहार्य युक्त जिनप्रतिमा खुदी हुई है। इसके दायें बायें घुटने एवं हाथोंकी उँगलियोंका कुछ भाग खंडित है। मस्तकपर सप्तफण दृष्टि-गोचर होते हैं। कलाकारने बायीं ओर सर्पपुच्छ, दायीं ओर एक चक्कर लगवाकर इस प्रकार मस्तकके ऊपर चढ़ा दी है, मानो सर्पके ऊपर ही गोलाकार आसनपर मूर्ति अवस्थित हो। उभय ओरके पार्श्वद लम्बे बालवाले चमर लिये खड़े हैं। पार्श्वद बुरी तरहसे खंडित हो गये हैं। नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्य हाथोंमे क्या था। पार्श्वदके दायें और बायें हाथोंके पास क्रमशः स्त्रीकी आकृतियाँ अंकित हैं, वे इतनी अस्पष्ट हैं कि निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती कि वे किससे सम्बन्धित हैं। तदुपरि दक्षिण भागपर एक कमलपत्रासनोपरि दो बालक एक ही स्थानपर एक ही आकृतिके हैं। इन दोनोंके बायें हाथ अभय-मुद्रा सूचक और दायें हाथमें कुछ फल लिये हुए हैं, ठीक ऐसी ही आकृति बाँयीं ओर भी पायी जाती है। नहीं कहा जा सकता कि दोनों ओर इन चार मूर्तियोंका क्या अर्थ है। उपर्युक्त प्रतिमाओंके ऊपरकी ओर फणके दोनों ओर युगल गन्धर्व पुष्पमाला लिये एवं किन्नरियाँ हाथ जोड़े उड़ती हुई नजर आती हैं। दोनोंके मस्तक खंडित हैं। इनके ऊपर छोटी-सी चौकियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनपर आमने-सामने दो हाथ परस्पर शुण्ड मिलाये खड़े हैं। अन्य प्रतिमाओंके अनुसार इसमें भी छत्रको अपनी शुण्डोंके बलपर थामे हुए हैं। अन्य मूर्तियोंमें जो हस्ती पाये जाते हैं, वे प्रायः निर्जन होते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रतिमामें जो हाथी हैं, उनपर एक-एक मनुष्य आरूढ़ हैं। यद्यपि

उन दोनोंके धड़ खंडित कर दिये गये हैं, तथापि चरण भाग स्पष्ट हैं। दोनों हाथियोंके पृष्ठभागमें १, १ स्त्रीका मस्तक दिखलाई पड़ता है। अब प्रतिमाके निम्न स्थानको भी देख लें। ऊपर ही सूचित किया जा चुका है कि कलाकारने सर्पासन बना दिया है, परन्तु वह सर्प भी गोलाकृति एक चौकी जैसे स्थानपर बना हुआ है, जिसको दोनों ग्राह थामे हुए हैं। दायें भागके ग्राहके निम्न भागमें एक भक्त करबद्ध अंजलि किये हुए अवस्थित है। बायीं ओर भी स्त्री या पुरुषकी जैसी ही आकृति रही होगी, जैसा कि अन्य प्रतिमाओंमें देखा जाता है, परन्तु यहाँ तो वह स्थान ही खंडित कर दिया गया है, मध्य प्रतिमाके निम्न भागमें चतुर्भुज देवी उत्कीर्णित हैं। इनके दाहिने हाथमें चक्र या कमल दिखाई पड़ता है, स्थान बहुत घिस जानेके कारण निश्चित नहीं कहा जा सकता कि क्या है। दाहिना दूसरा हाथ वरद मुद्राको सूचित करता है। बायाँ हाथ सर्वथा खंडित होनेसे नहीं कहा जा सकता है कि उसमें क्या था। स्त्रीकी इस प्रतिमाको पद्मावती ही मान लेना चाहिए। कारण कि वही पार्श्वनाथकी अधिष्ठातृ देवी है। इसके बायीं ओर हाथ जोड़े एक भक्त दिखलाई पड़ता है, इसके ऊपर भी तीन नागफण दृष्टिगोचर होते हैं। बायीं ओर अधिकतर भाग खंडित हो गया है। परन्तु घुटनेका जितना हिस्सा दिखता है, उस परसे कल्पना की जा सकती है कि दायीं ओर-जैसी ही बायीं ओर भी रही होगी। इस प्रतिमाका कलाकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व न होते हुए भी विधान वैविध्यकी दृष्टिसे कुछ महत्त्व तो है ही। निर्माणकाल १४ वीं शताब्दीके बादका ही प्रतीत होता है।

अजायबघरमें प्रवेश करते ही बाँयीं ओर ४ अवशेष रखे हुए हैं जिनमें दो किसी मंदिरके तोरणसे सम्बन्ध रखनेवाले एवं एक चतुर्भुजी देवीके हैं। हस्त खंडित होनेके कारण नहीं कहा जा सकता कि वह किसकी है। पर अजायबघरवालोंने लक्ष्मी बना रखा है।

संख्या ५२—इसके बाँयीं ओर ऋषभदेव स्वामीकी प्रतिमा अवस्थित

है, कारण कि स्कन्ध प्रदेशपर केशावली एवं वृषभका चिह्न स्पष्ट है। रचना शैलीसे ज्ञात होता है कि कलाकारने प्राचीन जैन प्रतिमाओंके आधारपर इसका सृजन किया है। अन्य मूर्तियोंकी भाँति इसकी बाँयी ओर दाँयी ओर क्रमशः कुबेर एवं अंबिका अवस्थित हैं। परिकरके अन्य सभी उपकरण जैन प्रतिमाओंसे साम्य रखते हैं।

संख्या १०४—लंबाई ४८ चौड़ाई २१ इंच।

आश्चर्य गृहमें प्रवेश करते ही छोटी बड़ी शिलाओंपर एवं सती स्तम्भों-पर कुछ लेख दिखलाई पड़ते हैं। इन लेखोंके पश्चिमकी ओर अंतिम भागमें एक ऐसा जैन अवशेष पड़ा हुआ है, जिसके चारों ओर तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ खुदी हैं। ऊपरके भागमें करीब १८ इंचका शिखर आमलक युक्त बना हुआ है। इसे देखनेसे ज्ञात होता है कि एक मंदिर रहा होगा। चारों दिशामें इस प्रकार मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, कि पूर्वमें अजितनाथकी मूर्ति जिसके आसनके निम्न भागमें हस्तिचिह्न स्पष्ट है। दक्षिणकी ओर भगवान् पार्श्वनाथकी सैफण युक्त प्रतिमा है। इसके निम्न भागमें दायीं ओर भक्त स्त्री एवं बायीं ओर चतुर्भुजी देवी, जिसके मस्तकपर नाग फन किये हुए हैं। असंभव नहीं कि वह पद्मावती ही हो। पश्चिमकी ओर भी तीर्थंकरकी मूर्ति है, इसके दायीं ओर एक स्त्री आम्रवृक्षकी छायामें बायीं ओरमें बच्चेको लिये, दाहिने हाथमें आम्र लुम्ब थामे सिंहपर सवारी किये हुए अवस्थित है। निःसंदेह यह प्रतिमा अंबिकाकी ही होनी चाहिए। अतः उपर्युक्त तीर्थंकर प्रतिमा भी नेमिनाथकी ही होनी चाहिए, क्योंकि वही इसके अधिष्ठातृ हैं। दायीं ओर बालिका करबद्ध अंजलि किये हुए है। यों तो बालकके ही समान दिखलाई पड़ती है, पर केशविन्यास एवं स्त्रियोचित आभूषण पहननेके कारण बालिका ही प्रतीत होती है। उत्तरकी ओर जो मुख्य तीर्थंकरकी प्रतिमा खुदी हुई है, उन प्रतिमाओंकी अपेक्षा शारीरिक गठन और कलाकी दृष्टिसे अधिक प्रभावोत्पादक है। वृषभका चिह्न स्पष्ट न होते हुए भी स्कन्ध प्रदेशपर फैली हुई केशावली, इस बातकी सूचना देती है कि वह प्रतिमा युगादिदेवकी

है । बायीं ओर चक्रेश्वरी देवीकी प्रतिमा भी खुदी है जो चतुर्मुखी है । चक्रेश्वरीके दायें ऊपरवाले हाथमें चक्र एवं नीचेवाला हाथ वरद मुद्रामें है, बाँया हाथ खंडित होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें क्या था ? चक्रेश्वरीका वाहन स्त्रीमुखी ही है । इसमें भी बायीं ओर भक्त विराजमान है । उसके अतिरिक्त चारों मूर्तियाँ अष्टप्रातिहार्य युक्त हैं । चारोंके भी भामंडल बहुत सुन्दर बने हुए हैं । किसी किसीमें प्रभा भी साफ़ है । एवं बिन्दु पंक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं । इस प्रकारके प्रभामंडल अंतिम गुप्तोंके समयमें बना करते थे । यद्यपि प्रस्तुत चतुर्मुखा मूर्ति प्राचीन तो नहीं जान पड़ती, परन्तु लगता ऐसा है कि कलाकारने किसी प्राचीन जैन मूर्तिका अनुकरण किया है । मूर्तिके चारों ओरके निम्न भागमें ग्राह बने हुए हैं । मध्यमें अर्द्ध चक्राकार धर्मचक्रके समान कुछ रेखाओंको लिये हुए है । पार्श्वदोंके खड़े रहनेके कमलपुष्प सभी ओर एकसे हैं । चारों ओर चार स्तम्भ भी बने हैं, जिनके सहारे पार्श्वद टिके हुए हैं । चौमुखोंका ऊपरी भाग शिखरका है, जिसको पाँच भागोंमें विभाजित किया जा सकता है । प्रथम भागको घेरकर चारों ओर पंक्तियोंके मध्य भागमें ४, ४, इस प्रकार २० पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ दिखलाई पड़ती हैं, तदुपरि आमलक है । यद्यपि प्रस्तुत अवशेष पूर्णतः अखंडित नहीं, क्योंकि कुछ एक स्थान तो स्वाभाविक रूपसे पृथ्वीके गर्भमें रहनेके कारण नष्ट हो गये हैं । एवं कुछ एक छैनीके शिकार भी बन गये हैं । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह चौमुख प्रतिमा किसी स्वतन्त्र मन्दिरमेंकी है या बाह्य भाग की ? मेरे विनम्र मतानुसार तो उपर्युक्त अवशेष किसी मानस्तम्भके ऊपरका हिस्सा लगता है, कारण कि दिगम्बर जैन संप्रदायमें जैन मन्दिरके अग्रभागमें एवं विशेषतः तीर्थ स्थानोंमें मानस्तम्भ निर्माण करवानेकी प्रथा, मध्य कालमें विशेष रूपसे रही है । यदि वह मानस्तम्भका ऊपरके भागका न होता तो, शिखरों एवं आमलक बनानेकी आवश्यकता न पड़ती । ऊपरके भागमें मूर्तियां इसलिए बनाई जाती थीं कि शूद्र दूरसे दर्शन कर सकें । यह कल्पना

क्लिष्ट-सी जान पड़ती है। इसका निर्माणकाल स्पष्ट निर्देशित नहीं है, एवं न पार्श्वद आदि गन्धर्वके आभूषण ही बच पाये हैं, जिनसे समयका निर्णय किया जा सके। अनुमान तो यही लगाया जा सकता है कि यह १४ वीं या १५ वीं शताब्दीकी कृति होगी।

संख्या ३—लंबाई १०६ इंच, चौड़ाई ४६ इंच।

विस्तृत मटमैली शिलापर परिकर युक्त खड्गासन जिन-प्रतिमा उत्कीर्णित है। कलाकारने पार्श्वद एवं अन्य किन्नर किन्नरियोंके प्रति कलाकी दृष्टिसे जितना न्याय किया है, उतना मुख्य प्रतिमामें नहीं। प्रतिमाका मुख बुरी तरहसे घिस डाला गया है। तथापि कुछ सौन्दर्य तो है ही, दोनों हाथ मूलतः खंडित हैं, मूर्तिके पैर विचित्र बने हैं, जैसे दो खम्भें खड़े कर दिये गये हों। शारीरिक विन्यास बिलकुल भद्दा है। मूर्तिकी छातीमें क़रीब ९ इंच लंबा ५ इंच चौड़ा चिकना गड्ढा पड़ गया है, ऐसा ही छोटा-सा गड्ढा दायीं जाँघमें भी पाया जाता है। ज्ञात होता है कि उन दिनों लोग इसपर शस्त्र पनारते रहे होंगे, क्योंकि यह पत्थर भी उसके उपयुक्त है। प्रतिमाके दोनों ओर पार्श्वद एवं ३३ किन्नरियाँ ध्वस्त दशामें विद्यमान हैं। बिलकुल निम्न भागमें दायीं और बायीं ओर क्रमशः स्त्री पुरुष दायाँ घुटना खड़े किये, बाँया घुटना नवाये हुए, नमस्कार कर रहे हैं। पार्श्वदके मस्तकपर दोनों ओर खड़ी और बैठी इस प्रकार दो दो प्रतिमाएँ हैं। ऊपर दोनों ओर ५, ५ मूर्तियाँ हैं ३, ३ पद्मासनस्थ और दो दो खड्गासनस्थ, इसके बाजूपर हाथी दो पैर टिकाये एक एक अश्व दोनों ओर खड़े हुए हैं, जिसपर एक एक मनुष्य आरूढ़ हैं। अश्व भी सर्वथा स्वाभाविक मुद्रामें स्थित हैं। प्रतिमाके स्कन्ध प्रदेशकी दोनों मकराकृतियाँ मुखमें कमल दंड दबाये हुए हैं। बाजूमें दोनों ओर पद्मासनस्थ मूर्ति हैं, इनकी बायीं ओर दो खड्गासन एवं बायीं ओर दो खड्गासनके बीच पद्मासनस्थ जिनमूर्ति है। भामंडलके निकटवर्ती का भाग खंडित हो गया है। इसके ऊपर एकाधिक किन्नर किन्नरियाँ पुष्पमाला लिये खड़े हैं। सभीके मस्तक खंडित हैं, अन्य मूर्तियोंमें जिस प्रकार छत्र

थामें हस्ती बताये गये हैं, उस प्रकार इसमें भी रहे होंगे। निम्न भागमें दोनों ग्राहके बीच मकराकृति पायी जाती है, दायीं ओर चतुर्भुजी देवी एवं बायीं ओर यक्ष खड्ग लिये अवस्थित हैं। यह प्रतिमा किसी मंदिरकी मुख्य रही होगी। कारण कि निर्माण विधानकी दृष्टिसे पर्याप्त वैविध्य है। यह प्रतिमा महू तहसील प्योहारीसे लाई गई है। पार्श्वदोंके हाथके चामर प्रायः लंबे हैं।

संख्या १०३—ललाई लिये हुए पाषाणपर भगवान्‌की मूर्ति उत्थितासनमें उत्कीर्णित है, दोनों ओर पार्श्वद एवं निकटवर्ती खड्गासनस्थ मूर्तियाँ निम्न भागमें यक्ष-यक्षिणी अष्टप्रातिहार्य हैं।

संख्या ५७—की प्रतिमा पार्श्वनाथ भगवान्‌की है।

व्यंकट सदनके अतिरिक्त गाँवमें कई मकानोंमें जिन-मूर्तियाँ लगी हुई हैं। घोघर नदीके किनारे धर्मशालाके समीप पीपल वृक्षके नीचे दो सुन्दर जिन-मूर्ति पड़ी हैं। लोगोंने इसे खैरमाई मान रखा है। 'बड़ी दइया' के जलस्रोतपर भी भगवान् नेमिनाथजीकी वरयात्राका सुन्दर प्रतीक पड़ा है। लोग इसपर वस्त्र धोते हैं। किलेके गुर्गों तोरण द्वारवाले मार्गपर भी जैन मंदिरके अत्यन्त कलापूर्ण स्तम्भ, शौचालय बने हैं। कुंभ कलशके साथ स्पष्टतः प्रतिमाका भी अंकन है।

इस ओर जैनोंके प्रति जनताका स्वाभाविक रोष भी है।

रीवाँके मुख्य जैन मन्दिरमें भी विशालकाय जिन-प्रतिमा है। चित्रके लिए कोशिश करनेके बावजूद भी सफल न हो सका। रीवाँके समीप यदि गवेषणाकी जाय तो और भी जैन अवशेष पर्याप्त मिल सकते हैं।

(२) रामवन

भारतप्रसिद्ध 'भरहूत' पहाड़की तराईमें उपर्युक्त आश्रम, प्रकृतिके मुक्त वायु-मंडलमें बना हुआ है। सतनासे रीवाँ जानेवाले मार्गमें दसवें मीलपर पड़ता है। पुरातन शिल्प-कलाके अनन्य प्रेमी बाबू शारदाप्रसादजीने ही इसे बसाया है। एक प्रकारसे यह आश्रम प्राचीन परम्पराका प्रतीक

है। यहाँ भारतीय मूर्तिकलापर नूतन प्रकाश डालनेवाली पुरातत्त्वकी मौलिक सामग्री, पर्याप्त परिमाणमें विद्यमान है। इसमें अधिकांश भाग सौंकाटक तथा गुप्तकालीन है। इस संग्रहमें कुछ प्रतिमाएँ जैनधर्मसे संबद्ध भी हैं, जो मध्यकालीन जान पड़ती हैं। सौभाग्यसे कुछ मूर्तियाँ सर्वथा अखंडित हैं। इन कलात्मक प्रतिमाओंका शब्द-चित्र इस प्रकार है :—

(१) २३"×२३" की रक्त प्रस्तरकी शिलापर मस्तकपर फन धारण किये हुए, लंबशरीरी भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा है। मूर्ति निर्माण एवं वैविध्य दृष्ट्या मूल्यवान् न होते हुए भी इसका शारीरिक विन्यास सापेक्षतः आकर्षक है। पार्श्वदको छोड़कर परिकर आडम्बर शून्य है। इसका निर्माणकाल इतिहासके अनुसार मध्ययुगका अंतिम चरण होना चाहिए, क्योंकि मूर्ति-निर्माण-कलाका ह्रास इससे पूर्व शुरू हो गया था।

(२) २४"×१५" मटमैली शिलापर भगवान् मल्लिनाथका प्रतिबिम्ब खुदा हुआ है। जैसा कि निम्नोक्त कलशके चिह्नसे स्पष्ट है। मूर्तिका मुख जितना सौम्य एवं सौन्दर्यकी दृष्टिसे उत्कृष्ट है, उतना ही शारीरिक गढ़न निम्नकोटिका है। कलाकारने अपना कौशल न जाने मुखमण्डलतक ही क्यों सीमित रक्खा। अष्टप्रातिहार्य एवं परिकरका अन्य भाग विन्ध्यप्रान्तमें प्रचलित रचनाशैलीके अनुसार है।

(३) २१"×१२" शिलापर केवल बारह प्रतिमाएँ खड्गासनस्थ दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें ऋषभदेवका महान् व्यक्तित्व अलग ही झलक उठता है। इस खंडित अवशेषसे कल्पनाकी जा सकती है कि ऊपरके भागमें भी बारह मूर्तियाँ रही होंगी। कारण कि ऋषभदेव प्रधान चौबीसी एक ही शिलापट्टपर खुदी हुई अन्यत्र भी उपलब्ध होती है। मूर्तिके निम्न भागमें गौमुख, यक्ष एवं चक्रेश्वरीकी प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। इसका प्रस्तर बसोमें पाई जानेवाली कलाकृतियोंसे मिलता-जुलता है।

उपर्युक्त प्रतिमाओंके अतिरिक्त खण्डितप्रायः जैनावशेष वहाँपर

संगृहीत हैं, परन्तु वे इतने ध्वस्त हो चुके हैं कि उनपर कुछ भी लिखा जाना संभव नहीं।

लखुरबाग और नचनाकी बची खुची सामग्री यहाँपर संगृहीत है।

(३) जसो

अन्धकारयुगीन भारतके इतिहासपर प्रकाश डालनेवाली आंशिक सामग्रीको सुरक्षित रखनेका श्रेय इस भूभागको भी मिलना चाहिए। वाकाटक वंशका एक महत्त्वपूर्ण लेख इसीके अँचलमें है। कनिंघम साहबने इस भू-भागके स्थानको 'दरेदा' के नामसे संबोधित किया है, पर इसका वास्तविक स्थान 'दुरेहा' है जो जसोके निकट है। खोह, नचना और भूभरा यहींसे नज़दीक पड़ते हैं। वाकाटक, भारशिव एवम् गुप्तकालमें विकसित उत्कृष्ट शिल्प स्थापत्य एवं मूर्तिकलाके उज्ज्वल प्रतीक आज भी भीषण अटवीमें विद्यमान हैं। भारतीय इतिहास पुरातत्त्व एवं शिल्प-कलाकी दृष्टिसे इस भू-भागका, बहुत प्राचीनकालसे ही, बड़ा महत्त्व रहा है।

जसोको यदि जैन मूर्तियोंका नगर कहा जाय तो अनुचित न होगा। कारण कि आवश्यक कार्यके लिए प्रस्तर प्राप्त्यर्थ जहाँ कहीं भी जनता द्वारा खनन होता है वहाँ, जैन मूर्तियाँ अवश्य ही, भूगर्भसे निकल पड़ती हैं। इन पंक्तियोंका आधार केवल दन्तकथा नहीं है, परन्तु मैंने स्वयं ही अनुभव किया है। गत जनवरीका तीसरा सप्ताह मैंने खोजके लिए जसोमें ही व्यतीत किया था। उन दिनों खेतोंकी मेड़पर लोग मिट्टी जमा रहे थे। आठ खेतोंमें मैंने स्वयं देखा कि दो दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ दो दिनमें ही ज़मीनसे पाई गयीं। यहाँ न केवल जैन प्रतिमा ही उपलब्ध होती हैं, अपितु जैन मन्दिरोंके तोरण, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, अष्टमांगलिक एवं जैन शास्त्रोंमें वर्णित स्वप्नोंके अतिरिक्त अनेक जैन कलाके विभिन्न उपकरण भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि आज जसोमें एक भी जैनका निवास नहीं है। परन्तु इन

उपलब्ध कलाकृतियोंसे सिद्ध है कि किसी समय यह जैनसंस्कृति एवं जैनाश्रित शिल्पस्थापत्यकलाका प्रधान केन्द्र था। यहाँसे सैकड़ों जैन मूर्तियाँ युक्त प्रान्त एवं भारतके अन्यान्य संग्रहालयोंमें चली गयीं, और चली जा भी रही हैं। तथापि एक संग्रहालय-जितनी सामग्री आज भी वहाँपर बिखरी पड़ी है। वहाँकी जनता मूर्तियाँ बाहर ले जानेमें इसलिए कुछ नहीं कहती, कि उन्हें विश्वास है कि जब चाहें, ज़मीनसे मूर्तियाँ निकाल लेंगे। मूर्ति बाहुल्यके कारण, जितना दुरुपयोग वहाँकी जनता द्वारा हुआ या स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय तो भारतीय मूर्तिकलाका जितना नाश, अज्ञानतावश वहाँकी जनताने किया, उतना दुस्साहस अन्यत्र संभवतः न हुआ हो। आँखोंसे देख एवं कानोंसे सुनकर असह्य परिताप होता है। किसानोंके शौचालयसे एक दर्जनसे अधिक जैन मूर्तियाँ मैंने उठवाई होंगी। नालोंपर कपड़े धोनेकी शिलाके रूपमें एवं सीढ़ियोंमें, जैन मूर्तियोंका प्रयोग आज भी हो रहा है। जसोकी गली-गलीमें भ्रमणकर मैंने अनुभव किया कि प्रायः अनेक गृहके निर्माणमें किसी-न-किसी रूपमें प्राचीन कला-कृतियोंका ऐच्छिक उपयोग हुआ है। इनमें अधिकांश जैनाश्रित कलाके ही प्रतीक हैं। दर्जनों जैन मूर्तियाँ 'खैरमाई'के रूपमें पूजी जाती हैं। कई गृहोंमें 'प्रहरी' का कार्य जैन मूर्तियोंको सौंपा गया है। सबसे बड़ा अत्याचार वहाँकी जैन कलाकृतियोंपर तब हुआ था, जब जसोके कथित महाराज जीवित थे। जसोसे 'दुरेहा' जानेवाले मार्गपर समीप ही विशाल स्वच्छ जलाशय है। इसके किनारेपर आजसे क़रीबन पन्द्रह वर्ष पूर्व एक हाथीकी मृत्यु हो गयी थी। वहींपर विशाल गर्त खोदकर हाथीको गड़वाया गया, और गढ़ेकी पूर्तिके रूपमें जसोकी बिखरी हुई प्राचीन कलाकृतियाँ, जिनका उन दिनोंके शासककी दृष्टिमें पत्थरोंसे अधिक मूल्य न था, डाल दी गई। इनमें अधिकांशतः जैन मूर्तियाँ ही थीं, जैसा कि 'नागौद' के भूतपूर्व दीवान तथा पुरातत्त्व प्रेमी श्री भार्गवेन्द्रसिंहजी "लाल साहब"के कहनेसे ज्ञात होता है। लाल साहब नागौद एवं जसोकी एक-एक इंच भूमिसे परिचित हैं एवं

पुरातत्त्वकी, कहाँपर कौनसी सामग्री है ? आपको भलीभाँति मालूम है। मेरी भी आपने बड़ी मदद की थी।

जसोमें यों तो अनेकों जैन प्रतिमाएँ होनेका उल्लेख ऊपर आ चुका है, परन्तु उन सभीका अलग-अलग उल्लेख न कर केवल उन्हीं प्रतिमाओंकी चर्चा करना उपयुक्त होगा, जो सामूहिक रूपसे एक ही स्थानपर एकत्र हैं।

कुछ जैन मूर्तियाँ

राज-भवनके निकट "जालपादेवी"का एक मन्दिर है। इसके हातेमें बहुसंख्यक जैन प्रतिमाओंके अतिरिक्त मानस्तम्भ और मन्दिरोंके अवशेष पड़े हुए हैं। प्रायः सभी कत्थई रंगके पत्थरोंपर उत्कीर्णित हैं। मन्दिरकी दीवालके पीछे तथा बाज़ारकी ओर भी कुछ मूर्तियाँ सजाकर रख छोड़ी हैं। परन्तु सभी मूर्तियाँ जिस रूपमें खंडित दीख पड़ती हैं, उससे तो यही ज्ञात होता है कि समझपूर्वक इनका सौन्दर्य विकृत कर दिया गया है। कुछेकपर सिन्दूर भी पोत दिया गया है। इन मूर्तियोंमें अधिकतर भगवान् आदिनाथ और पार्श्वनाथकी हैं। कुछ पद्मासन हैं, कुछ खड्गासन। भगवान् आदिनाथ और श्रमणभगवान् महावीरकी दो अद्भुत एवं अन्यत्र अनुपलब्ध प्रतिमाएँ इसी समूहमें हैं। इनकी विशेषता निबन्धकी भूमिकामें आ चुकी हैं। अतः पिष्टपेषण व्यर्थ ही है।

मंदिरसे लगा हुआ छोटा-सा मकान है। इसमें संस्कृत पाठशालाके छात्र रहते हैं। इसकी दीवालमें अत्यन्त कलापूर्ण ६ जैन मूर्तियाँ लगी हुई हैं। कुछेक मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे अनुपम एवं सर्वथा नवीन भी हैं। प्रति वर्ष इनपर चूना पोता जाता है, ½ इंचसे ऊपर चूनेकी पपड़ियाँ तो मैंने स्वयं उतारी थीं। वहाँके एक मुसलमान कारीगरसे ज्ञात हुआ कि ऐसी कई मूर्तियाँ तो हमने गृह-निर्माणमें लगा दी हैं। और इनके मस्तकवाले भागकी पथरियाँ अच्छी बनती हैं, अतः हम लोगोंको ऐसी गढ़ी गढ़ाई सामग्री काफी मिल जाती है।

जाल्पादेवीके मन्दिरमें प्रवेश करते ही, सामनेवाले चार अवशेष दृष्टि आकृष्ट कर लेते हैं। इनमें तीन तो जैन हैं, एक वैदिक। मुझे ऐसा लगता है कि तीनों अवशेष भिन्न न होकर एक ही भावके तीन पृथक् अंश हैं। इसमें जो भाव बतलाये हैं, वे अन्यत्र मिलते तो हैं, पाषाणपर नहीं परन्तु चित्रकलामें। तीर्थंकर महाराजकी यात्राका भाव परिलक्षित होता है। सर्वप्रथम इन्द्रध्वज तदनन्तर देव देवी (इनके मस्तकपर सुन्दर मुकुट पड़े हुए हैं अतः देवगणकी कल्पना की है) बादमें तीर्थंकर महाराज, (इनके चारों ओर समूह बताया गया है) पीछेके भागमें श्रावक-वृंद उत्कीर्णित है। इसीमें आगे भगवान्‌का समवसरण भी निर्दिष्ट है। सौभाग्यसे यह संपूर्ण कलाकृति सर्वथा अखंडित बच गई है। लम्बी ४॥। फ़ुट, चौड़ाई २॥ फ़ुट है। जैन मन्दिरके स्तम्भोंमें तीर्थंकर प्रतिमाएँ खुदवानेकी प्रथा रही है, इसके उदाहरण स्वरूप दर्जन स्तंभावशेष यहाँपर अवस्थित हैं।

एक विशेष प्रतिमा

इसी समूहमें एक सयक्ष अंबिकाकी प्रतिमा भी दृष्टिगोचर हुई। परन्तु इसमें कुछ विशेषता है। यह वह कि निम्न भागमें यक्ष दम्पति हैं। आम्रवृक्षका स्थान काफ़ी लंबा है, इसपर भगवान् नेमिनाथकी भव्य प्रतिमा सुशोभित है। वृक्ष-स्थाणुके मध्य भागमें एक नग्न स्त्री वृक्षपर चढ़ती हुई बताई गई है। पासमें एक गुफ़ा जैसा गहरा प्रकोष्ठ भी अलगसे उत्कीर्णित है। इन दोनों भावोंमें राजीमतीका जीवन ही परिलक्षित होता है। गुफ़ाका संबंध राजमतीसे है, गिरिनारकी गुफ़ामें रहनेका उल्लेख जैन साहित्यमें आता है। वृक्षपर चढ़नेका अर्थ, कल्पनामें तो यही आता है कि भगवान् नेमिनाथके चरणोंमें जानेको वह उद्युक्त है। अर्थात् मुक्तिमार्गके प्रदर्शककी सेवामें जानेको तत्पर है। कलाकारने सकारण ही इन भावोंका प्रदर्शन किया है। इस प्रतिमाको मैंने वहाँसे उठवाकर सुरक्षित स्थानमें पहुँचा दी है।

मंदिरके निकट ही एक लकड़ीका कारखाना है, लकड़ीके ढेरमें भी कई कला-कृतियाँ दबी पड़ी हैं। कुछेक तो खंडित भी हो गई हैं, जितना भाग बचा है, यदि सावधानीसे काम न लिया गया तो वह भी नष्ट हो जायगा। दुर्गके द्वारपर भी जैन प्रतिमाएँ लगी हैं। ऊपरकी दीवाल भी खाली नहीं है। संस्कृत पाठशाला पुराने क़िलेमें लगती है।

उष्ण जलकुण्ड

यहाँसे ४ फर्लांग दूर एक शिवमंदिर है, वहाँ पर भूमिसे गरम जल निकलता है। लोगोंका विश्वास है कि यह कई रोगोंको नाश करनेवाला जल है। इस ओर जब हमलोग गये तो आश्चर्यचकित रह गये। जलको रोकनेके लिए जनताने छोटी-सी दीवार खड़ी कर दी है। इसमें जैन-प्रतिमाओंकी बहुलता है। नालोंपर भी तीन छोटी-सी मूर्तियाँ, लोगोंके आराध्य देवता माने जाते हैं। प्रति दिन काफ़ी लोग जल चढ़ानेके लिए आते हैं। जनताका विश्वास है कि बिना इनको प्रसन्न रखे कोई कामकी सिद्धि नहीं होती। इतनी ग़नीमत है कि ये देवता सिन्दूरसे अलंकृत नहीं हुए, पर वस्त्रोंसे तो भूषित कर ही दिये गये हैं। ये तीनों मूर्तियाँ क्रमशः शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और नेमिनाथकी हैं।

यहाँसे हमलोग तालाबकी ओर जाना चाहते थे, इतनेमें किसी काछीने सूचित किया कि मेरे बग़ीचेमें भी पुरानी प्रतिमाएँ हैं, चाहें तो आप लोग पूजाके लिए ले जा सकते हैं। इस बग़ीचेमें चारों ओर घने वृक्षोंमें किसी मंदिरके स्तम्भोंकी कीचक आकृतियाँ हैं। ये ४॥ फ़ुटसे कम लंबे-चौड़े न होंगे, परन्तु न जाने कितनी शताब्दियोंसे यहाँपर हैं, कारण कि ३ अंश तो वृक्षोंकी जड़ोंमें इस प्रकार गुँथ गये हैं, कि उनको सरकाना तक असंभव है।

राममन्दिर

जसोमें प्रवेश करते ही प्रथम राममंदिर आता है। इसके प्रवेश द्वारपर ही मयक्षदम्पती नेमिनाथ भगवान्‌की मूर्ति अधिष्ठित है। इसके दोनों ओर

खड्गासन भी है। रक्तप्रस्तरपर उत्कीर्णित है। प्रतिमा सर्वथा अखण्डित है। गत वर्ष किसी ठाकुरके मकानसे यह प्रतिमा उपलब्ध हुई थी और जैनबीने यहाँ लगवा दी। मन्दिरके निकट एक नाला पड़ता है। इसपर भी पार्श्वनाथ खड्गासनमें हैं।

कुमारमठ

गाँवसे कुछ दूर कुमड़ामठ नामक एक विशाल मन्दिर है, सम्भवतः यह कुमारमठ ही होना चाहिए। यहाँपर विस्तृत फैली अमराई है। सघन जंगलका बोध होता है। यहाँ पीपलके नीचे बहुतसे अवशेष सुरक्षित हैं, इसमें जैन प्रतिमाएँ भी पर्याप्त हैं। यह मन्दिर नागर शैलीका है। कहा जाता है कि इसमें कोई शिलोत्कीर्णित लेख भी है। पर मुझे तो दृष्टि-गोचर न हुआ। मठमें कुछ टीले हैं। सम्भव है खुदाई करनेपर कुछ और भी पुरातत्त्वकी सामग्री मिले। मठके पास एक वृक्षके निम्न भागमें भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा पड़ी हुई है। इसे 'खैरमाई' करके लोग पूजते हैं। कोई भी व्यक्ति इसे स्पर्श नहीं कर सकता, दूरसे ही पुष्पादि चढ़ा देते हैं। पूर्व तो यहाँपर बलितक चढ़ाई जाती थी, पर अभी बन्द है। समस्त गाँवके यह प्रधान देवता माने जाते हैं। यहाँपर त्यौहारके दिनोंमें मेला भी लगता है। नवरात्रमें तो पंडे भी पहुँच जाते हैं।

रावमन्दिरके पाससे एक मार्ग नालेपर जाता है, वहाँ सुनारके गृहके अग्रभागमें जैन प्रतिमाओंका समूह विद्यमान है। आगे चलनेपर पुरानी दीवालके चिह्न मिलते हैं। ईंट भी गुप्तकालीन-सी बँचती हैं। इसीपर बस्ती बस गई है।

यहाँपर एक मस्जिदके पास मुसल्मानोंकी बस्तीमें मानस्तम्भका ऊपरका एक टुकड़ा भी ज़मीनमें गड़ा है। चारोंओर जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं।

बस्तीमें इतनी विस्तृत जैन कलात्मक सामग्री बिखरी पड़ी है; यदि

यहाँपर पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई कराई जाय तो और भी पुरातनावशेष निकलनेकी पूर्ण संभावना है। जैन पुरातत्त्वके प्रधान केन्द्रके रूपमें जसो कबतक विख्यात रहा, यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। परन्तु अवशेषोंसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि १५-१६ शतीतक तो रहा ही होगा। कारण कि १२ शतीसे लगाकर १६ शतीतकके जैनावशेष उपलब्ध होते हैं। यहाँकी अधिकतर सामग्री "एन्श्यन्ट मोन्युमेन्ट् प्रिज़र्वेशन एक्ट" द्वारा अधिकृत नहीं की गई है, यदि कला प्रेमी इनकी समुचित व्यवस्था करें तो आज भी अवशिष्ट सामग्री चिरकालतक सुरक्षित रह सकती है। वर्ना अवशिष्ट अवशेषोंसे भी हाथ धोना पड़ेगा। कारण कि जिसे आवश्यकता होती है, वह उनका उपयोग आज भी कर लेता है। जसोसे १५ मीलपर 'लखुरबारा' नामक स्थान पहाड़ोंकी गोदमें है। जहाँपर गुप्त-कालीन अवशेष पर्याप्त संख्यामें मौजूद हैं। दुरेहामें भी जैन मंदिरोंके अवशेष हैं। नागौदके लाल साहबसे मुझे ज्ञात हुआ था कि लखुरबारा और नचनाके जंगलोंमें बड़ी विशाल जैन प्रतिमाएँ काफ़ी संख्यामें पड़ी हुई हैं। वहाँपर जैन मन्दिरोंके अवशेष भी मिलते हैं।

(४) उच्चकल्प (उचहरा)

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहासमें इसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। एक समय यह राजधानीके रूपमें भी था। वाकाटक और गुप्तकालीन शिलालेखोंमें इस नगरका उल्लेख "उच्चकल्प" नामसे हुआ है। संन्यासी ही यहाँके शासक थे। नगरमें परिभ्रमण करनेपर प्राचीनताके प्रमाण स्वरूप अनेकों अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँके काफ़ी अवशेष (कलकत्ताके) इन्डियनम्यूज़ियममें हैं। शेष अवशेषोंको जनताने स्थान-स्थानपर एकत्रकर, सिन्दूरसे पोतकर खैरमाई या खैरदइयाके स्थान बना रखे हैं। अब वहाँसे अनावश्यक या आवश्यक एक कंकड़ भी हटाना संभव नहीं। जहाँपर जैन अवशेष भी काफ़ी तादादमें मिलते हैं, वे मध्यकालके हैं।

यहाँके एक शैव मन्दिरमें खंडित चतुर्विंशतिकापट्ट तथा फुटकर जैन मूर्तियाँ हैं। नालेपर भी एक दीवालमें कई देवताओंके साथ जैन प्रतिमाएँ हैं। नालेके ऊपर एक टीला है, उसपर विशेषतः शैव संस्कृतिके अवशेषोंमें जैन मन्दिरोंके तोरण, द्वार स्तम्भ एवं कृतियाँ सुरक्षित हैं। कुछेक जैन प्रतिमाएँ, अन्य स्थानोंके समान, यहाँपर खैरमाईके रूपमें पूजी जाती हैं।

यहाँपर सबसे अधिक और आकर्षक संग्रह है सती-स्मारकोंका। एक स्थान इसलिए स्वतन्त्र ही बना हुआ है। यहाँ सैकड़ों सतीके चौतरे हैं। कुछेकपर लेख भी हैं।

बार-बार यहाँसे सामग्री ढोनेके बाद अब ऐतिहासिक एवं शिल्पकलाकी दृष्टिसे कुछ भी मूल्य रखनेवाली सामग्री शेष नहीं रही।

(५) मैहर

शारदामाईके कारण मैहर विन्ध्य प्रदेशमें काफ़ी ख्याति प्राप्त कर चुका है। प्रतिदिन कई यात्री यात्रार्थ आते हैं। इनके संबंधमें यहाँपर कई प्रकारकी किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। इसपर विशेष जाननेके लिए "विन्ध्यभूमिके दो कलातीर्थ" नामक मेरा निबन्ध देखना चाहिए।

स्थानीय राजमहलके पीछे एक देवीका मन्दिर है। इसमें तीन खण्डित जैन-मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं। वहाँपर एक स्त्रीसे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि यह हमारी देवीजीके रक्षक हैं, इसलिए इन्हें द्वारपर ही रहने दिया गया है। परम वीतराग परमात्माकी प्रतिमाओंका उपयोग, अज्ञानवश किस प्रकार किया जाता है, इसका यह एक उदाहरण है। इस मन्दिरके दो फर्लांग पीछे जानेपर अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण और सर्वथा अखण्डित शैव मन्दिर आता है। इस मन्दिरके चबूतरेके पास ही खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ हैं। इस मंदिरसे तीन फर्लांग और चलनेपर एक नाला आता है, उसपर जैनमन्दिरका चौखट और कलश, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त्त अंकित स्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। इन अवशेषोंसे ज्ञात होता है कि इसके निकट कहींपर जिन-

मन्दिर रहा होगा। वर्ना स्तम्भ और चौखटकी प्राप्ति यहाँ क्योंकर होती ?

मैहरसे कटनीकी ओर जो मार्ग जाता है उसपर 'पौंडी' ग्राम पड़ता है। इसमें अतीव सुन्दर जैन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इसकी संख्या १४ से कम न होगी, और खण्डित प्रतिमाओंका तो ढेर लगा हुआ है। प्रायः अखण्डित मूर्तियाँ कलाकी दृष्टिसे सर्वांग सुन्दर हैं। सौभाग्यसे एकपर ११५७ का लेख भी उपलब्ध होता है, यह मूर्ति सपरिकर है। इस लेखका बहुत-सा भाग तो शस्त्र पनारनेवालोंने समाप्त ही कर डाला है, जो शेष रह गया है, वह मूर्तियोंके समय निर्धारणके लिए उपयोगी है। एक ही इस लेखसे इस शैलीकी अनेकों मूर्तियोंका समय निश्चित हो जायगा। मूर्तियोंकी रक्षा अत्यावश्यक है। जनताका ध्यान भी इस ओर नहींके बराबर है।

उपसंहार

उपर्युक्त पंक्तियोंमें विन्ध्यभूभागके केवल उन्हीं जैनावशेषोंका उल्लेख किया गया है, जिनको मैंने स्वयं देखा है। अभी अन्दरके भागमें अनेक ऐसे नगर हैं, जहाँके खंडहरोंमें जैन शिल्पकलाकी काफ़ी सामग्री अस्तव्यस्त पड़ी हुई है। मुझे सूचना मिली थी कि पन्ना, अजयगढ़, खजुराहो, देवगढ़, कालिंजर और छतरपुरके पासके खंडहर भी इस दृष्टिसे विशेष रूपसे प्रेक्षणीय हैं। इन स्थानोंपर जैन दृष्टिसे आजतक समुचित अध्ययन नहीं हुआ, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो संपूर्ण पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अभी इस भूभागको कम लोगोंने छुआ है। तलस्पर्शी अध्ययनकी तो बात ही अलग है। जैन एवं अजैन विद्वानोंके सद्प्रयत्नोंसे कहीं-कहीं सुरक्षाकी व्यवस्था की गई है, पर सापेक्षतः नहींके समान है।

विन्ध्य प्रदेशमें पाई जानेवाली जैन पुरातत्त्वकी सामग्रीमें अन्य-प्रान्तोंकी अपेक्षा वैविध्य है, यहाँपर जैन प्रतिमा एवं मंदिरोंके साथ-साथ जैन धर्मके

कुछ प्रविष्ट प्रसंगोंका भी सफल आलेखन हुआ है। इन अवशेषोंसे जैनोंका व्यापक कला-प्रेम झलकता है। मध्यकालीन कलावशेषोंमें जैनाकृतियोंको यदि अलग कर दिया जाय तो यहाँकी कलात्मक सामग्री सौन्दर्यविहीन जँचेगी। महान् परितापका विषय है कि जैनोंकी अच्छी संख्या होते हुए भी इस ओर उनकी उदासीनता है। भारतीय पुरातत्त्व विभाग इस प्रदेशकी ओर एक प्रकारसे मौनावलम्बन किये हुए है। मूर्तियोंका, कलाकृतियोंका मनमाना उपयोग जनता द्वारा हो रहा है। नूतन भवनकी नींवें इन अवशेषोंसे भरी जाती हैं। नवीन गृहोंमें ये लोग मूर्तियोंका बेधड़क उपयोग करते हैं, पर जब कोई कलाकार वहाँ पहुँचकर साधना करता है तब पुरातत्त्व विभाग इसे अपनी संपत्ति घोषित करता है।

प्रान्तमें मैं तात्कालिक प्रधान मन्त्री श्रीयुत श्रीनाथजी मेहता आई० सी० एस० को धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इन्होंने मेरी यात्राका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे करवाया था।

१ अप्रेल १९५१]

बौद्ध-पुरातत्त्व

मध्य-प्रदेशका बौद्ध-पुरातत्त्व

मध्यप्रदेशीय शिल्प-स्थापत्य विषयक कलावशेषोंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि बौद्ध-संस्कृतिका प्रभाव इस भू-भागपर, बहुत प्राचीन कालसे रहा है। शिलोत्कीर्णित लेख, गुफा एवं प्रस्तर तथा धातु-मूर्तियाँ आदि उपर्युक्त पंक्तिकी सार्थकता सिद्ध करती हैं। बौद्धोंमें कलाविषयक नैसर्गिक प्रेम शुरूसे रहा है।

जबलपुर ज़िलेके रूपनाथ नामक स्थानपर सम्राट् अशोकका एक लेख पाया गया है। संभव है उन दिनों बौद्ध वहाँ रहे हों या उस स्थानकी प्रसिद्धिके कारण, अशोकने प्रचारार्थ शिक्षाएँ वहाँ खुदवा दी हों। यह लेख उसने बौद्ध होनेके २॥ वर्ष बाद खुदवाया था। इससे इतना तो निश्चित है कि सम्राट् अशोक द्वारा मध्य प्रदेशमें बौद्ध धर्मकी नींव पड़ी। मध्यप्रदेशीय शासनकी ग्रीष्मकालीन राजधानी पचमढ़ीमें भी कुछ गुफाएँ हैं, जिनका संबंध बौद्ध धर्मसे बताया जाता है[1]।

मौर्य साम्राज्यके बाद मध्यप्रान्तपर जिन शक्तिसंपन्न राजवंशोंने शासन किया, उनमेंसे अधिकतर परम वैदिक थे। अतः मौर्य शासनके बाद बौद्ध धर्मका व्यवस्थित प्रचार, जैसा होना चाहिए था, न हो पाया। सम-सामयिक समीपस्थ प्रादेशिक पुरातन स्थापत्योंके अन्वेषणसे फलित होता है कि तत्रस्थ शासन वैदिक होते हुए भी, बौद्ध-संस्कृति अनुन्नत नहीं थी। मेरा तात्पर्य साँची व परवर्ती बौद्ध अवशेषोंसे है।

नागार्जुन

कहा जाता है कि नागार्जुन बरारके निवासी थे। ये बौद्ध धर्मके विद्वान्, पोषक एवं प्रचारक आचार्य तो थे ही साथ ही महायान संप्रदायकी माध्यमिक शाखाके स्तम्भ भी थे। ये महाकवि अश्वघोषकी परम्पराके

---

[1] श्री प्रयागदत्त शुक्ल, होशंगाबाद—हुंकार, पृ० ८६।

चमकीले नक्षत्र थे। दर्शनशास्त्र एवं आयुर्वेदमें इनकी अबाधगति थी। भारतीय आयुर्वेद-शास्त्रमें रस द्वारा चिकित्सा करनेकी पद्धतिका सूत्रपात, इन्हींके गंभीर अन्वेषणका परिणाम है। पं० जयचन्द्र[1] विद्यालंकारने अश्व-घोषके 'हर्षचरित'के आधारपर लिखा है कि नागार्जुन दक्षिण-कोसल (छत्तीसगढ़) के राजा सातवाहनके मित्र थे। चीनी पर्यटक श्युआन्-चुआङ्ने भी आयुर्वेदमें पारंगत बोधिसत्त्व नागार्जुनका बहुमान पूर्वक स्मरण किया है। बाण कवि भी इसका समर्थन करते हैं। इसलिए इनका काल ईस्वी-की दूसरी शताब्दीसे पीछे नहीं जा सकता। यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नागार्जुन और सिद्धनागार्जुन एक ही थे या पृथक्? पं० जयचन्द्र विद्यालंकारने दोनोंको एक ही माना है। जैन साहित्यमें सिद्ध नागार्जुनका वर्णन विशद रूपमें आया है। मूलतः वे सौराष्ट्रान्तर्गत ढंकगिरिके निवासी व आचार्य पादलिप्तसूरिके शिष्य थे। इनकी भी आयुर्वेद एवं वनस्पति शास्त्र-में अद्भुत गति थी। रससिद्धिके लिए इन्होंने बड़ा परिश्रम किया था। सातवाहन इनको सम्मानकी दृष्टिसे देखता था; पर यह सातवाहन छत्तीस-गढ़का न होकर, प्रतिष्ठानपुर-पैठन (नाशिकके समीप) का था। दोनों नागार्जुनके जीवनकी विशिष्ट घटनाओंको गंभीरतापूर्वक देखें तो आंशिक साम्य परिलक्षित होता है। तन्त्रविषयक योगरत्नमाला और साधनामाला वग़ैरह कुछ ग्रन्थोंमें पर्याप्त भाव-साम्य है; पर जहाँतक भाषाका प्रश्न है, इन ग्रन्थोंके रचयिता नागार्जुन ही जान पड़ते हैं; क्योंकि सिद्धनागार्जुनके समय जैन संप्रदायमें अपने भावको संस्कृत भाषामें व्यक्त करनेकी प्रणाली ही नहीं थी। मेरे ज्येष्ठगुरु-बन्धु मुनि श्री मंगलसागरजी महाराज साहबके ग्रन्थ संग्रहमें नागार्जुन कल्प नामक एक हस्त लिखित प्रति है, उसमें भारतीय रस-चिकित्सा एवं अनेक प्रकारके महत्त्वपूर्ण व आश्चर्यजनक रासायनिक प्रयोगोंका संकलन है। इसकी भाषा प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। यह कृति

---

[1] भारतीय वाङ्मयके अमररत्न।

सिद्धनागार्जुनकी होनी चाहिए, क्योंकि प्राकृत भाषामें होनेसे ही, मैं इसे उनकी रचना नहीं मानता, पर कल्पमें कई स्थानोंपर पादलिप्तसूरिका नाम बड़े सम्मानके साथ लिया गया है, जो इनके सब प्रकारसे गुरु थे। प्रश्न रहा अपभ्रंश प्रतिलिपिका, इसका उत्तर भी बहुत सरल है। अत्यंत लोकप्रिय कृतियोंमें भाषाविषयक परिवर्तन होना स्वाभाविक बात है।

नागार्जुन और सिद्धनागार्जुन भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे विवेचनकी अपेक्षा रखते हैं। उभय-साम्य, समस्याको और भी जटिल बना देता है। सिद्धनागार्जुनके जीवन-पटपर इन ग्रन्थोंसे प्रकाश पड़ता है, प्रभावकचरित्र, विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसंग्रह और पिण्डविशुद्धिकी टीकाएँ आदि।

बौद्ध नागार्जुन, रामटेकमें रहा करते थे। आज भी वहाँ एक ऐसी कन्दरा है, जिसका संबंध, नागार्जुनसे बताया जाता है। "चीनी प्रवासी कुमारजीव नामक विद्वान्ने नागार्जुनके संस्कृत चरितका अनुवाद, चीनी भाषामें सन् ४०५ ई० में किया था" (रत्नपुर श्री विष्णुमहायज्ञ स्मारक ग्रन्थ पृ० ८१)। मध्यप्रदेशके प्रसिद्ध अन्वेषक स्व० डाक्टर हीरालालजी ने नागार्जुनपर निम्न पंक्तियोंमें अपने विचार व्यक्त किये हैं—

> "खीष्टीय तीसरी शताब्दीमें अन्यत्र यह सिद्ध किया गया है कि विदर्भ देशके एक ब्राह्मणका लड़का रामटेककी पहाड़ीपर मौतकी प्रतीक्षा करनेको भेज दिया गया था, क्योंकि ज्योतिषियोंने उसके पिताको निश्चय करा दिया था कि वह अपनी आयुके सातवें बरस मर जायगा। यह बालक रामटेकके पहाड़की एक खोहमें नौकरोंके साथ जा टिका। अकस्मात् वहाँसे खसर्पण महाबोधिसत्त्व निकले और उस बालककी

---

[1] स्व० डॉ० हीरालाल—मध्यप्रदेशीय भौगोलिक नामार्थ—परिचय पृष्ठ १२–१३।

कथा सुनकर आदेश किया कि नालेन्द्र विहारको चला जा, वहाँ जानेसे मृत्युसे बच जावेगा। नालेन्द्र अथवा नालिन्दा मगध देशमें बौद्धोंका एक बड़ा विहार तथा महाविद्यालय था। उसमें भर्ती होकर यह ब्राह्मण बालक अत्यंत विद्वान् और बौद्धशास्त्र-वेत्ता हो गया। इसके व्याख्यान सुननेको अनेक स्थानोंसे निमन्त्रण आये। उनमेंसे एक नाग-नागिनियोंका भी था। नागोंके देशमें तीन मास रहकर उसने एक धर्म-पुस्तक नागसहस्रिका नामकी रची और वहींपर उसको नागार्जुनकी उपाधि मिली, जिस नामसे अब वह प्रख्यात है। रामटेक पहाड़में अभीतक एक कन्दरा है जिसका नाम नागार्जुन ही रख लिया गया है।"

उपर्युक्त पंक्तिमें वर्णित समस्त विचारोंसे मैं सहमत नहीं हूँ। इसपर स्वतन्त्र निबन्धकी ही आवश्यकता है; पर हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि नागार्जुनने अपनी प्रतिभासे विद्वद्‌जगत्‌को चमत्कृत किया है। ८४ सिद्धोंकी २ सूचियोंमें भी एक नागार्जुनका[1] नाम है, पर वे कालकी दृष्टिसे बहुत बाद पड़ते हैं।

अलबेरुनी नागार्जुनके लिए इस प्रकार लिखता है—

"रसविद्याके नागार्जुन नामक एक ख्यातिप्राप्त आचार्य थे, जो सोमनाथ (सौराष्ट्र) के निकट देहकमें रहते थे, वे रसविद्यामें प्रवीण थे, एक ग्रन्थ भी उनने इस विषयपर लिखा है। वे हमसे १०० वर्ष पूर्व हो गये हैं[2]।"

अलबेरुनीका उपर्युक्त उल्लेख कुछ अंशोंमें भ्रामक है। मुझे तो

---

[1] श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—'नाथ सम्प्रदाय' पृ० २१, अलबेरुनीने इन्हीं नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन मान लिया है, जो स्पष्टतः उनका भ्रम है।

[2] दुर्गाशंकर के० शास्त्री—ऐतिहासिक संशोधन, पृ० ४१८।

ऐसा लगता है कि उसने सुनी हुई परम्पराको ही लिपिबद्ध कर दिया और वही आज हमारे लिए ऐतिहासिक प्रमाण हो गया। जहाँतक रसविद्याके विद्वान् व सौराष्ट्रके दैहिक निवासी होनेका प्रश्न है, मैं सहमत हूँ, जैन-साहित्य नागार्जुनको ढंकगिरिका निवासी, प्रमाणित करता है, जो सोमनाथके निकट न होते हुए भी सौराष्ट्र-देशमें तो है ही। सोमनाथके निकट लिखनेका तात्पर्य यह होना चाहिए कि उन दिनों उनकी ख्याति काफ़ी बढ़ी हुई थी, यहाँतक कि सोमनाथके नामसे सौराष्ट्रका बोध हो जाता था, इसलिए अलबेरूनीने भी वैसा ही लिख दिया। रसशास्त्रके आचार्य भी ढंकवाले नागार्जुन ही थे। अब प्रश्न रह जाता है दैहिक और ढंकके साम्यका। दैहिक या ऐसे ही नामका कोई ग्राम सोमनाथके निकट है या नहीं? ढंक सोमनाथसे कितना दूर पड़ता है, इसके निर्णयपर ही आगे विचार किया जा सकता है। इन पंक्तियोंसे इतना तो सिद्ध ही है कि अलबेरूनी भी रसशास्त्री नागार्जुनको सौराष्ट्रका मानता है। जिस ग्रन्थकी चर्चा उसने की है, मेरी रायमें वह नागार्जुनकल्प ही होना चाहिए।

अलबेरूनीने जो समय दिया है वह नवम शतीका अन्त भाग पड़ता है। यही उनका भ्रम है। इस भ्रमका भी एक कारण मेरी समझमें आता है वह यह कि ८४ सिद्धोंमें नागार्जुनका भी नाम आता है, इसका समय अलबेरूनीके उल्लेखसे मिलता-जुलता है। नागार्जुनके नाम-साम्यके कारण ही अल-बेरूनीसे यह भूल हो गई जान पड़ती है। सिद्धोंकी सूचीवाले नागार्जुन आयुर्वेदके ज्ञाता थे, यह अज्ञात विषय है।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध है कि कोई एक नागार्जुन रसतंत्रके आचार्य हो गये हैं और उनका आयुर्वेद-जगत्में महान् दान भी है। सुश्रुतके टीकाकार डल्हणका मत है कि सुश्रुतके प्रसिद्धकर्ता नागार्जुन ही हैं। रसवृन्द और चक्रपाणि लिखते हैं कि अमुक पाठ नागार्जुनने कहे हैं। माधवके टीकाकार विजयरक्षितने नागार्जुन कृत आरोग्यमंजरीके कई उद्धरण

उद्धृत किये हैं[1]। रसरत्नाकर और कक्षपुटल नागार्जुनकी रचना मानी जाती है।

अलबेरुनीकी भ्रामक परम्पराके आधारपर गुजरातके शोधक श्री दुर्गाशंकर भाई शास्त्रीने तीसरे—आयुर्वेदज्ञ—नागार्जुनकी कल्पना की है, पर उपर्युक्त विवेचनके बाद इस कल्पनाकी गुंजायश नहीं रहती।

वाकाटक

वाकाटकोंका साम्राज्य बुंदेलखंडसे लगाकर खानदेशतक फैला हुआ था। स्व० काशीप्रसाद जायसवालने इसका मूल स्थान वाकाट स्थिर किया है, जो वर्तमानमें ओड़छा राज्यान्तर्गत है। नागवंशी राजा भवनागका दौहित्र राजा रुद्रसेन था। इनको नानासे राज्याधिकार प्राप्त हुए थे। इस वंशके राजाओंके ताम्रपत्र मध्यप्रदेशके सिवनी, बालाघाट, अमरावती और छिन्दवाड़ा जिलेसे प्राप्त हुए हैं। इनकी राजधानी 'पुरिका''—प्रवरपुरमें थी[2]। वर्तमानका पौनार ही प्राचीन प्रवरपुर जान पड़ता है। यहाँपर प्राचीन अवशेष और सिक्के भी चातुर्मासमें मिल जाते हैं। यहाँ जैन मूर्तियाँ एवं मध्यकालीन लेख भी मिले हैं। मुझे कुछेककी छापें बाबू पारसमलजी सराफ एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा प्राप्त हुई थीं। मगधके सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने स्वपुत्री प्रभावती गुप्त रुद्रसेनको व्याही थी,

[1] दुर्गाशंकर के० शास्त्री—ऐतिहासिक संशोधन, पृ० ४१८।

[2] जनरल कनिंघमके मतानुसार वर्धा नदीका पूर्वी भाग वाकाटक राज्य था और संभवतः उनकी राजधानी भद्रावती—भांदक थी। प्रशस्तियोंमें ९ वाकाटक नरेशोंके नाम मिलते हैं। अजंटामें वाकाटक वंशकी जो प्रशस्ति है, उसके अनुसार वाकाटकोंने अपने निकटवर्ती निम्न राजाओंको जीता था—१ कुंतल (महाराष्ट्रका दक्षिण भाग) २ अवन्ती, ३ कलिंग, ४ कोसल, ५ त्रिकूट (थाना जिला), ६ लाट (दक्षिण गुजरात), ७ आन्ध्र (वारंगल)।

जिसका पुत्र प्रतापी प्रवरसेन (द्वितीय) हुआ (सन् ४४०) अजंटाके एक गुफा-लेखसे सिद्ध है कि अंतिम राजा हरिसेन (सन् ५२५) के आधीन गुर्जर, कलिंग, त्रिकूट, कोसल और आन्ध्र थे। कोसलका तात्पर्य छत्तीसगढ़से है।

कोशला मेकला मालवाधिपति-

मिरभ्यर्चितशासनस्य

दक्षिणके चौलुक्योंने वाकाटक साम्राज्यको समाप्त किया। राजा पुलकेशी (सन् ६१०) बड़ा प्रतापी व्यक्ति था। अजन्ताकी गुफाएँ वाकाटकोंसे बरारके अन्तर्गत रही हैं। इनके निर्माणमें मध्यप्रान्तके राजाओंने भी उत्साह भाग लिया था। अजंटा, वर्तमान कालमें बरारकी सीमासे सातवें मीलपर अवस्थित है। कुल मिलाकर २९ गुफाएँ हैं। इनमें कुछ चैत्य एवं विहार हैं। गुफाओंकी परिधि पूर्वसे पश्चिमकी ओर ६०० गजमें है। यद्यपि इनका निर्माण एक ही समयमें नहीं हुआ, प्रत्युत ईस्वी सन् पूर्व २०० से सन् ७०० तक होता रहा। ८-१२-१३ गुफाएँ सर्व-प्राचीन हैं।

६ और ७ पाँचवीं शताब्दी की है। संख्या १-५-१४-२९ गुफाओंका निर्माणकाल सन् ५००-६५० ईस्वी तकका है। १ संख्यावाली सबसे बादकी है। संख्या १६ में वाकाटक राजाका लेख उत्कीर्णित है।

अधिकांश चित्र और मूर्तियाँ भगवान् बुद्धके चरित्रसे संबंध रखती हैं, जिनका वर्णन जातकोंमें आया है। १६ वीं गुफामें बुद्धके ७ चित्र हैं। प्राणचक्र, विजयावतरण, कपिलवस्तु प्रत्यागमन, राज्याभिषेक, अप्सरा, महाहंस, गन्धर्व, मातृपोषी शिबिके दानृत्वके भी दृश्य हैं। नं० १में राज-नैतिक चित्र सम्राट् पुलकेशी-विक्रमादित्यका है। पुलकेशीका सम्बन्ध ईरानके सम्राट्से था। इस गुफामें जो चित्र है, उसमें ईरानके दूत द्वारा पुलकेशीको नज़राना दिया गया है। यह रंगीन चित्र इस प्रकार है:—

"पुलकेशी गद्दी बिछे हुए सिंहासनपर लम्बा गोलाकार तकियेके सहारे

बैठा है। पीछे स्त्रियाँ पंखा और चँवर लेकर खड़ी हैं। अन्य परिचारक स्त्री और पुरुष कुछ बैठे हैं और कुछ खड़े हैं। राजाके सामने बायीं ओर एक बालक (राजकुमार) और वे मुसाहिब बैठे हैं। राजा हाथ उठाकर मानो ईरानी दूतसे कुछ कह रहा हो।

राजाके सिरपर मुकुट, गलेमें बड़े-बड़े मोतियोंकी माला (साथमें माणिक भी लगे हैं), उसके नीचे जड़ाऊ कंठा, हाथोंमें भुजदण्ड और कड़े हैं। यज्ञोपवीतके साथपर पचलड़ी मोतियोंकी माला, प्रवर ग्रन्थियोंके स्थानपर ५ बड़े मोती, कमरमें रत्नजड़ित करधनी है। घुटनेके ऊपरतक काछनी पहने हैं, सारा शरीर खुला हुआ है और दुपट्टा समेटकर तकियेके सहारे है। शरीर प्रचण्ड गोरा और पुष्ट है।

पुरुष जो वहाँपर हैं, सभी एकमात्र धोती पहने हुए हैं। दाढ़ी और मूछें भी नहीं हैं। स्त्रियोंके शरीरपर साड़ी और स्तनोंपर पट्टियाँ बँधी हैं। राजाके सामने ईरानी दूत हाथमें मोतियोंकी माला लेकर भेंट कर रहा है। उसके पीछे दूसरा ईरानी हाथमें बोतलके समान वस्तु लिये खड़ा है। तीसरा हाथमें थाल लिये खड़ा है, चौथा बाहरसे कुछ वस्तुएँ लेकर द्वारमें प्रवेश कर रहा है। उसके पास जो खड़ा है, उसके कमरमें तलवार है। द्वारके बाहर कुछ ईरानियोंके साथ अन्य दर्शक भी खड़े हैं, पास ही घोड़े भी। ईरानियोंके सारे शरीरपर वस्त्र हैं। सिरपर ईरानी टोपी, कमरतक अँगरखा, चुस्त पैजामा, पैरोंमें मोजे भी हैं। सबके दाढ़ी और मूछें हैं।

दरबारमें सुन्दर बिछायत है और फर्शपर सुन्दर फूल बिखरे हैं। सिंहासनके आगे पीकदानी और उसके पास ही एक चौकीपर पानदान और अन्य पात्र रखे हैं। दीवालें सुन्दर बनी हैं। (Plate No. 5)

अजण्टाकी चित्रकारीका निर्माण इतना सुचारु है, शैली शुद्ध और परिष्कृत है। नमूने और आदर्श विविध हैं। रंग प्रयोग इतना आनन्ददायक है कि इन चित्रोंकी बराबरी संसारके अन्य चित्र नहीं कर सकते। यहाँकी चित्रकारीमें जीवन है। मनुष्योंके चेहरे उनकी मानसिक

है। चीनी यात्री द्वारा वर्णित भद्रावती यही है। यात्रीने जिन गुफाओंका वर्णन किया है, वे यहाँसे एक मीलकी दूरीपर हैं और इस समय बीजासन नामक गुफाके नामसे विख्यात हैं। एक ही पहाड़ी काटकर ये गुफाएँ बनाई गई हैं। एक सीधी तथा बगलमें छोटी गलियें निकालकर, इस प्रकार एक ही गुफाको तीन गुफाओंका रूप दे दिया गया है। तीनों गुफाओंके मुख्य गर्भगृहमें भगवान् बुद्धकी विशाल प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं। सामनेके भागमें जाते हुए दाहिनी ओर एक छोटी-सी कोठरी है, जिसमें तीन चार व्यक्ति सरलतापूर्वक रह सकते हैं। परन्तु वायुका प्रवेश यहाँ अब संभव नहीं जान पड़ता। गुफाके ऊर्ध्व भागमें चार बड़े छिद्र दिखलाई पड़ते हैं। संभव है वायु प्रवेशार्थ निर्माण किये होंगे, पर अब तो बन्द-से हो गये हैं। गुफाके ऊपर जो पहाड़ीका भाग है, वह ज्यादा ऊँचा नहीं है। अतः वायु-प्रवेशार्थ छिद्र बनाना भी स्वाभाविक है। बुद्ध भगवान्की प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे तो मूल्यवान् हैं, पर आवश्यकतासे अधिक सिन्दूर लग जानेसे कलात्माका साक्षात्कार नहीं होता। यहाँ प्रश्न उठता है कि इन गुफाओंका निर्माता कौन था? तत्रस्थ एक शिलालेखमें वहाँके बौद्ध राजा सूर्यघोष द्वारा बौद्ध मन्दिर बनवाये जानेका वर्णन है। इस राजाका पुत्र महलके शिखरपरसे गिर गया था। उसीकी स्मृतिके लिए यह गुफा—मंदिर बनवाया गया। सूर्यघोषके पश्चात् उदयन और तदनन्तर भवदेवने सुगतके मन्दिरका जीर्णोद्धार किया[1]। एक समय भद्रावती नगरी बौद्ध-संस्कृतिका विशाल केन्द्र था। चीनी यात्रीके वर्णनसे ज्ञात होता है कि वहाँ १४ सौ भिक्षु निवास करते थे। आज भी वहाँ भूमिमें अधगड़े गृह पर्याप्त परिमाणमें विद्यमान हैं। यदि वहाँ खनन किया जाय तो निःसंदेह बौद्ध संस्कृति एवं शिल्पकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाले, अतीतके भव्य प्रतीक प्राप्त होनेकी पूर्ण संभावना है। चातुर्मासके बाद कई स्थानोंपर

---

[1] राय बहादुर स्व० डा० हीरालाल—मध्य प्रदेशका इतिहास पृ० १३।

उनका भी संबंध बौद्धोंसे होना चाहिए। यद्यपि पद्मासनस्थ प्रतिमाओंके कारण कुछ लोग इसे जैन गुफा प्रसिद्ध करते हैं[1]।

सोमवंशके परवर्ती शासकोंके साथ गुप्त नाम भी जुड़ गया। जिससे इतिहासकारोंने इनकी परिगणना इनके पिछले गुप्तोंमें कर ली।

बरार प्रान्तमें बौद्ध धर्मसे संबंधित अवशेष मिलते हैं, वे उपर्युक्त वंशके कारण ही। मध्यप्रदेशकी सीमापर अवस्थित 'अजण्टा'की गुफाएँ भी अविस्मरणीय हैं। इनका विकास भी क्रमिक रूपसे हुआ था। सोमवंशी नरेशोंके समय अजण्टाके बौद्ध श्रमणोंका आवागमन बरारमें निश्चित रूपसे होता रहा होगा। जनता भी उनके उपदेशोंसे अनुप्राणित होती रही होगी।

सोमवंशी शैव कब हुए?

सोमवंशीय शासक श्रीपुर—सिरपुर (ज़िला रायपुर) में आये तो बौद्ध थे या शैव, यह एक समस्या है। स्व० डा० हीरालालजीका मत है कि वे भद्रावतीमें ही शैव हो गये थे और बादमें उन्होंने अपनी राजधानी महानदीके किनारे श्रीपुरमें स्थानान्तरित की[2]। मैं डा० साहबके इस कथनसे सहमत नहीं हूँ। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि सोमवंशी पांडव श्रीपुर आनेके बाद भी कुछ कालतक बौद्ध बने रहे, जैसा कि सिरपुर व तत्सन्निकटवर्ती[3]

---

[1] जैन एण्टीक्वेरी, दिसम्बर १९५०, पृ० ३९-४०।

[2] "मध्यप्रदेशका इतिहास" पृष्ठ २३।

[3] "द्रुग बहुत प्राचीन स्थान है। यहाँपर एक बुद्धकी मूर्ति तथा ऐसे कई चिह्न मिले हैं, जिनसे जान पड़ता है कि यहाँ बौद्धमतका बड़ा प्रचार था। पाली अक्षरोंमें (भाषामें) यहाँपर एक लेख भी मिला था"

द्रुग-दर्पण पृ० ७३।

प्रदेश स्थित पुरातन बौद्धावशेष व एक शिलोत्कीर्ण[1] लेखसे सिद्ध होता है। बौद्धधर्मका मुद्रालेख तत्कालीन वैदिक व जैन प्रतिमाओंमें भी पाया जाता है, जो बौद्धोंके व्यापक प्रचारके उदाहरण हैं। इस कल्पनाके पीछे ऐतिहासिक तथ्य है, वह यह कि आठवीं शताब्दी बादकी यहाँपर अनेक बौद्ध प्रतिमाएँ पाई गई हैं। उनमेंसे जो गन्धेश्वर मंदिरस्थ प्रस्तर मूर्तियाँ हैं, उनकी रचना-शैली महाकोसलीय मूर्तिकलाके प्रतीक-सम होती हुई भी, परिकरान्तर्गत प्रभावली पर गुप्तकालीन आलेखनोंका स्पष्ट प्रभाव है। धातु-मूर्तियाँ भी उपर्युक्त प्रभावसे अछूती नहीं हैं। उभय प्रकारकी कतिपय प्रतिमाओंपर ये धम्मा हेतु पभवा और देय धम्मोऽयम् बौद्ध मुद्रालेख उत्कीर्णित हैं। इनकी लिपि अष्टम शतीके बादकी है। ऐसे ही लेखोंको देखकर शायद डाक्टर हीरालालजी[2] ने लिखा है कि अशोकके समयके लगभग एक सहस्र वर्ष पीछेकी मूर्तियाँ भेड़ाघाट और त्रिपुरीमें पाई जाती हैं। पर डाक्टर साहबका यह कथन भी सर्वांशतः सत्य नहीं ठहरता, कारण कि त्रिपुरीमें अवलोकितेश्वर और भूमि-स्पर्श मुद्रास्थित बुद्धदेव की,जो मूर्तियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, वे कलचुरि-कालीन मध्यकालकी सुन्दरतम कृतियाँ हैं। अर्थात् इनका रचनाकाल ११ वीं शती बादका नहीं हो सकता। अवलोकितेश्वरकी अग्रपट्टिकापर जो लेख उत्कीर्णित है, उसकी लिपि महाराजा धंगके ताम्रपत्रोंसे पर्याप्त साम्य रखती है। निष्कर्ष कि भले ही साहित्यिक प्रमाणोंसे प्रमाणित न हो कि बौद्ध धर्मका अस्तित्व महाकोसलमें ११ वीं शतीतक था, परन्तु पुरातत्त्वके प्रकाशसे तो यह मानना ही पड़ेगा कि ११वीं शतीके मध्य भागतक न केवल महाकोसलमें ही अपितु, तत्समीपस्थ विन्ध्यप्रदेशमें भी आंशिक रूपसे बौद्ध-संस्कृति जीवित थी, जिसके प्रमाण-स्वरूप चन्देलकालीन अवलोकितेश्वरकी प्रतिमाको रखा जा सकता है।

---

[1] जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०१ पृ० ६२४-२६।

[2] मध्यप्रदेशका इतिहास पृ० १२।

बौद्धपरम्पराके इतिहाससे स्पष्ट है कि जहाँ कहीं भी बौद्ध धर्म फैला, वहाँ देशकालकी परिस्थितिके अनुसार, उसकी तान्त्रिक परम्परा भी क्रमशः फैली। ऐसी स्थितिमें महाकोसल इसका अपवाद नहीं हो सकता। यद्यपि अद्यावधि यह निर्णीत नहीं किया जा सका है कि महाकोसलमें भी बौद्धोंकी तान्त्रिक परम्परा सार्वत्रिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी, न अधिक बौद्ध साहित्यिकोंने ही इसपर प्रकाश डाला है, किन्तु समसामयिक साहित्यके तलस्पर्शी अध्ययन व अन्वेषित कलाकृतियोंके आधारपर, बिना किसी संकोचके कहा जा सकता है कि महाकोसलमें भी किसी समय न केवल बौद्ध-मान्य तन्त्र-परम्परा ही प्रचलित थी, अपितु उनके बड़े-बड़े साधना-स्थान भी बन चुके थे, वह इस प्रकार जनजीवनमें घुल-मिल गई थी कि बड़े-बड़े कवियों और दार्शनिकों तकको इस धारापर प्रतिबन्ध लगानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई थी। भारतीय तान्त्रिक परम्पराका अन्वेषण मुझे यहाँ नहीं करना है, मुझे तो केवल महाकोसलमें विकसित तान्त्रिक परम्पराके प्रचारमें बौद्धोंका दान कितना है? यही देखना है।

महाकोसलका सांस्कृतिक अन्वेषण तबतक अपूर्ण रहेगा जबतक भवभूतिके साहित्यका भलीभाँति अध्ययन नहीं हो जाता। कभी कभी एक साधारण घटना भी, घटना विशेषके साथ संबंध निकल आनेपर, इतिहासकी उलझी हुई समस्या, सरलतापूर्वक सुलझा देती है। भवभूति, बौद्धोंके तान्त्रिक परम्पराके विकासका पूरा इतिहास उपस्थित कर देते हैं। सोमवंशी नरेश भाण्डकमें रहे तबतक बौद्ध थे। सिरपुर आनेके कुछ समय पश्चात् शैव हुए; जब महाकोसलमें इन्होंने अपनी राजधानी परिवर्तित की, उस समय वे तान्त्रिक परम्परा भी साथ लाये। भद्रावतीमें सौसे अधिक संघारामोंकी चर्चा श्यूआन-चुआङने अपने भ्रमण-वृत्तांतमें की है। सिरपुरके समीप तुरतुरियामें भी बौद्ध भिक्षुणियोंका स्वतन्त्र मठ स्थापित किया गया था। ये विहार तन्त्र-परम्पराशून्य नहीं थे। अस्तु।

अभिनव गवेषियोंने निश्चित घोषणा की है कि आठवीं शताब्दीके महाकवि भवभूति पद्मपुर (ज़िला भंडारा, आमगाँव स्टेशनसे १ मील) के निवासी थे। जिस पद्मपुरका उल्लेख कविने वीरचरित्रके प्रथम अंकमें किया है वह उपर्युक्त पद्मपुर ही जान पड़ता है। पद्मपुरके निकट आज भी एक छोटीसी पहाड़ी है, जिसकी प्रसिद्धि भवभूतिकी टोरियाके नामसे है। कुछ अवशेषोंको रखकर उन्हें भवभूतिके रूपमें पूजते हैं। मालतीमाधवमें भवभूतिने अपने समयकी तान्त्रिक परम्पराका जो चित्र खींचा है, वह समसामयिक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमिसे फलित होता है। उन दिनों महाकोसल में बौद्ध व शैव तान्त्रिकोंका बाहुल्य था। आपसी प्रेम भी था। भवभूतिने उपर्युक्त नाटकमें बौद्धोंके तान्त्रिक समाजकी आन्तरिक दशाका विवरण दिया है। विशेषकर परिव्राजिका कामन्दकीका चरित्र बौद्ध भिक्षुणीके सर्वथा प्रतिकूल है, जो बौद्धोंकी भग्न दशाका सूचक है। वह मालतीको उनकी सौभाग्य-वृद्धिके लिए शिवपूजार्थ, चतुर्दशीके दिन पुष्प चुननेतकको भेजती है[1]। इन्हींकी एक शिष्या सौदामिनी बौद्धधर्मका परित्याग कर किसी अघोरी अघोरघण्टकी चेली बन जाती है। आश्चर्य तो इस बातका है कि कामन्दकी का समर्थन सौदामिनीको प्राप्त है[2]। अघोरघण्ट शैव परम्पराके क्रूर तान्त्रिक थे।

उपर्युक्त घटनासे ज्ञात होता है कि ह्रासोन्मुखी बौद्ध तान्त्रिक परम्परा क्रमशः शैव परम्परामें घुल-मिल गई, कारण कि साधकोंकी साधना-पद्धति भिन्न होती हुई भी, कुछ अंशोंमें समान थी। भवभूति तान्त्रिक

---

[1] "वन्द्या त्वमेव जगतः स्पृहणीयसिद्धिः
एवं विधैर्विलसितैरसिबोधिसत्त्वः।
यस्याः पुरापरिचयप्रतिबद्धबीज—
मुद्भूतभूरिफलशालि विजृम्भितं ते॥"

समाजसे घृणा करते थे। पर उस समय यह परम्परा इतनी विकसित हो चुकी थी कि उसका विरोध करना बहुत कठिन था। पाशुपतोंको वेदबाह्य घोषित करने पर शंकराचार्य जैसे विद्वान्‌को प्रच्छन्न बौद्ध होनेका अपयश भोगना पड़ा था।

श्रीपुर-सिरपुर—

रायपुरसे सम्बलपुर जानेवाले मार्गपर कडवाँझर नामक ग्राम पड़ता है। यहाँ से तेरहवें मीलपर सिरपुर अवस्थित है। घनघोर अटवीको पारकर जाना पड़ता है। महानदीके तीरपर बसा हुआ यह सिरपुर इतिहास और पुरातत्त्वकी दृष्टिसे कई मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत करता है। महाकोसलके सांस्कृतिक इतिहासकी कड़ियोंको सुरक्षित रखनेवाले नगरोंमें सिरपुरका अपना स्वतन्त्र स्थान है। निर्माण, विकास और रक्षाका संगम स्थान सिरपुर आज उपेक्षित, अरक्षित दशामें दैनन्दिन विनाशकी ओर आगे बढ़ रहा है। यहाँकी भूमि मानो कलाकृतियाँ ही उगलती है। जहाँ कहीं भी खनन किया जाय मूर्तियाँ, कोरणीयुक्त पत्थर तुरन्त निकल पड़ेंगे। जितने वहाँ मन्दिर हैं, उतने आज उपासक भी नहीं हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम हैं जिसका आनन्द शायद ही कोई कलाकार ले सकते होंगे। तात्पर्य कि सिरपुर किसी समय भले ही श्रीपुर—'लक्ष्मीपुर' रहा होगा, पर आज तो यह संस्कृति प्रकृति और कलाका सुन्दर संगम स्थल है।

नगरमें प्रवेश करते ही एक उच्चस्थान पड़ता है, जिसमें खंडहरके लक्षण परिलक्षित होते हैं। इस खण्डहरमें प्रवेश करते समय मुझे थोड़ासा रक्त-दान भी करना पड़ा—वह इसलिए कि काँटोंके वृक्ष इतने सघन थे, कि बिना भीतर-प्रवेश किये कोई भी वस्तु स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती थी। खण्डहरके ठीक-मध्यभागमें भगवान् बुद्धदेवकी भव्य और विशाल प्रतिमा ज़मीनमें गड़ी हुई थी। कमरतक छः फ़ुटकी होती

थी, इसीसे उसकी विशालताका अनुमान किया जा सकता है। मुद्राभूमि-स्पर्श—तारा और अवलोकितेश्वरके दो प्रतिमाखण्ड भी—जो लेखयुक्त हैं—विद्यमान हैं। समीप ही किरौंचका जंगल पड़ता है, इसमें भी ऐसी तीन मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं। एक तो स्तम्भपर ही उत्कीर्णित है। कलाकारने इस लघुतम प्रतीकमें बुद्धदेवके जीवनकी वह घटना बताई है, जो सर्वप्रथम राजगृह जानेपर घटी थी। विशेषकर हाथीका बुद्धदेवके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

महानदीके तटपर गन्धेश्वरमहादेवका एक मन्दिर है। इसमें भी बुद्ध-प्रतिमाओंका जो संग्रह है, वह निस्सन्देह कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। आधे दर्जनसे अधिक प्रतिमाएँ तो भूमि-स्पर्श मुद्राकी ही हैं, जो काफ़ी विशाल और उज्ज्वल व्यक्तित्वकी परिचायक हैं। उनमेंसे कुछेकपर खुदे हुए लेख व अलंकारपूर्ण प्रभामंडलसे यही ज्ञात होता है कि उनकी आयु तेरह सौ वर्षसे कम नहीं है। गुप्तकालीन प्रभाव स्पष्टतः परि-लक्षित होता है। सूचित प्रतिमाओंमें बोधिवृक्षकी पत्तियाँ अत्यन्त कुशलता-पूर्वक व्यक्त की गई हैं। चीवर अधिकांशतः पारदर्शी हैं—प्रतिमाओंके निम्न भागमें नारी-मूर्ति है, जो पृथ्वीका प्रतीक है। एक शिलापट्टका उल्लेख बड़े खेदके साथ करना पड़ रहा है कि यह जितना महत्त्वपूर्ण एवं इस प्रान्तमें अन्यत्र अनुपलब्ध है, उतना ही अरक्षित और उपेक्षित भी है। भगवान् बुद्धदेवकी मार-विजयवाली घटनाएँ चित्रित तो मिलती हैं, किन्तु पत्थरोंपर खुदी हुई बहुत ही कम। यहाँके मंदिरमें छः फुट लम्बी ३॥ फीट चौड़ी (६×३॥) प्रस्तर शिलापर मारविजयकी घटनाको रूपदान देकर, कलाकारने न केवल अपने सुकुमार व भावपूर्ण हृदयका ही परिचय दिया है वरन् उससे कलाकारकी चिरकालीन दीर्घ तपस्याका भी अभिबोध होता है। शृंगार एवं शान्तरसका एक ही स्थानपर ऐसा समन्वय अन्यत्र कमसे कम बौद्ध-कला-कृतियोंमें कम दृष्टिगोचर होगा। कहाँ तो उद्दीपित सौन्दर्ययुक्त नारीमुख एवं कहाँ साधककी सम्पूर्ण विरागता और प्राकृ-

तिक शान्ति। यह पट्ट जाने-आनेवाले यात्रियोंके आरामके लिए कुर्सीका काम देता है।

लक्ष्मणदेवालय जाते हुए मार्गमें विशाल जलाशय पड़ता है, उसके तीरपर हिन्दू देव-देवताओंके मन्दिरोंमें—झोपड़ियोंमें अवलोकितेश्वर, तारा, वज्रयान आदि तान्त्रिक नग्न मूर्तियाँ अवस्थित हैं। सिन्दूरसे इस प्रकार लीप पोत दी गई हैं कि उसकी कला व भाव छिप-से गये हैं। मूर्तियाँ लेखयुक्त हैं। लक्ष्मणदेवालयके समीप ही भारतीय पुरातत्त्व विभागकी ओरसे साधारण व्यवस्था की गई है जहाँ सिरपुरसे प्राप्त कतिपय अवशेष रखे तो गये हैं सुरक्षाकी दृष्टिसे, पर हैं पूर्णतः अरक्षित। बरामदा टूट-सा गया है। इसकी मरम्मत बहुत आवश्यक है।

धातु-प्रतिमाएँ

सिरपुरका सात्त्विक परिचय संविदित है। इसका महत्त्व सांस्कृतिक दृष्टिसे तो है ही, पर बहुत कम लोग जानते हैं कि यहाँपर न केवल पुरातन मन्दिर, शिला व ताम्रलिपियाँ ही उपलब्ध होती हैं, अपितु प्रान्तके सांस्कृतिक मुखको आलोकित करनेवाली अत्यन्त सुन्दर सुगठित व कलापूर्ण धातु-प्रतिमाएँ भी प्राप्त होती हैं। यों तो भारतमें अन्य स्थानोंमें भी तथाकथित मूर्तियाँ मिलती हैं, पर सिरपुरका धातु-मूर्ति-संग्रह अपने ढङ्गका अनोखा है। एक ही कालकी सुन्दरतम कला-कृतियोंका इतना बड़ा संग्रह मैंने तो मध्यप्रान्तमें क्या, बिहारको छोड़कर कहीं नहीं देखा है। प्राप्त प्रतिमाओंका परिचय इस प्रकार है और इनकी संख्या लगभग २५ है।

एक प्रतिमा ११॥×६॥ इंच है। मध्य भाग अंडाकृतिसूचक है। इसपर भगवान् बुद्ध, दक्षिण हस्त पृथ्वीकी ओर तथा वामगोदमें रक्खे हुए, विराजमान हैं। निम्न भागमें मंगल मुख हैं। मस्तकके पास दो भिक्षुओंकी आकृति इस प्रकार बनी है; जैसी नालन्दाके खंडहरस्थित

दिलवाबुद्धकी मूर्तिमें बनी हैं। ये आकृतियाँ सारीपुत्त और मोग्गलायनकी होनी चाहिए। पृष्ठभागमें जो स्तम्भाकृति है, वह साँचीके तोरणद्वारके अनुरूप है। तोरणकी मध्यवर्ती पट्टिकाके पीछे दो पंक्तियोंमें—

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतोऽवदत्त
अवदंच ये निरोधो एवं वादी महाश्रमणः
देय धम्मोऽयम्

मुद्रालेख उत्कीर्णित है। मूर्तिका मुख-मण्डल न केवल नेत्रानन्दका ही विषय है, अपितु उसकी नैसर्गिक सौन्दर्य-आभा हृत्तन्त्रीके तारोंको झंकृत् कर, आत्मस्थ सौन्दर्य उद्बुद्ध करती है। भगवान्‌के दैविक तथा आध्यात्मिक भावोंको लेकर कलाकारने इसका निर्णय किया है।

एक अन्य प्रतिमा, जो कमलपर विराजमान है। यह भी ऊपरवाली मूर्तिके समान ही भावसूचक है, पर इसमें व्यक्ति प्रधान न होकर सौन्दर्य प्रधान है। इसके अंग-प्रत्यंगपर कलाकारकी सफल साधना उद्दीपित हो उठी है। एक प्रतिमा तारादेवीकी भी है। इसमें वस्त्र-विन्यास एवं आभूषणोंका चयन, जिस सफलताके साथ व्यक्त किया गया है, वैसा कम-से-कम मध्यप्रदेशमें तो कहीं नहीं मिलेगा। वस्त्रके एक-एक तन्तु गिने जा सकते हैं। उसकी सिकुड़न कम विस्मयकारिणी नहीं। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि वस्त्र और चोलीके स्थानपर उत्तरीय पट है, उसमें बारीक किनार है। मध्य भागमें जामेट्रिकल वेल-बूटे हैं। कहीं-कहीं चाँदीके गोल फूल, मूँगके दानेके बराबर, लगाये गये हैं। केशविन्यास व नागावलि गुप्तकालीन है। मस्तकपर जो मुकुट है, उसमें तथा कटि-मेखलाके मध्यवर्ती रिक्त स्थानमें क्रमशः पुखराज और माणिक जड़े हुए हैं। मूर्ति ६॥×५॥ इंच है।

चौथी मूर्ति अपने ढंगकी एक ही है। एक व्यक्ति कमलासनपर विराजित है। निम्न भागमें टहनीयुक्त कमलपत्र अपनी स्वाभाविकताको

लिये हुए है। इसपर व्यक्तिका दायाँ चरण स्थापित है। बायाँ चरण नाभि प्रदेशके निम्न भागमें है। हाथ पुस्तिकासे सुशोभित है। व्यक्तिकी मुख-मुद्रासे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अध्ययन एवं मननमें बहुत ही व्यस्त है। आँखोंके ऊपरका भाग उठकर भालस्थलपर रेखाएँ खिंच गई हैं—जैसे कोई बहुत बड़ी समस्याओंने उलझा रक्खा हो। कानोंमें कुंडल हैं। जटा बिखरी हुई हैं। पारदर्शक एक उत्तरीय वस्त्र अव्यवस्थित रूपसे पड़ा है। कलाकारने इस प्रतिमामें गहन चिन्तन मुद्राको ऐसा मूर्त किया है, कि देखते ही बनता है।

इन मूर्तियोंके अतिरिक्त एक दर्जनसे अधिक प्रतिमाएँ भगवान् बुद्धदेवके जीवन-क्रमपर प्रकाश डालनेवाली घटनाएँ प्रस्तुत करती हैं। मैं उनमेंसे एक विशाल प्रतिमाके परिचय देनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता। मुझे इस प्रतिमाने बहुत प्रभावित किया। १५ इंच चौड़ी और ८ इंच लम्बी धातु-पट्टिकापर जीवनकी तीन घटनाएँ सामूहिक रूपसे अंकित हैं। प्रथम घटना 'मारविजय' की है। इसमें सबसे बड़ी कुशलता यह दृष्टिगोचर होती है कि महाकोसलके सक्षम कलाकारने गतिशील भावोंको, अपनी चिरसाधित छैनीसे तादृश रूपसे स्थितिशील कला द्वारा व्यक्त करनेका सफल प्रयास किया है। नारियोंके नृत्यकालीन अंगोंकी मुकड़नके साथ नेत्रोंपर पड़नेवाला प्रभाव व नारी-सुलभ चाञ्चल्य प्रत्येकके मुखपर परिलक्षित होता है। महाकोसलीय नारी-मूर्ति कला व नृतत्त्व शास्त्रीय परम्पराके प्रकाशमें जिसे यहाँकी नारियोंका अध्ययन करनेका सुअवसर मिला है, वे ही इस पट्टिकान्तर्गत उत्कीर्णित नारियोंकी प्रादेशिक मौलिकताका व शारीरिक गठनका अनुभव कर सकते हैं। संगीतके विभिन्न उपकरणोंमें यहाँ एक बाँस भी है। वंशवादन आज भी महाकोशलकी आदिवासी जातियोंके लिए सामान्य बात है। आभूषण भी विशुद्ध महाकोसलीय ही हैं, कारण कि तात्कालिक व तत्परवर्ती दो शताब्दियों तक वैसे आभूषण प्रस्तरादि मूर्तियोंमें व्यवहृत हुए हैं।

दूसरी घटना बुद्धदेवके निर्वाणसे सम्बद्ध है। एक लम्बी चौकीपर, सुन्दर गोल तकियेके सहारे बुद्धदेव लेटे हुए हैं। एक शिष्य सिरहाने व तीन चरणके पास अशोक मुद्रामें बैठे हैं।

तीसरी घटना बुद्धदेवकी तपश्चर्याका परिचय देती है। निकट ही बंदरोंका यूथ भी बताया गया है। अन्य धातु-मूर्तियाँ इतनी नग्न और प्रदर्शित हैं कि उनका शब्दचित्र मेरी लेखनीका विषय नहीं हो सकता। जिन्होंने नेपाली व तिब्बतीय तन्त्र-परम्परामान्य वज्रयानकी तान्त्रिक मूर्तियाँ देखी हैं, वे इन मूर्तियोंकी कल्पना भलीभाँति कर सकते हैं। तीन ऐसी मूर्तियाँ हैं, जिनकी कमल पँखुरियोंपर स्वर्गादित्य और मैत्रेय ये नाम कहे जाते हैं।

मूर्तियोंकी प्राप्ति व निर्माणकाल

इतने विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये मूर्तियाँ कहाँसे आईं और इनका निर्माणकाल क्या हो सकता है?

वर्तमानमें यह सब धातु-मूर्तियाँ वहाँके भूतपूर्व मालगुजार श्यामसुन्दरदासजी (खंडूदाऊ[1]) के अधिकारमें हैं। वे बता रहे थे कि सिरपुरमें सरोवरके तीरपर एक मन्दिर है, उसमें खुदाईका काम चल रहा था, जब जमीनमें सब्बल लगते ही खनखनाहट भरी ध्वनि हुई, तब वहाँके पुजारी मंगलदासने कार्य रुकवाकर नौकरोंको विदा किया और स्वयं खोदने लगा। काफी खुदाईके बाद, कहा जाता है कि एक बोरेमें ये मूर्तियाँ निकलीं और उसने उपर्युक्त मालगुजारको सौंप दी। विशुद्ध धार्मिक व सामन्तीय मानस होनेसे, पहिले तो वे स्वीकार करनेमें हिचके, पर स्वर्णसे चमचमाती हुई मूर्तियोंने उन्हें अपने घर लिवा ले जानेको बाध्य किया, जैसा कि कहीं-कहीं मूर्तियोंके उपांगोंपर पड़े हुए छैनीके चिह्नों

---

१. 'रायपुर जिलेमें स्थानीय अग्रवालोंकी प्रसिद्धि 'दाऊ' शब्दसे है।

से प्रतीत होता है। वे अपने निवासग्राम, गिधपुरी (जो सिरपुरसे २॥ कोस दूर है) ले गये। दैवसंयोगसे वहाँ उसी रातको भयंकर अग्नि-प्रकोप हुआ। परिवारके सदस्योंका स्वास्थ्य भी विकृत हो गया। भयभीत होकर दूसरे दिन ये मूर्तियाँ पुनः सिरपुर लाई गई। दाऊ साहबने अपने माल्गुज़ारी बाड़ेमें रखवा दीं। कभी-कभी भयके कारण इनपर पानी भी ढाल दिया जाता था और कभी धूप भी बता दिया जाता था। दाऊ साहब, यों तो इस सम्पत्तिके दर्शन हर एकको नहीं कराते हैं, शायद इसीलिए विज्ञजनोंकी दृष्टिसे अभीतक यह वंचित रहीं, मुझे तो उन्होंने उदारतापूर्वक न केवल दर्शन ही कराये अपितु आवश्यक नोट्स लेनेके लिए भी तीस मिनटका समय दिया था। यह घटना १६ सितम्बर १९४५की है। मुझे बताया गया कि मूर्तियाँ बोरेमेंसे मिलीं। इसमें सत्यांश कम है; क्योंकि कुछ मूर्तियोंपर मिट्टीका जमाव व कटाव ऐसा लग गया है कि शताब्दियों तक भू-गर्भमें रहनेका आभास मिलता है, जब कि बोरा इतने दिनोंतक भूमिमें रह ही नहीं सकता। संभव है किसी बड़े बर्तनोंमें ये मूर्तियाँ निकली हों, क्योंकि कभी-कभी बर्तन व सिक्के, वर्षाकालके बाद साधारण खुदाई करनेपर निकल पड़ते हैं।

महाकोसलकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिको देखते हुए इन मूर्तियोंका निर्माणकाल सरलतासे स्थिर किया जा सकता है। इनपर खुदी हुई लिपियोंसे भी मार्गदर्शन मिल सकता है। सातवीं शताब्दीके बाद भद्रावतीके सोमवंशियोंने अपना पाटनगर सिरपुर स्थापित किया। निस्सन्देह वे उस समय बौद्ध थे, जैसा कि उपर्युक्त प्रासंगिक विवेचन व इन मूर्तियोंसे स्पष्ट हो चुका है। मूर्तियोंपर खुदी हुई लिपियाँ सोमवंश-कालीन लेखोंसे साम्य रखती हैं। मूर्तिकला बहुत कुछ अंशोंमें गुप्तकलाका अनुधावन करती है, बल्कि स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाय, तो गुप्तकालीन मूर्तिकलामें व्यवहृत कलात्मक उपकरण व रेखांकनोंको स्थानीय कलाकरोंने पूर्णतः अपना

लिया है। ये मूर्तियाँ सम्भवतः महाकोसलमें ही ढाली गई होंगी। इनका निर्माणकाल ईसाकी आठवीं शती पूर्व एवं नवम शती बादका नहीं हो सकता। इन प्रतिमाओंको देखकर नालन्दा व कुर्किहारकी धातु-मूर्तियोंका स्मरण हो आता है। महाकोसलके सांस्कृतिक इतिहासमें इन प्रतिमाओंका सर्वोच्च स्थान है। तात्कालिक मूर्तिकलाका सर्वोच्च विकास एक-एक अंगपर लक्षित होता है।

तारादेवी

सिरपुरसे प्राप्त समस्त धातु-प्रतिमाओंमें तारादेवीकी मूर्ति सबसे अधिक सुन्दर और कलाकी साक्षात् मूर्ति सम है। महाकोसलकी यह कलाकृति इस भागमें विकसित मूर्तिकलाका प्रतिनिधित्व कर सकती है। भारतमें इस प्रकारकी प्रतिमाएँ कम ही प्राप्त हुई हैं। मुझे गन्धेश्वर मन्दिरके महन्त श्री मंगलगिरि द्वारा स० १९४५ दिसम्बरमें प्राप्त हुई थीं। इंग्लैंडके अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनीमें भी रखी गई थीं। दिल्लीमें भी कुछ दिनोंतक रहीं।

कलाके इस भव्य प्रतीककी ऊँचाई अनुमानतः १॥ फुटसे कम नहीं, चौड़ाई १२" इंचकी रही होगी। यों तो यह सप्तधातुमय है, पर स्वर्णका अंश अधिक जान पड़ता है। इतने वर्ष भूमिमें रहनेके बावजूद भी साफ़ करनेपर, उसकी चमकमें कहीं अन्तर नहीं पड़ा। किसी धनलोलुपने स्वर्णमय प्रतिमा समझकर परिकरकी एक मूर्तिके बायें हाथपर छैनी लगाकर, जाँच भी कर डाली है, चिह्न स्पष्ट है। यह परम सौभाग्यकी बात है कि वह छैनीसे ही सन्तुष्ट हो गया, वर्ना और कोई वैज्ञानिक प्रयोगका सहारा लेता तो कलाकारोंको इसके दर्शन भी न होते। परिकरके मध्यभागमें सुन्दर आसनपर तारा विराजमान है। दक्षिण करमें सीताफलकी आकृति-वाला फल दृष्टिगोचर होता है, सम्भवतः यह बीजपूरक होना चाहिए। वाम हस्त आशीर्वादका सूचक है—ऊपर उठा हुआ है। पद्म भी

स्पष्ट है। अंगुष्ठ और कनिष्ठामें अँगूठी है। दक्षिण अंगुष्ठमें वो अँगूठी दिखलाई पड़ती है, पर कनिष्ठा फलसे दब-सी गई है। दोनों हाथोंमें दो-दो कंकण और बाजूबन्द हैं, गलेमें हँसुली[1] और माला है, इनकी गोंठें इतनी स्पष्ट और स्वाभाविक हैं कि एक-एक तन्तु पृथक् गिने जा सकते हैं। कटिप्रदेशमें करधनी[2] बहुत ही सुन्दर व बारीक है, इसकी रचना

---

[1] हँसलीका प्रचार भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंमे सामान्य हेरफेरके साथ दृष्टिगोचर होता है। गुप्तकालीन प्रस्तर एवं धातु-मूर्तियोंमें एवं पहाड़पुर (बंगालके बारहवीं शतीके) अवशेषोंमें इसका प्रत्यक्षीकरण होता है, एवं हर्षचरित, कादम्बरी आदि तत्कालीन साहित्यसे फलित होता है कि उस समय रत्नजटित हंसलियोंका प्राचुर्य था। उसकी पुष्टिके लिए पुरातात्त्विक प्रमाण भी विद्यमान हैं। छत्तीसगढ़ प्रान्तमें तो हँसुली ही आभूषणोंमें शिरोमणि है। यहाँके प्राचीन लोक-गीतोंमें हँसुलीका उल्लेख बड़े गौरवके साथ किया गया है।

[2] कटिमेखला भी स्त्रियोंका खास करके प्राचीन समयका प्रधान आभरण था। यदि भिन्न-भिन्न प्रकारसे निर्मित कटिमेखलाओंपर प्रकाश डाला जाय तो निस्सन्देह एक ग्रन्थ सरलतासे तैयार हो सकता है।

भारतीय इतिवृत्त और पुरातत्त्वके अनुसन्धानकी उपेक्षित दिशाओंमें आभूषणोंका अन्वेषण भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। भारतके विभिन्न प्रान्तोंसे उपलब्ध होनेवाले आभूषण, उनमें कलात्मक दृष्टिसे क्रमिक विकास कैसे-कैसे कौन-कौनसी शतीमें होता गया, तात्कालिक साहित्यमें जिन आभूषणोंके उल्लेख मिलते हैं उनका व्यवहार चित्रों और स्थापत्य कलामें कबसे कबतक बना रहा ? और वे आभूषण प्रान्तीय कलाभेदसे किन-किन प्रकारसे कलाविदों द्वारा अपनाये गये, आदि विषयोंके अन्वेषणपर भारतीय विद्वानोंका ध्यान बहुत ही कम आकृष्ट हुआ है। ये आभूषण यों तो भारतीय आर्थिक विकास एवं सामाजिक प्रथा व लोक-सुरुचिके

भी साधारण नहीं हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक भाग है—इनका केश-विन्यास। यह केशविन्यास गुप्तकालीन कलाका सुस्मरण दिलाता है। केशराशि एकत्र होकर तीन आवलीमें मस्तकपर लपेट दी गयी है। प्रत्येक आवलीमें भी आभूषण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। विविध प्रकारके फूलोंसे गुँथा है। भालस्थलके ऊपरके भागमें सँवारे हुए केशोंपर एक पट्टी बँधी हुई है, जिससे केशराशि बिखरने न पावे। मध्य भागमें चणक प्रमाण स्थान रिक्त है। इसमें कोई बहुमूल्य रत्न रहा होगा, कारण कि सिरपुरकी और मूर्तियोंमें भी रत्न पाये गये हैं। अवशिष्ट केशोंकी वेणी दोनों ओर लटक रही है। कर्णमें कुंडलके[1] अतिरिक्त

परिचायक हैं परन्तु हमारा अनुभव है कि पुरातन शिल्पकलात्मक अवशेष देवदेवोंकी प्राचीन प्रतिमाएँ, जिनपर लेख उत्कीर्णित नहीं हैं, ऐसे कलात्मक उपकरणोंका समय निर्धारण करनेमें उपर्युक्त आभूषण अन्वेषण और मननमें सहायक हो सकते हैं। कभी-कभी ये अवशेष पुरातत्त्वकी मूल्यवान् कड़ियाँ जोड़ देते हैं, अतः भारतीय पुरातन शिल्पस्थापत्य-कलामें एवं साहित्यिक ग्रन्थोंमें प्राप्त होनेवाले आभूषणविषयक लेखोंका अध्ययन पुरातत्त्व और सांस्कृतिक दृष्टिसे आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य है।

[1]मध्यकालीन भारतमें कर्णमें विविध आभूषण परिधान करनेका उल्लेख पाया जाता है। कुछ प्राचीन मूर्त्तियाँ ऐसी मिली हैं जिनके कर्ण-सच्छिद्र हैं। आठवीं शतीके शिल्पावशेषोंमें इसका प्रचार प्रचुरतासे था। यों तो वाल्मीकि रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख आता ही है। प्रस्तुत प्रतिमाके केयूर आवश्यकतासे अधिक बड़े होते हुए भी सौन्दर्यकी रक्षा करते हैं। सिरपुरके भग्नावशेषोंमें केयूरोंका बाहुल्य है। इतना अवश्य है कि उत्तरभारतीय और पश्चिमभारतीय अवशेषोंमें उत्कीर्णित केयूरोंमें पर्याप्त विभिन्नत्व है। उत्तरभारतीय कुछ प्रतिमाओंमें हमने केयूर रत्नजटित भी देखे हैं।

पुष्पोंका बाहुल्य है। बायाँ भाग विशेष रूपसे सजा हुआ है, सदंड कमलसे गुँथा है। दायें कानमें आभूषण बायेंसे बिल्कुल भिन्न प्रकारके हैं, जो स्वाभाविक हैं। गुप्तकालीन अन्य मूर्तियोंमें इस शैलीका अभाव मिलता है। गलेकी त्रिवली बहुत साफ़ है। भौंहें सीधी हैं; जो गुप्तकालकी विशेषता है। भालस्थलकी छोटीसी बिन्दी, दोनों भौंहोंके बीच शोभित है। आँखोंका निर्माण सचमुच आकर्षक है। आँखें चाँदीकी बनाकर ऊपरसे जड़ दी गई हैं। मध्यवर्ती पुत्तलिका-भाग कटा हुआ है। नागावली और यज्ञोपवीत शोभामें अभिवृद्धि कर रहे हैं। ताराके वक्षस्थलपर चोली है, इसमें चाँदीके फूल जड़े हैं। साड़ीका पहनाव भी है। सम्पूर्ण साड़ीमें स्वाभाविक बेल-बूटे उकेरे हुए हैं। धातुपर इतना सुन्दर काम मध्यप्रदेशमें अन्यत्र नहीं मिला। मुखमुद्रा, शरीरकी सुघड़ता, कलाकारकी दीर्घकालीन साधनाका परिणाम हैं। इस प्रकार ताराकी भव्य प्रतिमा प्रेक्षकोंको सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मूल प्रतिमाके दोनों ओर स्त्रीपरिचारिकाएँ खड़ी हैं। दोनोंकी मुद्रा भिन्न है। दाईं ओर वाली स्त्री अपना दायाँ हाथ निम्न किये हुए है और बाँयें हाथमें सदंड कमल-पुष्प लिये है। कमलकी पँखुड़ियाँ बिल्कुल खिली हुई हैं। इनकी अँगुलियोंमें स्वाभाविकता है। बाईं ओर वाली स्त्री दोनों हाथमें पुष्प लिये समर्पित कर रही हो, इस प्रकार खड़ी है। बायें हाथमें कमल दंड फँसा रखा है। उपर्युक्त दोनों परिचारिकाओंके आभूषण, वस्त्र और केशविन्यास समान हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि दाईं ओरवाली परिचारिका, उत्तरीयस्त्र धारण किये है जब बायीं ओर केवक चोली ही है। तीनों प्रतिमाओंकी रचना इस प्रकार है कि चाहे जब परिकरसे अलग की जा सकती हैं। तन्निम्न भागमें ढली हुई ताम्रकील है। परिकरमें इनके लिए स्वतन्त्र स्थानपर छिद्र है।

मूर्तिका सौन्दर्य व्यापक होते हुए भी, बिना परिकरके खुलता नहीं है। इसके परिकरसे तो मूर्तिका कलात्मक मूल्य दूना हो जाता है। परि-

इसकी रचनाशैली विशुद्ध गुप्तकालीन है। इसके कलाकारकी व्यापक चिन्तन और निर्माण शक्तिका गंभीर परिचय, उसके एक-एक अंगसे भली-भाँति मिलता है। परिकरके निम्न भागमें कमलकी शाखाएँ, पुष्प और पत्र बिखरे पड़े हैं—ऐसा लगता है कि इन कमलकी शाखाओंपर ही मूर्ति आधृत है। कमलपत्रपर दाईं ओर जाँघिया पहने एक भक्त हाथ जोड़कर नमस्कार कर रहा है। उसके पीछे और सामनेवाले भागमें जाँघिया पहने एक व्यक्ति है, हाथोंमें पूजोपकरण है। इनके मस्तकोंपर सर्पकी तीन-तीन फनें हैं। जहाँ भक्त अधिष्ठित है, वहाँ एक चौकी सदृश भागपर जलयुक्त कलश, धूपदान और पंचदीपवाली आरती पड़ी हुई है। मुझे तो ऐसा लगता है मानो परिकरमें पूरे मंदिरकी कल्पनाको रूप दे दिया गया है। इस ढंगकी परिकरशैली अन्यत्र कम ही विकसित हुई होगी। पूजोपकरणके ऊपर एक उच्च स्थानपर दो सिंह हैं, तदुपरि एक रूमालका छोर लटक रहा है। इसके ऊपर पंचाकृति समान कमलासन है। कमलके इस आकारका अंकन बड़ा सफल हुआ है। कमलके अमुक समय बाद फल भी लगते हैं, जो कमलगट्टेके रूपमें बाजारमें बिकते हैं। तारा देवीका आसन भी कमलके फल लगनेवाले भागपर है[१]। कारण कि उसके आसनके नीचे गोल-गोल बिन्दु काफ़ी तादादमें हैं। कोर भी इससे बच नहीं पाई, जैसा कि चित्रसे स्पष्ट है। मुख्य आसनके दोनों ओर बैठे हुए हाथी, उनके गंडस्थलपर पंजे जमाये हुए, सिंह खड़े हैं। इनकी केशावली भी कम आकर्षक नहीं। मुख्य मूर्तिके पीछे जो कोरणीयुक्त दो स्तम्भ हैं वे गुप्तकालीन हैं। मध्यवर्ती पट्टी—जो दोनोंको जोड़ती है, विविध जातिकी कलापूर्ण रेखाओंसे विभूषित है। पट्टिकाके निम्न भागमें मुक्ताकी मालाएँ, वंदरवारके

---

[१] इन बिन्दुओंवाला आसन गुप्तकालीन है। प्रयाग संग्रहालयमें चंद्रप्रभ स्वामीकी मूर्तिके आसनमें ऐसा ही रूप प्रदर्शित है।

—महावीर-स्मृति ग्रन्थ, पृ० १६२।

समान हैं। दोनों स्तम्भोंके बीच बोधिवृक्षकी पत्तियाँ हैं। यह तोरण साँचीके तोरणद्वारकी अविकल प्रतिकृति है। तोरणके ऊपर मध्य भागमें भगवान् बुद्धदेव ध्यानमुद्रामें हैं। पीछेके भागमें गोल तकिया दिखलाई पड़ता है। भामंडल विशुद्धगुप्तकालीन है। ऊपर मंगलमुख है। आजू-बाजू वज्रयानकी मूर्तियाँ हैं।

इस प्रतिमाको देखकर भारतके कलामर्मज्ञ श्री अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली, शिवराममूर्ति, मुनि जिनविजयजी, आदि कलाप्रेमियोंने इसका निर्माण काल अन्तिम गुप्तयुग स्थिर किया है। इस युगकी मूर्तिकलाकी जो-जो विशेषताएँ हैं, वे प्रासंगिक वर्णनके साथ ऊपर आ चुकी हैं।

डा० हजारीप्रसादजीके मतसे यह वज्रयानकी तारा है।

तारादेवीके अतिरिक्त जो धातुमूर्तियाँ सिरपुरमें विद्यमान हैं, उनका अस्तित्व समय भी अन्तिम गुप्तकाल ही माना जाना चाहिए। छींटके वस्त्रका सर्वप्रथम पता हमें अजंटाके चित्रोंसे लगता है। मूर्तिकलामें भी उसी समय इसका व्यवहार होने लगा था। धातुमूर्तियोंपर अजंटाकी रेखाओंका भी काफ़ी प्रभाव है। अंग-विन्यास, शरीरका गठन, आँखोंकी मादकता, वस्त्रों और आभूषणोंका सुरुचिपूर्ण चयन, उपर्युक्त प्रतिमाओंकी विशेषता है। स्वर्णांशके साथ रत्नोंका भी बाहुल्य है। अतः शासकद्वारा निर्मित होना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है। असंभव नहीं यह पूरा सेट सोमवंशी राजाओंने ही अपने लिए बनवाया हो।

तुरतुरिया[1]—

ऊपरमें लिख ही चुका हूँ कि सिरपुर भयंकर अटवीमें अवस्थित है। आजके सिरपुरकी सीमा तो बहुत ही संकुचित है। जनसंख्या भी नगण्य-सी

---

[1] यहाँ एक पानीका झरना है, जिसमें पानी 'सुर सुर' या 'तुर तुर' करता है। इसलिए इस स्थानका नाम तुरतुरिया पड़ गया।

श्री गोकुलप्रसाद, रायपुर-रश्मि, पृ० ६७।

है। पर जिन ग्रामोंकी चर्चा ऊपर की गई है, उनका सिरपुर सापेक्षतः अधिक बड़ा था। आज भी इधर-उधरके खंडहर इस बातकी साक्षी दे रहे हैं। तुरतुरिया, यद्यपि आज सिरपुरसे १५ मील दूर अवस्थित है। भयंकर जंगल है। एक समय वह सिरपुरके अन्तर्गत समझा जाता था। वहाँपर भी पुरातन खंडहर और अवशेषोंका प्राचुर्य है। बौद्ध-संस्कृतिसे सम्बन्धित कलाकृतियाँ भी हैं। किसी समय यहाँ बौद्ध भिक्षुणियोंका निवास था। भगवान् बुद्धदेवकी विशाल और भव्य प्रतिमा आज भी सुरक्षित है। लोग इसे वाल्मीकि ऋषि मानकर पूजते हैं। पूर्वोक्त भिक्षुणियोंका निवास होनेके कारण, पचास वर्ष पूर्व यहाँकी पुजारिन भी नारी ही थीं। तुरतुरिया, खमतराई, सिंघपुरी और खल्लारी तक सिरपुरकी सीमा थी। यदि संभावित स्थानोंपर खुदाई करवाई जाय, और नाना-स्थानोंमें फैली हुई कलाकृतियोंको एकत्र किया जाय, तो श्रीपुर-सिरपुरमें विकसित तक्षण कलाके इतिहासपर अभूत-पूर्व प्रकाश पड़ सकता है। मेरा तो मत है कि खुदाईमें और भी बौद्ध कला-कृतियाँ निकल सकती हैं, और इन शिल्पकलाके अवशेषोंके गम्भीर अध्ययनसे ही पता लगाया जा सकता है कि सोमवंशीय पाटनगर परिवर्तनके बाद कितने वर्षतक बौद्ध बने रहे। इतने लम्बे विवेचनके बाद इतना तो कहा ही जा सकता है कि भद्रावतीसे श्रीपुर आते ही, उन्होंने शैव-धर्म अंगीकार नहीं किया था। या भद्रावतीमें ही शैव नहीं हुए थे, जैसा कि डा० हीरालाल सा० मानते हैं। इसकी पुष्टि ये अवशेष तो करते ही हैं, साथ ही साथ १२०० सौ वर्षका प्राचीन भवदेव रणकेसरीका लेख भी इसके समर्थनमें रखा जा सकता है[1]।

---

[1]ब्रह्मचारी मनोबुद्धो जीर्णमेतत् तदाश्रयात्।
पुनर्नवत्वमनयद् बोधिसत्त्वसमाकृतिः॥२५॥ ज० रा० ए० सो० १९०५,

मगधके बौद्ध राजाओंके साथ यहाँका न केवल मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध ही था, अपितु राष्ट्रकूटोंकी कन्याएँ भी विहार गई थीं।

पृथ्वीसिंह मेहता—"बिहार, एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन।"

त्रिपुरीकी बौद्ध-मूर्तियाँ

त्रिपुरीका ऐतिहासिक महत्त्व सर्वविदित है। कलिचुरि-शिल्पका त्रिपुरी बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। ईसवी नवीं शताब्दीमें कोकल्लने त्रिपुरीमें स्वभुजाबलसे अपना शासन स्थापित किया। मध्यप्रदेशके इतिहासमें कलचुरि राज्य-वंश महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संस्कृति और सभ्यताका विकास इसके समयमें पर्याप्त हुआ था। उच्चकोटिके कवि व विभिन्न प्रान्तीय बहुश्रुत-विज्ञ-पुरुष वहाँकी राज्य सभामें समादृत होते थे। शासक स्वयं विद्या व शिल्पके परम उन्नायक थे। वे धर्मसे शैव होते हुए भी, गुप्तोंके समान, परमत सहिष्णु थे। कलचुरि शासन-कालमें, महाकोसलमें बौद्ध धर्मका रूप कैसा था, इसे जाननेके अकाट्य साधन अनुपलब्ध हैं, न समसामयिक साहित्य व शिला-लिपियोंसे ही आंशिक संकेत मिलता है, परन्तु तात्कालिक बिहार प्रान्तका इतिहास कुछ मार्ग दर्शन कराता है। बिहारके पालवंशी राजाओंका कलचुरियोंके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था, वे बौद्ध थे। अतः कलचुरि इनके प्रभावसे सर्वथा वंचित रहे हों, यह तो असंभव ही है। प्रसंगतः मैं उपर्युक्त पंक्तियोंमें सूचित कर चुका हूँ कि सिरपुरके सोमवंशके कारण महाकोसलमें बौद्धधर्मकी पर्याप्त उन्नति रही; पर अधिक समय वह बौद्ध न रह सका। शैव हो गया। ऐसी स्थितिमें समझना कठिन नहीं है कि भले ही राज्य-वंशसे बौद्ध धर्मका, किसी भी कारण विशेषसे, निष्कासन हो गया, पर जनतामें पूर्व धर्मकी परम्पराका लोप, एकाएक संभव नहीं, कारण कि महाकोसलमें प्राप्त बौद्ध-मूर्तियाँ उपर्युक्त पंक्तियोंकी सार्थकता सिद्ध करती हैं, एवं बौद्धमुद्रा लेख जैन व वैदिक अवशेषोंपर भी पाया जाता है, यह बौद्ध संस्कृतिका अवशेषात्मक प्रभाव है।

त्रिपुरीमें यों तो समयपर कई बौद्ध मूर्तियाँ खुदाईमें प्राप्त होती ही रही हैं; परन्तु साथ ही त्रिपुरीका यह दुर्भाग्य भी रहा है कि वहाँ निकली हुई संपत्तिको समुचित संरक्षण न मिल सकनेके कारण, मनचले लोगोंने व

कुछ व्यवसायी लोगोंने उठा-उठाकर, वहाँके सौन्दर्यको नष्ट कर दिया। यदि किसी पर्यटकके नोटके आधारपर, किसी कलाकृतिकी गवेषणा की जाय, तो निराश ही होना पड़ेगा। मैं स्वयं इसका भुक्त-भोगी हूँ। इतने विशाल प्राकृतिक क्षेत्रपर न जाने राज्य शासनका ध्यान क्यों आकृष्ट न हुआ?

त्रिपुरीकी बहुत-सी सामग्री तो इंडियन म्युज़ियममें कलकत्ता चली गई, जिसमें भगवान् बुद्धकी प्रवचन-मुद्राकी एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा भी सम्मिलित है। बुद्धदेवकी यह मूर्ति कलाकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

२४ फरवरी १९५१ में, मैं जब त्रिपुरी गया था, तब मुझे अन्य पुरातत्त्व विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्रीके साथ, अवलोकितेश्वर एवं बुद्धदेवकी भूमिस्पर्श मुद्रास्थित मूर्तियाँ मिली थीं। दोनों मूर्तियाँ क्रमशः एक चमार व लड़ियासे प्राप्त हुई थीं। प्रथम तो दीवालमें लगी हुई थी, दूसरी एक वृद्धाके घरमें रखी हुई थी। याचना करने पर मुझे उन दोनोंने प्रदान कर दी थी। उनका परिचय इस प्रकार है—

अवलोकितेश्वर

यों तो अवलोकितेश्वरकी प्रतिमाएँ विभिन्न प्रान्तोंमें अपने-अपने ढंगकी अनेक पाई जाती हैं। उनमें अवलोकितेश्वरके मौलिक स्वरूपकी रक्षा करते हुए, एवं बौद्ध-मूर्ति-विज्ञानके नियमोंके अनुकूल बहुतसे प्रान्तीय कलातत्त्व समाविष्ट कर दिये हैं। प्रस्तुत प्रतिमा उन सबसे अनूठी और विशिष्ट है। अवलोकितेश्वरका प्राचीन स्वरूप अजन्ताकी चित्रकारीमें है, जो कि खड़ा हुआ स्वरूप है। बैठी हुई जितनी मुद्राएँ उपलब्ध हैं उनमें दाहिना पैर रस्सीसे कसा हुआ शायद नहीं है। प्रस्तुत प्रतिमामें बायें कन्धेसे तन्तु सूत्र प्रारम्भ होते हैं, वहाँसे वे कर्णकी नाई (Diagonally) दायीं ओर नाभीके ऊपरसे, दायें नितम्बपरसे दायीं जंघाके नीचे लपेटा मार, दायें घुटनेके निम्न भागको कसते हुए समाप्त होते हैं। प्रस्तुत अवलोकितेश्वरके मुकुटको देख भगवान् शंकरके किरीट मुकुटका स्मरण हो आता है।

मस्तकपर स्थित मुकुटकी आकृति भी शिव मुकुटकी ही नाईं है। मुकुटकी आकृति भले ही भगवान् शंकरकी नाईं हो, अपरिचितको यह भ्रम तो सहज ही होता है—परन्तु ललाटपर जो स्पष्ट रेखाओंसे मुद्रा सूचित होती है, वह भगवान् बुद्धकी अपनी विशिष्ट प्रवचन मुद्रा है। बायें हाथपर जो कमलका फूल, सदण्ड दृष्टिगोचर होता है, वह भी इसके अवलोकितेश्वरका समर्थक है।

अवलोकितेश्वरकी विभिन्न आभरणोंसे भूषित इस मूर्तिमें हाथोंमें कंकण और बाजूबन्द, कंठमें हार, चरणोंमें पैजन और कर्णफूल, केयूर सभी स्पष्टतः अंकित हैं।

अब हम अवलोकितेश्वर-आसन रचनाको देखें। ऐसे आसनकी रचना गुप्तकाल एवं अन्तिम गुप्तोंके युगमें होती थी। इसे "घंटाकृति" कमलका आसन कहते हैं। यही एक ऐसा आसन रहा है, जिसे बिना किसी धार्मिक भेद-भावके सभी कलाकारोंने स्वीकार किया था। प्रतिमाकी मुख-मुद्रामें गम्भीर चिन्तन स्पष्टतः परिलक्षित है। सबसे आश्चर्यकी बात है कि यह प्रतिमा जिस पत्थरसे गढ़ी गई है, वह अत्यन्त निम्न कोटिका है। अर्थात् आप सादा-सा कड़ा पत्थर लेकर उसे अगर घिसने लगें तो धूल-कण बड़ी सरलतासे खिरने लगते हैं। यहाँतक कि यह पत्थर हाथसे छूनेपर भी रेत कण हाथमें लगा देता है। यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि जितना ही रद्दी यह पत्थर है, अवलोकितेश्वरकी प्रतिमा उतनी ही सुन्दर एवं भावपूर्ण है। इसके निर्माणयुगमें इससे न जाने कितने भक्तोंने शान्ति और भक्तिका रसास्वादन किया होगा। परन्तु आजका उपहास मिश्रित सत्य यह है कि यह एक उपेक्षित प्रतिमा रही, जिसे मैंने पाया।

प्रतिमाके अधोभागमें तीनों ओर एक पंक्तिमें लेख खुदा हुआ है। क्षरणशील पत्थर होनेके कारण एवं वर्षोंतक अस्तव्यस्त स्थितिमें पड़े रहनेके कारण, वह स्पष्ट पढ़ा नहीं जा सका। बायीं ओरवाली पाद-पीठका भाग घिस-सा गया है। सामने भागपर जो पट्टिका दृष्टिगोचर होती

है वह भी अस्पष्ट है। परिश्रमपूर्वक जो भाग पढ़ा जा सका है—वह इस प्रकार है—"देवधर्मोऽयं एसार्थं पद...क...था...लेवाद, जयवाद्रि... प्रमः..." पठित अंश किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचाता। लिपिके आधारपर केवल मूर्तिका निर्माण काल ही स्थिर किया जा सकता है। प्रस्तुत लिपिके 'र' 'ल' 'य' 'ज' आदि कुल वर्ण अंतिम गुप्तोंके ताम्रपत्रोंमें व्यवहृत लिपिसे मिलते हैं, परन्तु धंगके लेखोंमें व्यवहार की गई लिपि इस लेखसे अधिक निकट है, भौगोलिक दृष्टिसे विचार करनेसे भी यही बात फलित होती है।

धंगके समयमें महाकोसल कलचुरियोंके अधिकारमें था। उन दिनों मूर्ति-कला उन्नतिके शिखरपर थी। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत मूर्ति, कला एवं लिपिकी दृष्टिसे ११ वीं शतीके बादकी नहीं हो सकती।

बुद्ध-देव—भूमि-स्पर्श मुद्रा—(२०″×१६″)

इस मुद्राकी स्वतन्त्र और विशाल अनेक प्रतिमाएँ इस भू-खंडमें उपलब्ध हो चुकी हैं, जैसा कि सिरपुरके अवशेषोंसे जाना जाता है; परन्तु इस प्रतिमाका विशेष महत्त्व होनेके कारण ही इसका विस्तृत परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है। भूमि-स्पर्श मुद्राके अतिरिक्त इसके परिकरमें भगवान् बुद्धके जीवनकी विशिष्ट नौ घटनाओंका अंकन किया गया है। यह त्रिपुरीके एक लढ़ियाके अधिकारमें थी। मुझे उसीके द्वारा प्राप्त हुई है।

बुद्धदेवकी मुख्य प्रतिमाका विस्तार १३″×९″ है। पाँव और हाथोंकी अंगुलियाँ सुघड़ स्वाभाविक हैं। दाहिने हाथकी अंगुलियोंकी दशा भूमिकी ओर है। इसका गांभीर्य उस कथाका पोषक है, जो भगवान् बुद्धके बुद्धत्व-प्राप्तिकी घटनासे संबंधित है। वक्षस्थल और अधोभागका गठन बड़ा कलात्मक एवं मानव सुलभ स्वास्थ्यका परिचायक है। सबसे आकर्षक वस्तु है वक्षस्थलपर पड़ा हुआ चीवर—जिसकी किनारका डिज़ाइन नैसर्गिक फूल-पत्तियोंका बना है। पाषाणपर वस्त्रकी सुकुमारता एवं स्वाभाविक रेखाओं

का व्यक्तीकरण पाषाणकी बहुत कम प्रतिमाओंमें पाया गया है। यद्यपि महाकोसलके कलाकार, ई० सन् की सातवीं शताब्दीमें इस प्रकारकी शैलीको सफलतापूर्वक अपना चुके थे, परन्तु पत्थरपर नहीं। पत्थरकी इस प्रतिमाका निर्माण काल १२ वीं शतीके बादका नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ७ वीं शताब्दीके शिल्पियोंकी वैचारिक एवं कला परम्पराको १२वीं शतीके कलाकार किसी सीमातक सुरक्षित रख सके थे। इसके समर्थनमें और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

मूर्तिकी मुखमुद्रा सौम्य और अन्तर्मुखी प्रवृत्तिका आभास देती है। ओठोंकी सुकुमार रेखाएँ, ठोड़ीके बीचका छोटा-सा गड्ढा, तीक्ष्ण नासिका, और कमल-पत्रवत् चक्षुओंने सिद्धार्थके शारीरिक वैभव और व्यक्तित्वका समन्वय प्रस्तुत किया है। कानोंकी लंबाई भले ही मूर्ति-विधानके अनुरूप हो, परन्तु सौन्दर्यकी अपेक्षा उपयुक्त नहीं जान पड़ती। मूर्तिके परिकरपर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि यही उनकी विशेषता है। परिकरान्तर्गत जीवनकी प्रधान व अप्रधान जो भी घटनाएँ बतलाई गई हैं, उनका क्रम इस कृतिमें नहीं रह पाया है, जैसे प्रथम घटना स्वस्त्ययुं स्वर्गसे लौटनेसे संबंध रखती है। जब इसमें उसे दूसरे नंबरपर रक्खा गया है। प्रथम घटना जो इसमें दिखलाई गई है, उसमें बुद्धदेवका लालन-पालन हो रहा है। बुद्ध-देवका बाल स्वरूप बड़ा मोहक है। दूसरी रचना स्वर्गच्यवनसे संबद्ध है। इसमें सुन्दरी विलास-मयी मुद्रामें खड़ी हुई है। दाहिने हाथके नीचे कटि-प्रदेशके पास लघु बालक इस प्रकार बताया गया है, मानो वह कटिप्रदेशसे उदरमें प्रवेश करना चाहता हो। लोगोंको इसे पढ़कर तनिक भी आश्चर्य न होना चाहिए, कारण कि इस प्रकारकी सैकड़ों मूर्तियाँ विहारमें पाई गई हैं। तीसरी प्रतिमामें सवस्त्र सिद्धार्थ बायें हाथमें दायें हाथकी उँगली टिकाये बैठे हैं, प्रतीत होता है मानसिक ग्रंथियाँ खोलकर उन्नतिके पथपर अग्रसर होनेकी चिन्तामें हों। दोनों ओर शिष्य-मंडली अंजलि बद्ध हैं। चतुर्थ मूर्ति खड़ी हुई और वर मुद्रामें है। बुद्ध-दानके भावमें परिलक्षित

हो रहे हैं, दाहिना हाथ नीचेकी ओर करतल सम्मुख बताया है। बायें हाथमें संघाटी है। दायीं ओर दो शिष्य हाथ जोड़े हुए हैं। बायीं ओर एक व्यक्ति खड़ा है, पर उसका मस्तक नहीं है। उसका बायाँ हाथ उदरको स्पर्श कर रहा है—चंवरको धारण किये हुए हैं। बायीं ओर भी चार उपविभाग हैं। प्रथम मूर्तिमें गौतमके चरणोंमें हाथी नत-मस्तक है। स्पष्ट है, राजगृहमें बुद्धदेवके द्वेषी देवदत्तने नालागिरि नामक हस्तीको बुद्धदेवपर छोड़ा था। किन्तु बुद्धकी तेजपूर्ण मुखाकृति एवं अद्भुत सौम्य मुद्राके प्रभावसे परास्त होकर, हाथी क्रूर परिणामको छोड़कर उनके चरणोंमें नतमस्तक हो गया। बाजूमें दायीं ओर आनन्द खड़े हैं। सचमुचमें कला-कारने इस घटनाको उपस्थित करनेमें गज़ब किया है। उठते हुए हाथीका पृष्ठांक फूल-सा गया है। बुद्धदेवकी मुद्रामें तनिक भी परिवर्तनके भाव नहीं आये—आते भी कैसे। दूसरी घटना धर्मचक्र-प्रवर्तनसे संबंध रखती है[1]। बुद्धदेव पल्थी मारकर आसनपर विराजमान हैं। करोंकी भाव-भंगिमासे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वक्ता गहन और दार्शनिक युक्तियोंको समझ रहा हो, परन्तु बात वैसी नहीं है। दोनों हाथ वक्षस्थलके सम्मुख अवस्थित हैं। दायें करका अंगूठा और कनिष्ठिका बायें हाथकी मध्यमिकाको स्पर्श करती हुई बताई है। इसी भावसे बुद्धदेवने सारनाथके कौण्डिन्य आदि पंचभद्र-वर्गीयको बौद्ध धर्ममें दीक्षित किया था। आसनके दोनों ओर मैत्रेय और अवलोकितेश्वरकी मूर्तियाँ हैं। तीसरी घटना वानरेन्द्रके मधुदानसे गुंथी हुई है। कौशाम्बीके निकट पारिलियक वनमें वानरेन्द्र द्वारा बुद्धको मधुदान दिये जानेके उल्लेख बौद्ध साहित्यमें मिलते हैं। इसी भावको यहाँ प्रदर्शित किया गया है, बुद्धदेव हाथ पसारे बैठे हैं। वानरेन्द्र पात्र लिये खड़ा है, चौथी प्रतिमा पद्मासन ध्यानमें है। अनजानको जैन प्रतिमा होनेका

---

[1] कुछ वर्ष पूर्व त्रिपुरमें धर्मचक्र प्रवर्तन-मुद्राकी स्वतंत्र और विशाल प्रतिमा प्राप्त हुई थी, जो कलाकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी।

भ्रम हो सकता है। प्रसंगतः लिखना अनुचित न होगा कि पद्मासनस्थ मुद्रामें ध्यानी-विष्णुकी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। बुद्धदेवकी भी मुकुटयुक्त मूर्तियाँ ऐसी ही मुद्रामें बिहार एवं उत्तरप्रदेशमें पाई जाती हैं। सच कहा जाय तो यह मुद्रा जैन-मूर्ति कलाकी बौद्धोंको खास देन है। मुख्य प्रतिमाके निम्न भागमें मूर्ति है। दोनों ओर उपासक व उपासिका अंकित हैं; मध्यमें तत्त्वचिन्तन करते हुए दो बौद्ध भिक्षु हैं।

इन प्रधान घटनाओंके अतिरिक्त बुद्धदेवके निर्माणको भी भली प्रकार व्यक्त किया गया है। निर्माण मुद्राके दोनों ओर ४, ४ व्यक्ति खड़े हैं। बौद्ध साहित्यमें उल्लेख है कि भगवान् बुद्धके निर्माणोपरान्त उनकी अस्थियाँ आठ भागोंमें बाँटी गईं। उन्हें लेनेके लिए निम्न प्रदेशोंके नरेश आये थे—मगध, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामदाम, वेटोप, पावा और कुशीनगर। ये आठों अस्पष्ट मूर्तियाँ उन्हीं आठ प्रतिनिधियोंकी होनी चाहिए। इस प्रकार संपूर्ण परिकर और प्रधान प्रतिमाका निरीक्षण कर लेनेके बाद हमारा ध्यान प्रभावली एवं गवाक्षोंकी ओर जाता है।

जहाँतक गवाक्षोंका प्रश्न है, उनमें निश्चित रूपसे बिहारकी शिल्पकला, विशेषकर नालन्दाकी मेहराबोंका अनुकरण है। साथ ही साथ हाथीके ऊपर जो घंटाकार शिखराकृति बनी है, वह भाग भी मागधीय कलाकारोंकी देन है। ९वीं शतीके बादके महाकोसलीय शिल्पपर जो मागध प्रभाव पड़ा उसका एक कारण यह भी जान पड़ता है कि महाकोसलीय शिवगुप्तकी माता मगधके राजा सूर्यवर्माकी पुत्री थी। अतः संभव है उनके साथ कुछ कलाकार भी आये हों और उन्होंने स्वभाववश अपना प्रभाव छोड़ा हो तो आश्चर्य नहीं। नालन्दा एवं राजगृहमें सैकड़ों मिट्टीकी मोहरें उपलब्ध हुई हैं, जिनमें यही घंटी अंकित है, जिनका समय ७वीं शतीसे १२ वीं शतीतक माना जाता है। बिहारकी शिल्प-स्थापत्य एवं गुप्त कालमें प्रभावलीका अंकन करनेमें तीन सीमाएँ चित्रित की जाती थीं। सबसे बाहरकी परिधिमें आगकी लपटें बनती थीं। लपटोंमें क्षीण रेखाएँ स्पष्ट

बनाई जाती थीं। बीचकी सीमाओंमें गोलाकार लघु-बिन्दु खोदे जाते थे। तीसरी अर्थात् सबसे भीतरी परिधिमें कभी सादा खुदाव रहता था, और कभी बेलबूटेदार। प्रतिमाके ठीक सिरके ऊपर एक व्याल (मंगलमुख) की मूर्ति रहती थी। अन्तिम गुप्तकालमें प्रभावलीकी तीन सीमाएँ तो रहती थीं किन्तु उनमें कुछ सामयिक परिवर्तन हो गये थे। सबसे बाहिरी परिधिमें आगकी लपटें इतनी सफाईसे नहीं बनती थीं। इन लपटोंकी जो क्षीण रेखाएँ बारीकीसे स्पष्ट बनाई जाती थीं, वे अब नहीं—अर्थात् लपटें अब सीधी ऊपरकी ओर उठती हुई ही रह गईं थीं। बीचकी सीमाओंमें गोलाकार लघुबिन्दु ज्यों-के-त्यों रहे, किन्तु असल परिवर्तन हुआ तीसरी परिधिके खुदावमें। इसमें अब तत्कालीन युगमें सामयिक अलंकरण खोदे जाते थे। शिरोभागके ठीक ऊपर मंगलमुख भी ज़रा भद्दा-सा बनाया जाता था। स्पष्टतः यह परिवर्तन ह्रासोन्मुखी था।

गुप्तोत्तर कालमें ३ सीमाएँ रहीं। ध्यान देनेकी बात है कि जो ह्रास अंतिम गुप्तकालमें दिख पड़ा, उसकी गति अब और भी तीव्र हो उठी थी। लपटें मोटी और भद्दी रेखाएँ मात्र रह गईं थीं। बिन्दुओंमें गुंजाई मात्र रह गयी थीं। बेल-बूटों एवं अलंकरणोंके स्थानपर कमलकी पंखुड़ियाँ पर्याप्त समझी जाने लगीं। इस कालतक गुप्तकालीन शिल्प-परम्पराके कुछ तक्षक बच गये थे, जैसा कि सिरपुरकी बौद्ध मूर्तियोंसे ज्ञात होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध है कि प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माण गुप्त सत्ताकी समाप्तिके काफी बाद हुआ। कलचुरि वंशके प्रारंभिक कालमें इसकी रचना होना स्वाभाविक जान पड़ता है, कारण कि इन दिनों सिरपुरके तक्षक बौद्ध-मूर्ति विधानकी परम्परासे पूर्णतः परिचित ही न थे, स्वयं मूर्तियाँ बनाते भी थे। अतः निर्माण-काल १० वीं शतीके बादका तो हो ही नहीं सकता। मूर्तिके परिकरमें खुदे हुए स्तम्भ इसकी साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे तो यह सिद्ध हो ही गया है कि महाराज अशोकके बाद तेरह सौ वर्षोंतक मध्यप्रदेशके किसी न किसी भागमें, किसी सीमातक

बौद्ध धर्म अवश्य ही रहा। डा० हीरालालजीने जो समय बौद्ध धर्मके अस्तित्वका सूचित किया है, उससे ३०० वर्ष आगे माना जाना चाहिए। सम्भव है डा० सा० के समय, ये अवशेष, जिनके आधारपर ३०० वर्षोंका काल बढ़ाया जा सका है, भूमिमें दबे पड़े हों।

प्रासंगिक रूपसे एक बातका स्पष्टीकरण करना समुचित प्रतीत होता है। मैंने बौद्ध धर्मकी जितनी प्रतिमाएँ—क्या धातुकी और क्या पाषाणकी—देखीं, उनमें कमल-पत्रका—नीचेकी ओर झुकी हुई पंखुड़ियोंके रूपमें कमल सिंहासन—बाहुल्य पाया। प्राचीन ग्रन्थोंमें भी बौद्ध धर्ममें अलौकिक ज्ञानको कमल-पुष्पसे दिखाया गया है। उनके अनुसार कमलकी जड़का भाग ब्रह्म है। कमलनाल माया है। पुष्प संपूर्ण विश्व और फल निर्वाणका प्रतीक है। इस प्रकार अशोकके स्तम्भका शिलादण्ड (कमल-नाल) माया अथवा सांसारिक जीवनका द्योतक है। घंटाकार शिरा संसार है—आकाश-रूपी पुष्प दलोंसे वेष्टित हैं—और कमलका फल मोक्ष है। इस विषयपर सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ हैवेलकी युक्ति बहुत ही सारगर्भित और तथ्यपूर्ण है—"यह प्रतीक खासतौरपर भारतीय है। इसका प्रारम्भिक बौद्ध-कलामें बेहद प्रचार था। यह इत्तिफ़ाककी बात है कि इसकी शक्ल ईरानीके पीटलोंसे मिलती है, किन्तु कोई वज़ह नहीं कि इसीसे हम इसे ईरानी चीज़ मान लें। शायद ईरानियोंने ही यह विचार भारतसे लिया हो। भारत तो कमलके फूलोंका देश है।" निःसन्देह कमल भारतका अत्यन्त प्रसिद्ध और मनोहर पुष्प है। जिन दिनों यक्ष पूजाका भारतमें बोलबाला था, उन दिनों कमलका भी कम महत्त्व नहीं था। भारतीय शिल्पकलामें जितना महत्त्वपूर्ण स्थान कमल पा सका है, उतना दूसरे पुष्प नहीं। योगमार्गमें भी यौगिक उदाहरणोंमें कमलको याद रखा गया है।

जबलपुर, म. प्र.

१५ अगस्त १९५०

हिन्दू-पुरातत्त्व

मध्य प्रदेशका हिन्दू-पुरातत्त्व

भारतीय पुरातन शिल्प-स्थापत्यके इतिहासमें मध्यप्रान्त एवं बरारका स्थान कई दृष्टियोंसे, इतर प्रान्तोंकी अपेक्षा, अधिक महत्त्वपूर्ण है, कलाकारोंने इन जड़ पाषाणोंपर अपने अनुपम कला-कौशल द्वारा, मानव-मस्तिष्ककी उन्नत विचारधाराकी अद्भुत सजीवता चित्रित की है। मुझे तो इनमें मध्य-प्रान्तका प्राचीन सामाजिक जीवन, राष्ट्रोन्नति एवं मानव-समुदायका वास्तविक इतिहास दिखाई देता है। यह वैभव मानो मूक भाषामें सहृदय कलाकारोंसे पूछ रहा है कि क्या आजके परिवर्तनशील युगमें भी हमारी यही हालत रहेगी। संसारकी अविश्रान्त प्रगतिमें हम भी बहुत-कुछ सांस्कृतिक सहयोग दे सकते हैं। यद्यपि मध्य-प्रान्तमें विशिष्ट अवशेष अपेक्षाकृत कम ही हैं, फिर भी उनमें भारतका मुख उज्ज्वल करने की एवं पुरातन गौरवगाथाको सुरक्षित रखनेकी पूर्ण क्षमता है। इनसे, मानव-मस्तिष्कको, उच्चस्थान एवं आध्यात्मिक विकासमें महान् सहयोग मिल सकता है। तद्गत लोकोत्तर जीवनकी आत्माका प्रकाश किस दार्शनिकको आकृष्ट न कर सकेगा? किन्तु भारतीय पुरातत्त्वके इतिहासमें इस अतुलनीय संपत्तिके भाण्डारसम, मध्य-प्रान्तकी चर्चा नहींके बराबर ही है।

यह सर्वमान्य नियम है कि प्रत्येक राष्ट्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिका मूल-तम स्वरूप, तात्कालिक प्रस्तरोपरि उत्कीर्णित कलात्मक अवशेषोंसे ही जाना जा सकता है। साथ ही दूसरे देश या धर्मवाले भी यदि कोई आकर्षण रखते हैं, तो केवल कलाके बलपर ही। मध्य-प्रान्तका कुछ भाग ऐसा है, जिसका स्थान संसारमें ऊँचा है। आदिमानव-सभ्यता-संस्कृतिका पालन यहींपर हुआ था। शुद्ध सांस्कृतिक जीवनगत तत्त्वोंका आभास आजतक, तत्रस्थ ग्रामीण जनताके जीवनमें ही दृष्टिगोचर होता है। गृह्यसूत्र एवं वेदमें प्रतिपादित नृत्योंका प्रचार आज भी किंचित् परिवर्तित रूपमें छत्तीसगढ़में है। प्रारंभसे ही इस प्रान्तमें वैदिक संस्कृतिका प्रचार रहा है

सर्वप्रथम अगस्त्य ऋषि विन्ध्याचल उल्लंघकर यहाँ आये और तपश्चर्या करने लगे। रामायणमें उल्लेख है कि इन्होंने द्रविड़ भाषामें आयुर्वेदके ग्रन्थ रचकर प्रचारित किये, एवं अनार्य दस्यु जातियोंमें आर्य-सभ्यताका प्रचार किया। श्रृंगी आदि सप्त ऋषियोंकी तपोभूमि रायपुर जिलेका सिहावा[1]

---

[1] यही महानदीका उद्गम स्थान है। धमतरीसे आग्नेय कोणमें ४४ मील पर है। प्राकृतिक सौंदर्यका यह एक अविस्मरणीय केन्द्र है। यहाँके ध्वंसावशेषोंमें छह मन्दिर अवस्थित हैं। ११९२ ई० का एक लेख भी पाया गया था, जिसमें उल्लेख है कि चन्द्रवंशी राजा कर्णने पाँच मंदिर बनवाये। जैसा कि—

तीर्थे देवहृदे तेन कृतं प्रासादपञ्चकम् ।
स्वीयं तत्र द्वयं जातं यत्र शंकरकेशवौ ॥८॥

पितृभ्यां प्रददौ चान्यत् कारयित्वा द्वयं नृपः
सदनं देवदेवस्य मनोहारि त्रिशूलिनः ॥१०॥

रणकेसरिणे प्रादान्नृपयैकं सुरालयम् ।
तद्वंशक्षीणतां ज्ञात्वा भ्रातृस्नेहेन कर्णराट् ॥११॥

× × ×

चतुर्दशोत्तरे सेयमेकादशशते शाके ।
वर्द्धतां सर्वतो नित्यं नृसिंहकविताकृतिः ॥१३॥

एपिग्राफिका इंडिका भा० ६, पृ० १८२

वर्णकी वंशावली कांकेरके शिलालेखमें भी मिलती है। कहते हैं कि यहाँ श्रृंगीऋषिने तपश्चर्या की थी, उनकी स्मृति स्वरूप आज भी एक टपरा बना हुआ है। ५ मीलपर "रतवा" में अंगिरस और २० मील 'मेचका'में मुचकुन्दका आश्रम बताया जाता है। यहाँसे आठ मीलपर देवकूट नामक स्थान, सघन जंगलमें पड़ता है। इस ओर जो पुरातन अवशेष पाये जाते हैं, वे ११वीं शतीके बादके ही हैं। यह इलाका जंगलमें पड़नेसे, पुरातत्त्व शास्त्रियोंकी निगाहसे आजतक बचा हुआ है। कब तक बचा रहेगा?

इलाक़ा बताया जाता है। आज भी अटवीमें पहाड़ोंके सबसे ऊँचे शिखरोंपर इन महर्षियोंकी गुफाएँ उत्कीर्णित हैं, जहाँ प्रकृति-सौन्दर्य और अपार शान्तिका सागर सदैव उमड़ा करता है। इन गुफाओंका रचना-काल अज्ञात है, फिर भी इतना तो बिना किसी अतिशयोक्तिके कहा जा सकता है कि ·, अजन्ता और जोगीमारा गुफाओंसे तो बहुत ही प्राचीन हैं। ये बड़ी विशाल हैं। प्राचीन भारतकी तक्षण-कलाके इतिहासमें इनका स्थान उपेक्षणीय नहीं।

राम और कृष्णका संबंध भी इस प्रान्तसे रहा है, क्योंकि दंडकारण्यकी स्थिति छत्तीसगढ़में ही बताई जाती है। रामने यहाँ आकर लोकोपयोगी कार्योंकी नींव डाली थी। कहा जाता है कि उन्होंने यहाँ आकर कुछ लोगोंको ब्राह्मण जातिमें दीक्षित किया, जो 'रघुनाथिया ब्राह्मण' नामसे आज भी विख्यात हैं और मध्य-प्रान्त और उड़ीसाकी सीमाके भीषण जंगलोंमें वर्तमान हैं।

भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे प्रान्तपर मौर्य-वंशी राजाओंका अधिकार ..। ये क्रमशः जैन और बौद्ध धर्मके अनुयायी होते हुए भी, सहिष्णु थे। इस समय वैदिक संस्कृतिका प्रचार अपेक्षाकृत कम था। शुंग और आन्ध्र वंशके समयमें वैदिक संस्कृति यहाँ चमक उठी। ये वैदिक धर्मके उद्धारक, प्रचारक और संरक्षक थे। गुप्त-युगमें भारत पूर्णोन्नतिके शिखरपर था। संसारकी शायद ही कोई कला या विद्या ऐसी थी, जिसका विकास उस समय यहाँ न हुआ हो। वैदिक संस्कृतिका उन्नत रूप तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थ, शिलोत्कीर्ण लेख, मुद्राएँ एवं ताम्रपत्रोंसे विदित होता है। यहाँपर वाकाटकोंका साम्राज्य भी था, जिनकी राजधानी प्रवरपुर-पौनार थी। समुद्रगुप्तने अपनी दिग्विजयमें वाकाटक-साम्राज्य जीतनेके बाद, उसके चेदिका दक्षिण भाग तथा महाराष्ट्र-प्रान्त तत्कालीन वाकाटक-सम्राट् रुद्रसेनके पास ही रहने दिये थे। इस प्रकार छोटा हो जानेपर भी वह साम्राज्य काफ़ी समृद्ध था। गुप्त-नरेश शिल्प-कलाके अनन्य उन्नायक थे। जब

समुद्रगुप्त दक्षिण-कोसलमें दिग्विजयार्थ आये, तब उन्हें एरणका स्थान बहुत ही पसन्द आया। उन्होंने वहाँ विशाल नगर एवं विष्णु-मंदिर बनवाये। शिलालेखमें इसे स्वभोगनगर कहा गया है। इस समयसे कुछ पूर्वका एक काष्ठ-स्तम्भ-लेख विलासपुर जिलेके किरारी नामक गाँवसे प्राप्त हुआ है, जो तत्कालीन मध्य-प्रान्तीय शासन-प्रणालीपर मार्मिक प्रकाश डालता है। इसमें पुलपुत्रक गृहनिर्माणिक (गृह बनानेवाला)—का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय प्रान्त तक्षण-कलामें कितना उन्नत था, इसके लिए कि एक स्वतन्त्र पदाधिकारी रखना पड़ता था। गुप्त कालमें शिल्प-कला अपना संपूर्ण रूप लेकर न केवल पाषाणपर ही अवतरित हुई, बल्कि एतद्विषयक साहित्यिक ग्रन्थोंके रूपमें भी दिखाई दी। मानसार जो समस्त शिल्पशास्त्रोंमें अनुपम है, इसी कालकी रचना मानी जाती है। तिगवाँ जिला जबलपुर ग्राममें एक गुप्तकालीन मन्दिर अद्यावधि विद्यमान है, जिसके विषयमें प्रान्तके बहुत बड़े अन्वेषक डा० हीरालालने लिखा है—"यह प्रायः डेढ़ हजार वर्षका है। यह चपटी छतवाला पत्थर का मन्दिर है। इसके गर्भगृहमें नृसिंहकी मूर्ति रखी हुई है। दरवाज़ेमें चौखटके ऊपर गंगा और यमुनाकी मूर्तियाँ खुदी हैं। पहले ये ऊपर बनाई जाती थीं, किन्तु पीछेसे देहरीके निकट बनवाई जाने लगीं। मन्दिर के मण्डपकी दीवारमें दशभुजी चण्डीकी मूर्ति खुदी है। उसके नीचे शेषशायी भगवान् विष्णुका चित्र खुदा है, जिनकी नाभिसे निकले हुए कमलपर ब्रह्माजी विराजमान हैं[1]।"

तिगवाँके मन्दिरमें गंगाकी मूर्ति बहुत ही सुन्दर और कलापूर्ण है। उनका शारीरिक गठन, अंग-विन्यास, उत्फुल्ल वदन एवं तात्कालिक केश-विन्यास किस कलाप्रेमीको आकृष्ट नहीं करेंगे ? यहाँसे कुछ दूर भोपाल रियासतमें भी कुछ गुप्तकालीन मन्दिर हैं, जहाँका कृष्ण-जन्म-प्रदर्शनका

---

[1] स्व० हीरालाल, जबलपुर-ज्योति, पृ० १४०।

शिल्प अभीतक मेरी स्मृतिको ताज़ा बनाये हुए है। माता देवकी लेटी हुई है और सद्यः उत्पन्न कृष्ण उनके पास पड़े हैं। आसपास कुछ मनुष्य उनकी रक्षार्थ खड़े हैं। गुप्त-वंशके बाद मध्य-प्रान्तका शासन छिन्न-भिन्न होकर राजर्षितुल्य-कुल, सोमवंश, त्रिकलिंगाधिपति, राष्ट्रकूट आदि राजवंशोंमें विभाजित हो गया। तदनन्तर नवीं शतीमें कलचुरियोंका उदय हुआ। त्रिपुरी, रत्नपुर-खल्वाटिका (खलारी) आदि कलचुरियोंकी शाखाएँ थीं। समस्त चेदि-प्रान्तमें कलचुरियोंके अवशेष बिखरे पड़े हैं, जिनमें-से कुछ एकका परिचय सर कनिंघमने पुरातत्त्व विभागकी अपनी सातवीं रिपोर्टमें एवं स्व० राखालदास बन्द्योपाध्यायने अपने एक ग्रन्थमें दिया है। इनसे प्रकट है कि कलचुरि-नरेशोंने शिल्प-स्थापत्य कलाको आशातीत प्रोत्साहन देकर, समस्त प्रान्तमें व्याप्त कर दिया। इनकी सूक्ष्मता चित्रकारी-को भी मात करती है। इन अवशेषोंका संबंध केवल भौतिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टिसे भी महत्व है। बादमें गोंड वंशका आधिपत्य प्रान्तके कुछ भागपर था। ये गोंड कौन थे? इनका आकस्मिक उदय कहाँसे हो गया? कहा अवश्य जाता है कि ये आदिवासियोंमेंसे हैं और रावणके वंशज हैं। इनके कालमें कोई खास उन्नति हुई हो, हमें ज्ञात नहीं। इन लोगोंका कोई क्रमबद्ध इतिहास भी प्राप्त नहीं है। कहते हैं कि इनके कालमें यदि कोई पढ़ा-लिखा या पण्डित भी मिलता, तो दशहरेके दिन दन्तेश्वरी के चरणोंमें बलिके लिए बुला दिया जाता था। ऐसी स्थितिमें इनका इतिहास कौन लिखता? मदनमहल (जबलपुर) के पास कुछ अवशेष और सिंगोरगढ़ादि कुछ दुर्ग ही ऐसे हैं, जो गोंड-पुरातत्त्वकी श्रेणीमें आ सकते हैं।

मध्य-प्रान्तमें मुग़ल-कलासे संबंध रखनेवाले प्राचीन मकानात के चिह्न भी मिलते हैं। बरारके एलिचपुर व बालापुरमें मुग़लोंके कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं, जिनमें मुग़ल-कलाके पल्लवित लक्षणोंका व्यक्तीकरण हुआ है। भोंसलोंके बनवायेहुए महल, मन्दिर, दुर्ग आदि भी मिलते हैं,

जिनकी कलामें कोई ऐसे तत्त्व नहीं, जो इनको स्वतन्त्र स्थान दिला सकें। मध्य-प्रान्तकी रियासतोंमें भी कुछ पुरातत्त्व विशेष उपलब्ध हैं, यहाँपर ई० पू० पाँचवीं शतीसे लगाकर आजतकका जो विशाल पुरातत्त्व फैला पड़ा है, उसमेंसे जितनेका साक्षात्कार मैं कर सका, उसका संक्षिप्त परिचय, मेरी यात्रामें आये नगरानुसार यहाँ दिया जा रहा है।

रोहणखेड़—इस नगरका अस्तित्व राष्ट्रकूटोंके समयमें था। स्थानीय पुरातन अवशेषोंमें शिव-मन्दिर सर्वप्राचीन है। चपटीकृत, चतुष्कोण-षट्कोण स्तम्भ, विशाल गर्भद्वार, तोरणस्थ विभिन्न वेल-बूटोंके साथ हिन्दू-धर्ममान्य तान्त्रिक देव-देवियोंका बाहुल्य, मन्दिरकी शोभाको और भी बढ़ा देते हैं। मन्दिरके निकटवर्ती चट्टानपर ५ पंक्तियोंका एक शिलालेख है, जिसके प्रत्येक श्लोकान्त भागमें 'ॐ नमः शिवाय' आता है। शिला-लेखमें राजवंश, संवत् आदि विलुप्त हो गये हैं। केवल 'तदन्वये भूपतिः कूट' इस पंक्तिसे प्रकट होता है कि यह मन्दिर संभवतः किसी राष्ट्रकूट-नरेशका बनवाया हुआ है। दूसरा कारण यह भी है कि राष्ट्रकूटों द्वारा इलोरा पर्वतपर निर्मित कैलाश-मन्दिरके शिखरका कुछ भाग और उसकी कोरणी इस मन्दिरसे मेल रखती हैं। मन्दिरके पाषाणोंको परस्पर अधिक दृढ़तासे जोड़नेके लिए बीचमें ताम्रशलाकाएँ दी गई हैं। शिखरका भाग खंडित है। बरामदेमें शेषशायी विष्णुकी प्रतिमा, बहुत ही सूक्ष्म एवं प्रभावोत्पादक कलापूर्ण ढंगसे, उत्कीर्णित है। दुर्गा, अंबिका आदि देवियोंकी मूर्तियाँ अरक्षितावस्थामें विद्यमान हैं। इस मन्दिरके पीछे जमींदारी भी है। मराठी भाषाके आद्य गद्यकार श्रीपति, 'शिव-महिम्नस्तोत्र' निर्माता पुष्पदंत यहाँके निवासी थे।

बालापुर—अकोलासे १४ मीलपर, मन और म्हैस नामक नदीके तटपर अवस्थित है। इसके तटपर जयपुर-नरेश सवाई जयसिंहजी की छत्री बनी हुई है। (इनका देहान्त तो बुरहानपुरमें हुआ था, फिर छत्री यहाँ कैसे बनी, यह एक प्रश्न है।) यहाँके क़िलेमें बालादेवीका

प्राचीन मन्दिर है। जैनदृष्टिसे बालापुरका[1] विशेष महत्त्व है। १७वीं शतीके जैनसाहित्यमें बालापुरका उल्लेख मिलता है। यहाँपर मुग़ल कालमें काग़ज़ बनते थे।

कौण्डिन्यपुर—यह आर्वीसे चार मीलपर, वर्धा नदीके तट पर है। कृष्णका जिन भीष्मक राजाकी पुत्री रुक्मिणीसे विवाह होनेवाला था, वे यहींके राजा थे। यह स्थान आज भी तीर्थस्थानके रूपमें पूजित है। यह तीर्थ ५०० वर्षसे भी प्राचीन है, क्योंकि आज भी नगरके बाहर किलेके ध्वस्त अवशेषोंमें प्राचीन मन्दिरोंके चिह्न विद्यमान हैं। नगरसे उत्तरमें एक विशाल खण्डहरमें कुछ अच्छे, पर खण्डित अवशेष पड़े हैं, जिनमें कृष्ण-प्रधान दशावतारकी विशाल प्रतिमापर वि० सं० १४९६का एक लेख अंकित है। इससे विदित है कि यह प्रतिमा पहतेजोर-निवासी किसी व्यवहारीने विबापुर (? बालापुर) में निर्माण करवाकर, प्रतिष्ठित की। मूर्तिपर मुग़ल-कलाका प्रभाव स्पष्ट है। बड़े-बड़े मीनार, जालीदार गवाक्ष, मस्तकपर विशाल लंब-गोल गुम्बज आदि प्रतिमाके उपलक्षण हैं। कृष्णलीला और गोवर्द्धनधारी कृष्णादिके भावोंको व्यक्त करनेवाले शिल्प भी हैं। पहनावेसे स्पष्टतया महाराष्ट्रीय मालूम पड़ते हैं। इन सभीके चेहरे कुछ लंबे और गोल हैं। ये महाराष्ट्रीय शिल्प-कलाके अच्छे उदाहरण हैं।

केलझर—इसे प्राचीन साहित्यमें चक्रनगर भी कहा गया है। यहाँके टूटे हुए क़िलेमें एक छोटा दरवाजा दिखाई देता है, जिसपर विभिन्न देव-देवियोंके सुन्दर आकार खुदे हैं। यहाँसे ४ मीलपर एक छोटी-सी पहाड़ीपर किसी चमारके पास प्रस्तर लेख हैं, जो किसीको दिखाना पसन्द नहीं करता क्योंकि उसका विश्वास है कि यह गड़े हुए धनकी तालिका है। मैंने उससे कहा कि हम तो साधु लोग हैं, तब उसने हमें एक लेख बताया। उसीसे

---

[1] मुनि कान्तिसागर, "जैनदृष्टिसे बालापुर"
श्री जैन-सत्य-प्रकाश व० ६ अं०, १-२-३-४,

मालूम हुआ कि सं० १७०३ वैशाख शु० ६को दाजीभाऊ नामक व्यक्तिने गजानन महाराजकी प्रतिमा केलझरमें स्थापित की।

यह मन्दिर अभी भी तीर्थके रूपमें पूजित है। यहाँ सीताफल खूब होते हैं।

भद्रावती—जैमिनीके महाभारतमें इसे युवनाश्वकी राजधानी कहा गया है। यहाँपर बिखरे हुए सैकड़ों कलापूर्ण अवशेषोंसे प्रकट है कि किसी समय यहाँ हिन्दू-संस्कृतिका भी प्रभाव था। मूर्ति-विज्ञान और तक्षण-कलाकी दृष्टिसे प्रत्येक कला-प्रेमीको एकबार यहाँकी यात्रा अवश्य करनी चाहिए। यहाँका भद्रनागका मन्दिर पुरातन कलाकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु है। यह नागदेवताका मन्दिर है, जो सारी भद्रावतीके प्रधान अधिष्ठाता थे। इसके गर्भगृहमें नागकी बहु-फनवाली बड़ी प्रतिमा तथा बाहरकी दीवारोंपर जैसा शिल्पकलात्मक काम किया गया है, उसकी सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रासादिकता देखते ही बनती है। शेषशायी-विष्णुकी प्रतिमा अतीव सुन्दर और कलाकारकी अनुपम कुशलताका परिचय देती है। मूर्तिकी नाभिकी आवलियाँ तदुपरि रोम-राजि, कमलकी पंखुड़ियाँ, नालकी विलक्षणता, ब्रह्माके मुखसे भिन्न-भिन्न भाव आदि बड़े ही उत्कृष्ट हैं। पास ही लक्ष्मी चरण-सेवन कर रही हैं। दशावतारी पट्टक यहाँपर भी है। दीवारोंपर अंकित शिल्प कहींसे लाकर लगवाये गये ज्ञात होते हैं। बाहरके बरामदेमें वराहकी प्रतिमा अवस्थित है। पास हीमें १८ वीं शतीके एक लेखका टुकड़ा पड़ा है। इस मन्दिरसे कुछ दूर एक नई गुफा निकली है, जिसमें कुछ प्राचीन अवशेष हैं। जैन-मन्दिरके पश्चात् भागमें चण्डिकादेवी का भग्न मन्दिर है। यह मन्दिर लगता तो जैनियोंका है, पर अभी हिन्दुओं द्वारा भी माना जाता है। बरामदेमें कुछ मूर्तियाँ विराजमान हैं। मन्दिरके निर्माणका लेख तो कोई नहीं है, पर अनुमानतः यह १४वीं शतीका होगा। मन्दिरसे चार फर्लांग दूर डोलारा नामक विशाल जलाशयके तटपर एक टीला है, जो ध्वस्त मन्दिरका द्योतक है। तन्निकटवर्ती शिल्पोंमें योगिनी

शिल्प तथा पार्वतीकी मूर्त्तियाँ हैं जलाशयके सेतुकी निर्माण-कला अवश्य विचारणीय है। उसके निम्न भागमें पाषाण रोपकर, ऊपर शिलाएँ जमा दी गई हैं। बीचमें किसीके सहारे बिना ही सेतु टिका हुआ है। कार्त्तिकेय, गणेश, शिव-पार्वती, सूर्य, कृष्ण और सरस्वती आदिकी प्रतिमाएँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये जलाशय-तटपर पड़ी हुई हैं। संपूर्ण भद्रावतीको पुरातन अवशेषोंकी महानगरी कहा जाय, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि यहाँ शोध एवं खनन-कार्य किया जाय तो निस्संदेह अनेक रत्न निकलनेकी संभावना है।

त्रिपुरी :

जबलपुरसे ७वें मील पश्चिमका तेवर ही प्राचीन त्रिपुरी है। यही महाकोसलकी राजधानी थी। इसकी परिगणना डाहल राज्यान्तर्गत होती थी। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है, ईस्वी पूर्व ३री शतीकी मुद्राओंमें तथा परिव्राजक महाराजा संक्षोभके सन् ५१८वाले ताम्रपत्रमें त्रिपुरीका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। लिंग एवं पद्मपुराणमें भी इस स्थानकी चर्चा है। कलचुरियोंने नवीं शतीमें इसे राजधानी बनाकर त्रिपुरीके महत्त्वको द्विगुणित कर दिया। इनके समयमें त्रिपुरीका बहुमुखी वैभव भारतव्यापी हो चुका था। शासकोंका बौद्धिक स्तर निस्सन्देह उच्च कोटिका था। शिल्पकलाके तो वे परमोन्नायक थे ही, परन्तु उच्च कोटिके साहित्यिक कलाकारोंका सम्मान करनेके लिए भी सोत्साह प्रस्तुत रहते थे। महाकवि राजशेखर भी कुछ दिनोंतक त्रिपुरीमें रहे थे। तात्पर्य कि यहाँकी साहित्यिक परम्परा बड़ी ही विलक्षण थी। यहाँतक कि राजनैतिक इतिहासकी सामग्री स्वरूप जो ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं, एवं पत्थरोंपर जो लेख खुदे हैं, उनका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं।

मुझे दो बार त्रिपुरी जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। १९४२ में त्रिपुरीको मुझे दो घंटे ही देने पड़े थे। किन्तु फरवरी १९५०का चतुर्थ

सप्ताह मुझे यहीं व्यतीत करना पड़ा। इस समय मुझे कलचुरियों द्वारा विकसित तक्षण-कलाके अवशेषोंको व मूर्तियोंको भलीभाँति देखनेका अवसर मिला। इतना पश्चात्ताप मुझे अवश्य हुआ कि जिन कलात्मक अवशेषोंका भावग्राही वर्णन मैंने अन्यत्र पढ़ा था, वे यहाँ न मिले। जब कभी ग्रामीणों द्वारा आकस्मिक खुदाईमें अवशेष या मूर्तियाँ निकलती हैं, तब वे लाकर कहीं व्यवस्थित रूपसे रख देते हैं, और बुद्धिजीवी या व्यवसायी प्राणी मौका देखकर उठा लाते हैं। अभी भी यह क्रम जारी है।

जहाँतक स्थापत्यका प्रश्न है, वह कलचुरि कालसे सम्बन्ध जोड़ सके, ऐसा एक भी नहीं है। अवशेष अवश्य इतस्ततः बिखरे पड़े हैं। सबसे अधिक ललित कलाकी सामग्री मिलती हैं—विभिन्न मूर्तियाँ। बालसागरके किनारेपर, त्रिपुरीमें प्रवेश करनेके मार्गपर जो मन्दिर है, उसमें तथा सरोवर-के मध्यवर्ती देवालयकी दीवालोंमें, कलचुरि कालकी अत्यन्त सुन्दर कृतियाँ भद्दे तरीकेसे चिपका दी गई हैं। खैरमाई (बड़ी) के स्थानपर ध्यानी विष्णु, सलेख कार्तिकेय आदि देवोंकी मूर्तियोंके अतिरिक्त पश्चात् भागमें सैकड़ो मूर्तियोंके सर एवं बस्ट पड़े हैं। ग्राममें हरि लढ़ियेके घरके सामने विराट् वृक्षके निम्न भागमें भी मूर्तियाँ पड़ी हैं। इन पर लेख भी हैं। इसी झाड़के जड़ोंकी दरारोंमें देखनेपर मूर्तियाँ फँसी दिखलाई पड़ती हैं। छोटी खैरमाई एवं ग्राममें कई स्थानोंपर कुछेक घरोंमें मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इनमेंसे कुछेक कलाकी दृष्टिसे भी मूल्यवान् हैं। नगरीके मध्य भागमें त्रिपुरेश्वर महादेवकी मूर्तिके अतिरिक्त अन्य प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं। लोगोंका ऐसा ख्याल है कि यहाँ किसी समय मंदिर था, जैसा रुख वर्त्तमानमें है, उससे तो कल्पना नहीं होती, कारण कि मूर्तियाँ गहरे स्थानपर रखी गई हैं। इनकी रचनाशैलीसे कलचुरि कालकी प्रतीत होती हैं। उनके समयमें यदि स्वतंत्र मन्दिरका अस्तित्व होता, तो किसी न किसी ताम्र या शिला-लेखमें इसका उल्लेख अवश्य ही रहता, क्योंकि कलचुरि स्वयं शैव थे, अतः त्रिपुरेश्वर महादेवके मन्दिरका स्पष्ट उल्लेख

न करें, यह असम्भव है। बालसागरके तटपर कुछ मूर्ति-विहीन शैवमन्दिर आज भी विद्यमान हैं। यहाँ के कचरेमेंसे गजलक्ष्मीकी एक प्रतिमा प्राप्त हुई है।

त्रिपुरीके समीप ही कर्णवेलके अवशेष हैं। अभी वहाँ अच्छा जंगल पैदा हो गया है। केवल स्तम्भ मात्र रह गये हैं, एक स्तंम्भका चित्र दिया जा रहा है। कलचुरियोंकी यह सामान्य कृति भी, उनकी परिष्कृत रुचिकी परिचायक है। कर्णवेलमें दुर्गकी दीवालोंके चिह्न दो मीलतक स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। स्थान-स्थानपर गड्ढे भी मिलेंगे। इनमेंसे गढ़े-गढ़ाये पत्थर निकालकर मालगुज़ारने बेचकर सांस्कृतिक अपराध किया, तब हम पराधीन थे। परन्तु स्वाधीन होते हुए भी इस ओर जो उदासीनता बढ़ती जा रही है, वह खलती है।

हिन्दू संस्कृतिकी गौरवगरिमाको व्यक्त करनेवाली प्रचुर देव-देवियोंकी प्रतिमाओंकी यहाँके समान शायद ही कहीं सामूहिक उपेक्षा हो रही होगी। शैवी कृतियोंमें आभूषणोंका बाहुल्य है। मुझे भी सौ-लगभग उपेक्षित मूर्तियाँ व शिल्पावशेष यहाँकी जनता द्वारा, प्राप्त हुए थे, जिनकी चर्चा अन्यत्र की गई है। और वे सब जबलपुरके शहीद स्मारकमें रखे जावेंगे।

गढ़ा

जबलपुरसे पश्चिम ४ मीलपर पड़ता है, पर अब तो वह इसका एक भाग ही समझा जाने लगा है। यह गोंड राजाओंका पाटनगर था; जैसा कि मदनमहलसे (जो यहाँ से एक मील दूर पहाड़ीपर बना है) ज्ञात होता है। राजा संग्रामशाह इसमें रहते थे। महलके पास ही शारदाका मन्दिर है। संग्रामशाहकी मुद्राओंसे ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ टकसाल भी रही होगी। गढ़ामें जलाशयोंकी संख्या काफ़ी है। पुरातन अवशेष भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं, जो जलाशयके किनारे पर, रखे हुए हैं। यहाँ पर एक दरजीके घरकी दीवालमें ध्यानी-विष्णुकी सुन्दर प्रतिमा लगी हुई है। थानाके सम्मुख ही एक तान्त्रिक मन्दिर बना है।

कहा जाता है कि इसका निर्माण विशिष्टशैलीसे हुआ है। पुष्य-नक्षत्र आनेपर ही कार्य किया जाता था। आज भी गढ़ामें तान्त्रिकोंका अच्छा जमाव व प्रभाव है। एक पुरातन वापिका भी है। यहाँ खुदाई की अत्यावश्यकता है।

वाजनामठ

जबलपुरसे प्रायः ६ मील दूर, संग्रामसागरके किनारेपर बने हुए भैरव-मन्दिरको ही बाजनामठ कहते हैं। कहा जाता है कि यह भी सिद्ध स्थान है। इसका निर्माण गोंड राजा संग्रामशाहने करवाया था, वे भैरवके अन्यतम उपासक थे। एक बार किसी तान्त्रिकने षड्यन्त्र कर, राजाका बलिदान देना चाहा था, पर राजा ठीक समयपर चेत गया, अतः उनका प्रयत्न विफल रहा। भैरवका मन्दिर गोंड स्थापत्यका प्रतीक है। इसका गोल गुम्बज प्रेक्षणीय है। नवरात्रमें यहाँपर दूर-दूरके तान्त्रिक आते हैं। यह स्थान एकान्तमें होनेके कारण कभी-कभी भयजनक लगता है। पासमें मुर्दे भी जलाये जाते हैं। इस स्थानकी सुरक्षापर समुचित ध्यान देना वांछनीय है।

इसी संग्रामसागरके ठीक मध्य भागमें आमख़ास नामक एक स्थान पड़ता है। यह एक प्रकारसे छोटा-सा द्वीप ही है। महल बना हुआ है। एक आमका वृक्ष लगा है। इसीसे इसका नाम आमख़ास पड़ गया है, पर मूलतः वह दीवानेख़ास ही रहा होगा। जबलपुरके स्व० बाबू ऋषभदास भूरा तो, जबलपुरके समस्त खंडहर स्थानोंके दैनिक पर्यटक ही थे, वे मुझे बता रहे थे कि आमखासवाला महल नीचे तीन तलोंतक गहरा है। बैठनेको बड़े-बड़े हॉल हैं। कभी-कभी विषधर भुजंग भी निकलता है। इस प्रकारकी इमारतें कलचुरियोंके समय भी बना करती थीं, सर्वसाधारणको इन बातोंका पता कम रहता था। बिलहरीमें ऐसी वापिका मैं स्वयं देख चुका हूँ, जो तीन खंडोंमें विभाजित है।

जबलपुरके निकटवर्ती स्थानोंमें पुरातत्त्वकी प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है, उनमेंसे कुछ ये हैं—गोपालपुर, लमेटाघाट, ग्वारीघाट, भेड़ाघाट, कर्णवेल आदि आदि।

भेड़ाघाट : यहाँका-सा प्राकृतिक सौन्दर्य प्रान्तमें अन्यत्र दुर्लभ है। नीचे नर्मदा अविश्रान्त गतिसे प्रवाहित हो रही है, और एक मीलकी दूरीपर जलप्रपात प्रेक्षणीय है। यहाँका चौसठ योगिनीका मन्दिर भारतमें विख्यात है, जिसे गौरीशंकर-मन्दिर भी कहते हैं। इसे सन् ११५५-५६ ई० (कलचुरि सं० ६०७में) अल्हणदेवीने निर्माण करवाया था। यह गोल आकारका होनेसे गोलकी-मठ भी कहलाता है[1]। इसकी दीवार लगभग ७ फीट ऊँची है। मन्दिरकी रचना-शैली और पाषाणोंके देखनेसे प्रतीत होता है कि मन्दिर दो बारमें बना होगा, अथवा किसी मन्दिरसे पाषाण लाकर यहाँ लगवा दिये गये होंगे। मन्दिरका अधोभाग प्राचीन है, किन्तु इर्द-गिर्दका भाग आधुनिक-सा प्रतीत होता है। मन्दिर और मण्डपके मध्य भागमें छोटे अन्तरालके दाहिनी ओर एक लेख खुदा है, जिसमें लिखा है—'महाराज विजयसिंह देवकी माता महाराणी गोसलदेवी स्वपौत्र अजयदेवके साथ नित्यप्रति भगवान् वैद्यनाथके दर्शनार्थ आती थीं।' मुख्य गर्भद्वारमें गौरीशंकरकी प्रधान मूर्ति है, जिसमें शिव-दुर्गा नन्दीपर सवार हैं। शिव हाथमें त्रिशूल और पार्वती दर्पण धारण किये हैं। उभय पक्षस्थित स्तम्भोंपर ब्रह्मा और विष्णुकी मूर्तियाँ

---

[1] इस मठके प्रधान आचार्य सद्भावशंभु थे, जो दाक्षिणात्य थे। युवराजदेवने इस मठको ३ लाख गाँव दान स्वरूप भेंट दिये थे।

तस्मै निस्पृहचेतसे कलचुरि
क्ष्मापालचूडामणिः
ग्रामाणां युवराजदेवनृपतिः
भिक्षां त्रिलक्षं ददौ।

है। दाहिनी ओर सूर्य तथा बाईं तरफ़ विष्णुकी सुन्दर प्रतिमा, जो लक्ष्मीको गोदमें लिये हुए-गरुड़ारूढ़ हैं। बाँईं ओर दीवारमें अष्टभुजी गणेशकी प्रतिमा है। इस प्रतिमाकी विशेषता यह है कि यह नाचती हुई बताई गई है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति सर्वोत्तम है। दूसरे भागमें कलचुरि सम्राट् गांगेयदेव, कर्णदेव तथा यशःकर्णदेवकी समकालीन मूर्तियाँ हैं, जो सामूहिक शिल्पकोरणीका एक नमूना है। यहाँपर एक बिस्तरपर लेटे मानवकी ३॥।×२ फीटकी प्रतिमा है। एक स्त्री झुककर उसके कानमें कुछ कह रही है और वह भी कानपर हाथ लगाकर श्रवण करनेका प्रयास कर रहा है। और भी तीन-चार स्त्रियाँ पासमें लेटी हुई हैं। मन्दिरके चारों ओर गोलाकार दीवारमें चौसठ योगिनियोंकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं। जिनकी बनावट स्थूल और कड़कीले पाषाणकी है। अधिकतर प्रतिमाएँ कलचुरि मूर्ति-कलाकी उत्कृष्टतम तारिकाएँ हैं। इन मूर्तियोंको देखनेसे मालूम होता है कि इनके भावोंको विचारनेमें, और मस्तिष्क-स्थित ऊर्मियोंको इन पाषाणोंपर उत्कीर्णित करनेमें अनेक वर्षोंका व्यय करना पड़ा होगा। इनमें मुखमुद्राका सौन्दर्य युक्त विकास, शारीरिक गठन, अंग-प्रत्यंगपर कलाका आभास, सूक्ष्मता, आभूषणोंका बाहुल्य आदि विशिष्टताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं। कलचुरि-कलाका ज्वलन्त उदाहरण इससे बढ़कर प्रान्तमें नहीं मिलेगा। ये प्रतिमाएँ तन्त्रशास्त्रोंसे सम्बन्धित हैं। जिस योगिनीका जैसा रूप-वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थोंमें आया है, ठीक उसीके अनुरूप उनकी रचना कर, कलाकारने अपने कौशलका सुपरिचय देकर, कलचुरि-राजवंशको सदाके लिए अमर बना दिया है। इनके बिना प्रान्तीय मूर्ति-विज्ञानका इतिहास सर्वथा अपूर्ण रहेगा। इन मूर्तियोंमें गणेशकी एक मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। उसमें गणेश स्त्री-रूपमें हैं। इन मूर्तियोंके अतिरिक्त शैव-धर्मसे सम्बन्धित विशाल शिल्प-स्थापत्य भी प्राप्त है, जो कलचुरि-राजवंशका शैव-प्रेम सूचित करता है। कुछ वात्स्यायनके कामसूत्रके विषयको

स्पष्ट करनेवाली प्रतिमाएँ भी हैं, पर इनमें अश्लीलताका अभाव नहीं है।

प्रत्येक योगिनीका मूर्तिपर नामोल्लेख इस प्रकार है—(१) छत्र-संवरा, (२) अजीत (३) चंडिका (४) आनन्द (५) ऐंगिनी (६) ब्रह्माणी (७) माहेश्वरी (८) ठकारी (९) जयती (१०) पद्महस्ता (११) हंसिनी १२, १३, १४ ज्ञात नहीं। (१५) ईश्वरी (१६) इन्द्र-जाली (१७) राहनी १८, १९, २० पढ़ा नहीं जाता। (२१) ऐंगनी (२२) उत्ताला (२३) नालिनी (२४) लम्पटा (२५) दद्दुरी (२६) झयानाला (२७) गांधारी (२८) जाह्नवी (२९) डाकिनी (३०) बांधिनी (३१) दर्पहारी (३२) नाम स्पष्ट नहीं है। (३३) लंकिनी (३४) वहा (३५) वंदाली (३६) शाकिनी (३७) ठड्डुरी (३८) अज्ञात (३९) वैष्णवी (४०) भीषणी (४१) शवरा (४२) छत्रधारिणी (४३) खंडिता (४४) फणेन्द्री (४५) वीरेन्द्री (४६) डकिनी (४७) सिंहसिंहा (४८) झापिनी (४९) कामदा (५०) रणजिरा (५१) अन्तकारी (५२) अज्ञात (५३) एकडा (५४) नंदिनी (५५) वीभत्सा (५६) वाराही (५७) मन्दोदरी (५८) सर्वतोमुखी (५९) थिरचित्ता (६०) खेमुखी (६१) बांभवती (६२) अस्पष्ट (६३) औंतारा (६४) अस्पष्ट (६५) यमुना (६६-६७) अस्पष्ट (६८) पांडवी (६९) नीलांबरा (७०) अज्ञात (७१) तेरमवा (७२) घंडिनी (७३) पिंगला (७४) अहरवला (७५-७६) अस्पष्ट (७७) बठरवा (७८) अज्ञात (७९) रिपवादेवी।

कालिकापुराण और दुर्गापूजा पद्धतिमें जो चौंसठ योगिनियोंके नाम लिखे हैं, वे पाँच-छः नामोंको छोड़ इनसे मिलान नहीं खाते, परन्तु का० पु० और दु० पू०के नाम भी मिलान नहीं खाते, केवल २४ मिलते हैं[1]।

---

[1] रायबहादुर हीरालाल—जबलपुर ज्योति, पृ० १६३-४।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें जो योगिनियोंकी संख्या दी गई है, वह अधिक है। ६४ योगिनियोंके अतिरिक्त देवियाँ भी इसमें सम्मिलित कर दी गई हैं। ज्ञात होता है कि बढ़ते हुए तंत्रवादने इनकी संख्यामें वृद्धि तो कर डाली पर जो शास्त्रीय एकरूपता क़ायम रहनी चाहिए थी, वह न रह सकी। मेरा तो अनुमान है कि साधकको जिसका इष्ट था, उसकी मूर्ति बनवाता गया और यहाँ प्रतिष्ठित करवाता गया। यदि ऐसा न होता तो शास्त्र परम्परापर पनपनेवाले तांत्रिक केन्द्रमें इतना अन्धेर न मचता।

कालके प्रभावसे जैनधर्म भी तंत्रपरम्परासे न बच सका। योगिनियों-की मान्यताने न केवल जैन धर्ममें प्रवेश ही किया अपितु बादमें इस परम्परा पर प्रकाश डालनेवाले तंत्रात्मक ग्रन्थोंका भी सृजन होने लगा। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि हिन्दुओंके अनुसार जैनोंकी योगिनियोंके नामोंमें एकरूपता क़ायम न रह सकी। मेरे सम्मुख अभी विधिप्रपा और भैरव पद्मावतीकल्प अवस्थित हैं, दोनोंमें विभिन्न रूपसे योगिनियोंके नाम पाये जाते हैं। इतनी बड़ी शक्ति परम्परामें जब नामैक्य न रह सका तो साधना पद्धतिमें एकताकी कल्पना ही व्यर्थ है।

पनागर

जबलपुरसे उत्तरमें ६ मीलपर यह बसा हुआ है। पुरातत्त्व-अभ्या-सियोंने इसे आजतक पूर्णतया उपेक्षित रखा है। फ़कीरे काछीके घरके पीछे अमरूदके पेड़की सुदृढ़ जड़ोंमें, सात फ़ीटसे अधिक ऊँची, सपरिकर सूर्य-मूर्ति बुरी तरहसे फँसी पड़ी है। वह कुछ खंडित भी हो गई है। मूर्ति श्याम शिलापर उत्कीर्णित है। पानी अधिक गिरनेसे ऊपर खूब काई जम गई है। मूर्तिका विशाल परिकर व अन्य उपमूर्तियाँ कलाका भव्य प्रतीक हैं। भग्नावस्थामें भी वह अपने स्वाभाविक सौन्दर्यको लिये हुए है। कलचुरि कालीन अनेक आभूषणसे विभूषित है। पूर्णा-लंकार तो बहुत ही सुन्दर है। मुख्य प्रतिमाके निम्न भागमें दोनों ओर

स्त्री परिचारिकाएँ मस्तक विहीन हैं। कटिप्रदेश, हाथोंकी भावभंगिमा बड़ी आकर्षक है। इनके आगे एक-एक परिचारक है। मूर्तिका परिकर साँचीके तोरणकी याद दिला देता है। प्रभावलीपर अन्तिम गुप्तकालीन प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि मूर्तिपर समय-सूचक कोई लेख नहीं है; पर इसकी रचनाशैलीसे ज्ञात होता है कि वह १०वीं शतीके पूर्व और १२वीं शतीके बादकी नहीं हो सकती। कलचुरि कालकी कृति मान लें तो अनुचित नहीं। इस शैलीकी सूर्य-मूर्तियाँ त्रिपुरी, बिलहरी व श्रीपुरमें भी पाई गई हैं।

बसंता काछीका खेत इससे लगा हुआ है। इसमें पुरातन स्तंभोंके उपरि भाग—आकृतिसूचक तीन अवशेष पड़े हैं। ३॥। फ़ीटसे अधिक लम्बाई चौड़ाई है। इसमें मुख्यतः तो कीचकाकृति है, पर तीनों ओर अन्य सुन्दरतम मूर्तियाँ भी उत्कीर्णित हैं। यद्यपि स्तंभ बहुत सुरक्षित तो नहीं है, पर मूर्तियोंवाला भाग मिट्टीमें दबा रहनेसे प्रतिमाएँ अखंडित हैं। ऊपर शलाका खोंसनेकी रेखाएँ बनी हैं।

कन्जी काछीका खेत बसंताके खेतके ठीक सामने ही सड़कके उस पार पड़ता है। इसमें कुछ लघुतम मन्दिर पड़े हुए हैं, जो सर्वथा अखंडित व सुन्दर खुदाववाले हैं। इन मन्दिरोंकी ऊँचाई, सशिखर ५ फीटसे कम न होगी। ये चलते-फिरते मन्दिर हैं। ऐसे मन्दिर एक ही शिलाखंडको व्यवस्थित रूपसे उकेरकर मध्यकालमें बनाये जाते थे। ऐसे कुछ मन्दिर प्रयाग-नगरपालिका-संग्रहालयमें, ठीक सामने ही रखे हुए हैं।

वराह मन्दिरके भग्न चौतरेके ऊपर बाजूमें, (यह पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्मारकोंमें सम्मिलित हैं) जलाशयके तटपर, तथा खैरदय्याके स्थानोंपर अन्य अवशेष रखे हुए हैं। अरक्षित-उपेक्षित २५ अवशेष मैंने संग्रहीत किये थे, जिनमें हरगौरी, पार्वती, जिनेश्वर, गणेश, सूर्य, विष्णु, अहि-कालियदमन आदि मुख्य हैं। यहाँ खनन किया जाय तो और भी बहुमूल्य सामग्री प्रचुर-परिमाणमें प्राप्त की जा सकती है।

कटनी

जबलपुरसे उत्तर ७० मील है। मध्यप्रदेशीय इतिहास और पुरातत्त्व प्रसिद्ध अन्वेषक स्व० डा० हीरालालजी यहींपर रहते थे। उनका बचा-खुचा संग्रह यहाँपर विद्यमान है। गृह-प्रवेश द्वारके ऊपर ही अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा रखी गई है। भीतर भी पुरातन रेखाओंवाले पत्थरोंका एक द्वार बना है। बगीचेमें जैनमूर्ति रखी हुई है, जो बिलहरीकी वापिकासे लाई गई थी। ताम्रपत्र, मुद्राएँ व कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थोंका सामान्य संग्रह है। कटनीके निकट डा० साहबके दाहसंस्कारवाले स्थानपर एक साधारण चौतरा बना हुआ है। अफ़सोसकी बात है कि उनका परिवार; सभी तरहसे सम्पन्न होते हुए भी, उनकी प्रशस्ति तक नहीं लगवा सका है, जब कि चौतरेमें इसलिए स्थान भी छोड़ा गया है। मसुरहा घाटपर मुझे यहाँ दशावतारी विष्णुकी भव्य प्रतिमा प्राप्त हुई थी, इसका परिचय पृष्ठ ३७६ पर है।

करीतलाई

कटनीसे ३० मील ईशानकोणमें अवस्थित है। कारीतलाई प्राचीनतम कलाकृतियोंका महान् केन्द्र है। सहस्राधिक अवशेष अपहृत होनेके बाद भी आज अनेक श्रेष्ठतम कला-सम्पन्न मूर्तियाँ सुगढ़ित, पत्थर, स्तम्भ, आदि अवशेष प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। दुर्भाग्यसे इतने महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक केन्द्रका अध्ययन, समुचित रूपसे जनरल कनिंघमके[1] बाद किसीने नहीं किया। उपलब्ध मूर्तियोंमें दशावतार, सूर्य, महावीर

---

[1] "जनरल कनिंघमने सन् १८७९ ईस्वीमें एक श्वेत पत्थरकी वृहदाकार नरसिंहाववारकी मूर्ति देखी थी" इसपर स्व० डा० हीरालाल लिखते हैं—"उसका अब पता नहीं है।"

—जबलपुर-ज्योति, पृ० १२१,

व गणेशकी मूर्तिके अतिरिक्त जैनमूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। अधिकतः लेखयुक्त हैं। जबलपुर कोतवालीवाली विस्तृत शिला-लिपि यहींसे प्राप्त हुई थी। जिस प्रकार कलचुरि-शिल्पकी दृष्टिसे बिलहरी और त्रिपुरीका महत्त्व है, यहाँका महत्त्व भी उनसे कम नहीं।

बिलहरी

कटनीसे नैऋत्य कोणमें नवें मीलपर अवस्थित है। ४ मीलके बाद मार्ग कच्चा है। २ नाले बीचमें पड़नेसे, मोटर सरलता पूर्वक नहीं जा सकती। १९५० फरवरीके प्रथम सप्ताहमें मुझे बिलहरी जानेका सु-अवसर प्राप्त हुआ था। मैं चाहता तो यह था कि अधिक दिनोंतक रहकर कुछ अनुशीलन किया जाय, किन्तु परिस्थितिवश समय न निकाल सका। बिलहरी एकान्तमें पड़ जानेसे एवं मार्गकी दुर्गमताके कारण कोई भी विद्वान् जानेकी हिम्मत कम ही करता है। हम जैसे पादविहारियोंके आगे मार्ग-काठिन्य जैसी समस्या नहीं उठती।

बिलहरीका प्राचीन नाम पुष्पावती कहा जाता है। इस नाममें कहाँतक प्राचीनत्व है, नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो भी प्राचीन लेख, शिल्पकृतियाँ एवं अन्य ऐतिहासिक उपकरण उपलब्ध हुए हैं, उनकी आयु कलचुरिकालसे ऊपर नहीं जा सकती, न पौराणिक साहित्यमें पुष्पावती-की चर्चा ही है। तात्पर्य दशम-एकादश शतीकी शिल्प रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, अतः कलचुरियुगीन स्थापत्य एवं मूर्तिकलाके अभ्यासियोंके लिए बिलहरी उत्तम अध्ययनकेन्द्र है। यद्यपि प्राचीन वस्तु-विक्रेताओं—जो निकटमें ही रहते हैं—ने सुन्दर कलात्मक प्रतीक वैयक्तिक स्वार्थोंकी क्षुद्रपूर्तिके लिए, बिलहरीके भू-भागको सौन्दर्यविहिन करनेकी किसी सीमातक चेष्टा की है तथापि अवशिष्ट सामग्री भी एतद्देशीय कलाका प्रतिनिधित्व कर रही है। यहाँके स्थापत्योंमें अखण्डित कृति बहुत ही कम है।

लक्ष्मणसागर

बिलहरीमें प्रवेश करते ही विशाल जलाशय एवं उसके तटपर बनी हुई गढ़ी ध्यान आकृष्ट कर लेती है। गाँवको देखते हुए तालाब काफी सुन्दर, स्वच्छ एवं स्वास्थ्यवर्धक है। कहा जाता है कई बीसियोंसे इसका पानी सूखा नहीं है। सरोवरको देखते ही बिलहरीकी विराट् कल्पना सजीव हो उठती है। लोकोक्तिके अनुसार इसका निर्माता कोई चन्देल लक्ष्मणसिंह था, परन्तु इतिहाससे सिद्ध है कि चन्देलवंशमें इस नामका कोई राजा नहीं हुआ। हाँ, चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित गढ़ीके कारण लोगोंने कल्पना कर ली हो कि लक्ष्मणसागरका निर्माता और गढ़ीका कर्त्ता एक ही हो तो आश्चर्य नहीं। गढ़ी चन्देलोंने बनवाई होगी, कारण कि कलचुरि जब दुर्बल हो गये थे तब बिलहरीपर चन्देलोंने अधिकार कर लिया था। लक्ष्मणसागर तो नोहला देवीके पुत्र लक्ष्मणराजने ही बनवाया था, क्योंकि यहाँपर विस्तृत लेख[1] उपलब्ध हुआ है, जिससे जाना जाता है कि नोहलादेवीने एक शिवमंदिर बनवाया था। ऐसी स्थितिमें पुत्र द्वारा तालाब बनवाया जा सकता है।

किनारेपर बनी हुई गढ़ी प्रायः नष्ट हो गई है। सन् ५७ के विद्रोही सैनिकोंने इसमें आसरा लिया था, जिसके फलस्वरूप गढ़ीसे हाथ धोना पड़ा। एक बुर्जपर आज भी सैकड़ों गोलियोंके चिह्न बने हुए हैं परन्तु बुर्जमें से १ कंकड़ी भी नहीं खिरी। इस गढ़ीके पत्थरोंका उपयोग सड़कोंके पुलोंमें हुआ है। गढ़ीका पिछला स्थान एकान्तमें पड़ता है। वहाँपर पुरातन मूर्तियाँ भी पड़ी हैं। खंडित गढ़ी भी देखने योग्य है।

विष्णुवराहमन्दिर

बिलहरीमें प्रवेश करते ही विष्णुवराहके मन्दिरपर दृष्टि स्तम्भित

---

[1] यह लेख नागपुर म्यूज़ियममें सुरक्षित है।

हो जाती है। यही मन्दिर अपने आपमें पूर्ण है। इसमें एक लेख भी पाया गया है, जो कनिंघम सा०की रिपोर्टमें प्रकाशित है। जितना प्राचीन लेख है उतना प्राचीन मन्दिर नहीं जान पड़ता, मैंने वास्तुकलाकी दृष्टिसे इसे देखा, परन्तु मुझे एक भी ऐसा चिह्न नहीं दिखलाई पड़ा जो इसे १२वीं शताब्दी तक ले जा सके। मेरे मतसे तो मन्दिरका जो ढाँचा दृष्टिगोचर होता है, वह निश्चित रूपसे मुसलमानोंके पहलेका नहीं है। बल्कि शिखर-पर मुग़लशैलीका स्पष्ट प्रभाव भी है। मुग़ल शासकोंके कानोंतक बिल्हरी की गौरवगरिमा पहुँच चुकी थी। आइने अकबरीमें बिलहरीके पानका उल्लेख है। सूचित सरोवरके तटपर आज भी पानकी बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ लगी हैं। यहाँका पान सापेक्षतः बड़ा और सुस्वादु होता है।

मन्दिरकी चौखट अवश्य ही कलचुरि मूर्ति एवं तोरणका प्रतीक है। पाषाण एवं शिल्पशैली भी प्राचीनताकी ओर संकेत करती है। मन्दिरमें व्यवहृतशैलीसे इसका कोई साम्य नहीं। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार गुर्जेके तोरणको रीवाँके राजमहलके मुख्य द्वारमें जड़वा दिया है, ठीक उसी प्रकार यह भी, कहींसे लाकर इस मन्दिरमें स्थापित कर दिया है। ऊपरसे बैठाये जानेके चिह्न स्पष्ट हैं। तोरणमें उत्कीर्णित मूर्तियाँ भावशिल्प का स्वस्थ आदर्श उपस्थित करती हैं। मन्दिरका गर्भ-गृह भी आधुनिकतम प्रतीत होता है।

बाहरके भागमें टूटी-फूटी मूर्तियाँ एवं स्थापत्यावशेषोंके खंड रक्खे गये हैं। तारोंसे हाता घिरा हुआ है। पुरातत्त्व विभागने इसे अपने अधिकारमें रखा है।

मठ

राजा लक्ष्मणराजने बिलहरीमें एक मठ बनवाया था, आज भी गाँवके भीतर एक मठ दिखलाई पड़ता है। मैंने भी इसे सरसरी तौरसे देखा है। मठका ऊपरी भाग दूरसे ऐसा लगता है, मानो कोई राजमहल हो। क्रमशः

विकसित छोटी-छोटी गुमटियाँ एवं गवाक्ष बड़े ही सुन्दर लगते हैं, परन्तु ऊपरका भाग इतना जीर्णप्राय हो गया है कि नहीं कहा जा सकता कब कौनसा भाग खिर जाय। निम्न भागको देखनेसे तो ऐसा लगता है, कि यह मठ न होकर कोई स्वतन्त्र मन्दिर ही रहा होगा कारण कि बड़ा गर्भ-गृह बना हुआ है। चारों ओर प्रदक्षिणाका स्थान ही शेष है। छतमें डँट एवं बेलबूटोंकी जो रेखाएँ हैं वे विशुद्ध मुग़लकालीन हैं। इनमें गेरुए रंगके प्रयोगकी प्रधानता परिलक्षित होती है। इससे लगे हुए अंधकारग्रस्त कुछ कमरोंमें भी लिंग-विहीन जिलहरियाँ पड़ी हैं और चमगीदड़ोंका एकच्छत्र साम्राज्य है। बिना प्रकाशके प्रवेश सम्भव नहीं। प्रश्न रह जाता है कि इसका निर्माता कौन है? लक्ष्मणराज द्वारा विनिर्मित तो यह मठ हो ही नहीं सकता कारण कि प्राचीनताकी झलक कहींपर भी दृष्टिगोचर नहीं होती, बल्कि विशुद्ध मुग़लकालीन कृति जान पड़ती है कारण कि मुग़ल कलमका प्रभाव छतोंकी रेखाओंसे स्पष्ट जान पड़ता है। ग्राम वृद्धोंसे विदित हुआ कि डेढ़ सौ वर्ष पूर्व, संन्यासियोंका यह मठ बहुत बड़े केन्द्रके रूपमें प्रसिद्ध था, जनता उन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखती थी। अनाचार सेवनसे यह केन्द्र स्वतः नष्ट हो गया। आज हालत यह है कि चारों ओर इतने पौधे उत्पन्न हो गये हैं कि प्रवेश करना तक कठिन हो गया है। लक्ष्मणराज द्वारा निर्मित कथित मठके लिए अन्वेषणकी अपेक्षा है। मठके सम्बन्धमें एक और बात ध्यान देने योग्य है कि यह कभी जैन-मंदिर या साधनाका स्थान न रहा हो? कारण कि जैनकलाके प्रतीक सम स्वस्तिक और कलशका अंकन इसमें है। समीपस्थ वापिकाकी जैनमूर्तियाँ, भी इसका समर्थन करती हैं। आज भी मठके निकट दर्जनों जैनकला कृतियाँ विद्यमान हैं।

माधवानल, कामकन्दला महल और पुष्पावती ?

बिलहरीसे १॥ मील दूर कामकन्दला-मठके अवशेष छोटेसे टीलेपर

बिखरे पड़े हैं। किंवदन्ती है कि माधवानल उच्चकोटिका गायक था। काम-कन्दला नामक वारांगनासे विवाह कर पुष्पावतीमें रहने लगा था। उसने अपने लिए जो महल बनवाया था, उसका नाम कामकन्दलासे जोड़ दिया। स्थानभेद एवं कुछ परिवर्तनके साथ यह लोक-कथा पश्चिम भारतमें १७ शती तक काफी प्रसिद्ध रही। जैनकवियोंने भी इस शृंगारिक लोक-कथाको अपने ढंगसे लिपिबद्ध किया।

माधवानल कामकन्दला एक भारतीय लोककथा है। इसका प्रचार प्रायः सर्वत्र—कुछ परिवर्तनके साथ पाया जाता है। इस प्रणय कहानीपर प्रायः प्रत्येक प्रान्तवालोंने कुछ न कुछ लिखा है। उपलब्ध आख्यानकोंमें कुछ एकका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। वाचक कुशललाभकी माधवानल[1] कथा (रचनाकाल वि० सं० १६७३ फा० कृ० १३ रविवार, जैसलमेर,) और एक अज्ञात कविकी मनोहर[2] माधवविलास-माधवानल (लेखनकाल सं० १६८८ का० पूर्णिमा) के अतिरिक्त हिन्दी भाषामें आख्यानक उपलब्ध हुए हैं[3]।

इन सभीमें माधवानलका निवासस्थान पुहपावती-पुष्पावती बताया है। परन्तु वाचक कुशललाभको छोड़कर किसीने उसकी भौगोलिक स्थितिका स्पष्ट निर्देश नहीं किया। वाचकवर्य सूचित करते हैं—

देश पूरब देश पूरब गंगनइ कंठि
तिहाँ नगरी पुहपावती राज करइ हरिवंस मंडण
तसु घरि प्रोहित तास सुत, माधवानल नाम बंभण
कामकन्दला तसु घरणि सीलवंत सुपवित्त
विबुधभोग जिम विलसिया, ते वर्णविसुं चरित्र

---

[1] आनन्द-काव्य-महोदधि, गुच्छक सातमें प्रकाशित,
[2] जैनगुर्जर कविओ भा० ३, खं० १, पृ० १०३८,
[3] हिन्दुस्तानी, भा० १६, अं० २, पृ० २७१-२८०,

बिलहरीमें किंवदन्ती प्रचलित है कि पुहपावती इसका प्राचीन नाम है, और किसी समय इसका विस्तार १२ कोसतक था। स्व० डा० हीरालाल[1] आदि कुछ विद्वान् बिलहरी और पुष्पावतीको एक ही नगरी माननेकी चेष्टा करते नज़र आते हैं। परन्तु इस किंवदन्तीका आधार क्या है? अज्ञात है। आजतक कोई भी लेख व ग्रन्थस्थ उल्लेख मेरे अवलोकनमें नहीं आया जो दोनोंको एक माननेका संकेत करता हो। बिलहरीका और भी कुछ नाम रहा होगा यह भी अज्ञात है। ऐसी स्थितिमें बिना किसी अकाट्य प्रमाणके बिलहरीका प्राचीन नाम पुष्पावती स्थापित कर देना या मान लेना, किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं।

जिस पुष्पावतीका माधवानल निवासी था, वह तो पूर्वदेशमें गंगाके किनारे कहीं रही होगी, जैसा कि वाचक कुशललाभके उल्लेखसे सिद्ध है। इस चौपाईमें आगे भी बीसों उल्लेख पुष्पावतीके आये हैं। वहाँपर गोविन्दचंद राजा था, और वह हरिवंशी था। बिलहरीको थोड़ी देरके लिए पुष्पावती—किंवदन्तीके आधार पर मान भी लिया जाय तो भी एक आपत्ति यह आती है कि यहाँपर गोविन्दचन्द[2] नामक हरिवंशीय कोई भी राजा हुआ ही नहीं। न बिलहरीके निकटकी नदीका ही कोई ऐसा नाम है, जो गंगाके नामसे समानता रखती हो।

मैंने इन आख्यानकोंको इसी दृष्टिसे पढ़ा है और बिलहरी तथा तत्सन्निकटवर्ती स्थानोंका अन्वेषण भी किया है, वहाँपर प्रचलित रीति-रिवाजोंको भी समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु मुझे ऐसा संकेत तक नहीं मिला कि इन आख्यानक-वर्णित रिवाजोंके साथ उनकी तुलना

---

[1] जबलपुर-ज्योति, पृ० १५७,

[2] "ते हिज गंग वहइ सासती, तिण तटि नगरी पुहपावती
गोविन्दचन्द करइ तिहाँ राज……।

आनन्द-काव्य महोदधि, पृ० १०,

कर सकूँ। विशुद्ध पुरातत्त्व और इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय तो बिलहरीका अस्तित्व कल्चुरि कालसे ही ज्ञात है। इतः पूर्व इसकी स्थिति कैसी रही होगी, आवश्यक साधनोंके अभावमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पुरातन जो अवशेष बिलहरीके खंडहरोंमें बिखरे पड़े हैं, उनसे भी यही ज्ञात होता है कि १००० वर्षके ऊपर बिलहरीका इतिहास नहीं जा सकता। मान लीजिए यदि इतः पूर्व इसका सांस्कृतिक या राजनैतिक विकास हुआ भी होता तो तात्कालिक लेखोंमें या ग्रन्थस्थ उल्लेखोंमें इसका नाम, किसी न किसी रूपमें अवश्य रहता। जब त्रिपुरीका उल्लेख पाया जाता है तो इतनी विस्तृत व उन्नत नगरी कदापि अनुल्लिखित न रहती।

इतने विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुष्पावती, बिल्हरीका नाम कैसे पड़ा और क्यों पड़ा; यदि पुष्पावती नाम न पड़ता तो माधवानल-कामकन्दलाका सम्बन्ध भी इस नगरीसे न जुड़ता।

यह प्रश्न जितना सरल है उतना उत्तर सुगम नहीं। इसपर अधिक ऊहापोह किया जा सके वैसी साधन-सामग्री भी उपलब्ध नहीं है। परन्तु हाँ, धुँधला प्रकाश मिलता है, इससे कुछ कल्पना आगे बढ़ती है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें मैंने तथाकथित आख्यानक हिन्दीमें भी मिलनेका सूचनात्मक उल्लेख किया है, उसमें माधवानन्द—माधवानलके चलते चलते बांधवगढ़ (रीवाँ) आनेकी सूचना है, नर्मदा नदीके तटपर वर्ती कामावतीका व हीरापुर[1]का उल्लेख है। रीवाँ बिलहरीसे संभवतः ७५ मील होगा। और हीरापुर सागर ज़िलेमें ५० मील उत्तरमें अवस्थित है। इसके निकट

---

[1] बुन्देलखंडकी सीमापर है—

रत्नाकर सागर जिला पन्ना हीराखांन
हीरा रचित सरोजहु, हीरापूरे सिरान,
सागर-सरोज, पृ० १५५,

नदी भी होनी चाहिए। एक बात और ध्यान देनेकी है, वह यह कि तरनतारण स्वामीका जन्म भी पुष्पावतीमें हुआ था, ऐसा कहा जाता है, उनका विहार प्रदेश, अधिक सागर-दमोह व बुन्देलखंडका भू-भाग रहा है। बिलहरी इसीके अन्तर्गत है। तारणस्वामीके अनुयायियोंका मानना है कि यह वही पुष्पावती है जिसे लोग बिलहरी कहते हैं। वहाँ जैनोंका उन दिनों—१४ शतीमें व इससे कुछ पूर्व—बहुत बड़ा केन्द्र था। माधवानलका बघेलखंडसे गुज़रना ये सब बातें मिलजुलकर एक भ्रामक परम्परा बन गईं, किन्तु तारणस्वामीके साहित्यमें ऐसी बात नहीं पाई जाती। उत्तरवर्ती अनुयायी-भक्तोंसे इस किंवदन्तीका सूत्रपात हुआ। यह विषय काफ़ी विचारकी अपेक्षा रखता है। हाँ, इतना मैं कह देना चाहूँगा कि इस ओर तारण-परम्पराके उपासकोंकी संख्या हज़ारोंमें है।

वाचक कुशललाभने माधवानलका जो मार्ग बताया है, उसमें न तो नर्मदाका उल्लेख है और न मध्यप्रदेशके किसी भी गाँव, पर्वत और ऐसे ही किसी स्थानकी चर्चा है, जिससे उनका इस ओर आना प्रमाणित हो सके। माधवानलके हिन्दी आख्यानका कुछ मेल कुशललाभ कथासे बैठता है। राजा गोविन्दचन्द्र, पुष्पावती, कामावती और कामसेन, आदि नाम दोनों कथाओंमें समान हैं। पर मार्गमें बड़ा अन्तर है। हिन्दी-आख्यान रीवाँके कामदपर्वत—कामतानाथ—चित्रकूट[1]—का उल्लेख करते हैं तो कुशललाभ केवल कामावतीका ही।

मुझे तो ऐसा लगता है कि यह लोककथा होनेसे प्रत्येक प्रान्तके

---

[1] यह स्थान रीवाँसे ८८ मील गहरे वनोंमें है, इसे आम्रकूट-अमरकूट भी कहते हैं, कालिदासका आम्रकूट शायद यही हो, जिला छिंदवाड़ामें अमरकूट नामक एक स्थान है। पर मेरी सम्मतिमें रीवाँ वाला स्थान अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है।

कवियोंने अपने अपने प्रान्तोंके ग्राम, नगर, पर्वत और नदियोंके नाम जोड़ दिये होंगे, कारण कि ऐसी कथाओंका ऐतिहासिक महत्त्व प्रधान नहीं होता, मुख्य तो मन-रंजन रहता है।

छत्तीसगढ़में डोंगरगढ़के कुछ अवशेष भी इस आख्यानके साथ जुड़-से गये हैं। अस्तु!

अब पुनः बिल्हरीके कथित माधवानल कामकन्दलाके महलकी ओर लौट चलें।

इन कथित अवशेषोंका सम्यक्‌रीत्या देखनेसे तो ऐसा लगता है कि, यह कथित महल ढह गया है, कारण कि अवशेषोंका बनाव ऐसा ही है, कुछ स्तम्भ एवं ऊपर की छतें आज भी सुरक्षित हैं। इनके ऊपरसे कोनों तकका सौन्दर्य देखा जा सकता है। गिरे हुए अवशेष एवं दीवालकी परिधि एक फर्लांगसे ऊपर नहीं है, अतः यह महल तो हो ही नहीं सकता। गिरे हुए पत्थरोंको हटाकर जहाँतक हमारा प्रवेश हो सकता था, हमने देखा, यह महल न होकर एक देवालय था। गर्भगृहके तोरणको—जो पत्थरोंमें दबा हुआ-सा है, देखनेसे तो यही ज्ञात होता है कि यह शैव मन्दिर है। नाग-कन्याएँ एवं गणेशजीकी मूर्तिके अतिरिक्त शिवजीकी नृत्य मुद्राएँ तोरणकी चौखटमें खचित हैं। इसे शिवमन्दिर माननेका दूसरा और स्पष्ट कारण यह है कि ठीक तोरणसे ५ हाथ पर विस्तृत जिलहरी पड़ी हुई है। ज्ञात हुआ कि इसमेंसे एक लेख भी प्राप्त हुआ था, जो नागपुरके संग्रहालयमें चला गया। मेरे विनम्र मतानुसार यह अवशेष उसी शैवमन्दिरके होने चाहिए, जिसे केयूरवर्षकी रानी नोहलादेवीने बनवाया था। मन्दिरके सभा-मंडपके स्तम्भ व कुछ भाग बच गया है, उससे इसका प्राचीनत्व सिद्ध है। मन्दिरमें व्यवहृत पत्थर बिल्हरीका रक्त प्रस्तर है। समझमें नहीं

---

[1]यहाँके किसी सज्जनने भी इस आख्यानको बिल्हरीके महत्त्वको प्रकट करनेके लिए लिखा है, प्रकाशित भी हो गया है।

आता कि यह स्पष्टतः शैवमन्दिर होते हुए भी, कामकन्दला नामके साथ कैसे सम्बद्ध हो गया।

हाथीखाना

उपर्युक्त मन्दिरके समान यह भी मन्दिरका ही ध्वंसावशेष है। लोगोंने इसे कर्णका हाथीखाना मान रखा है। यह स्थान गाँवसे एक मील, उपर्युक्त मन्दिरके मार्गमें ही पड़ता है। चारों ओर अच्छा हाता-सा घिरा है। सम्भव है दीवालके त्रुटित अवशेष हों। इन अवशेषोंको देखनेसे यही ज्ञात हुआ है कि इसका सम्बन्ध तान्त्रिक साधकोंसे होना चाहिए, जैसा कि स्तम्भोंपर उकेरी हुई मैथुनाकृति सूचक मूर्तियोंसे ज्ञात होता है। शिखरके तीनों ओर बाह्य गवाक्षोंमें स्थापित दुर्गा, सरस्वती और नृसिंहकी मूर्तियाँ विद्यमान हैं। शिवगणका सफल अङ्कन इन अवशेषोंके स्तम्भोंमें परिलक्षित होता है। पत्थर लाल हैं। कामशास्त्रके आसन यहाँकी तीन शिलापर उत्कीर्णित हैं।

चण्डीमाईका स्थान—भी गाँवके बाहर सघन वृक्षोंसे परिवेष्टित है। यद्यपि देवी मूर्तियोंकी बाहुल्यके कारण लोगोंने इसे चण्डीमाईका स्थान मान रखा है, किन्तु जो मन्दिर बिलकुल अखण्डित-सा है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि यह विष्णु-मन्दिर रहा होगा, कारण कि मन्दिरकी चौखटके ठीक ऊपरके भागमें गरुडासीन विष्णु विराजमान हैं। दोनों छोरपर जो दो नारीमूर्तियाँ हैं, वे महाकोशलकी नारी-सौन्दर्यकी शृंगारिक तारिका हैं, दोनों नारियाँ दर्पणमें अपने सौन्दर्यको देख रही हैं। मुखमुद्रा-पर सन्तोषकी रेखा व नारी चाञ्चल्य हृदयको स्पंदित कर देता है। सर्वथा अखंडित मन्दिर न जाने आज क्यों उपेक्षित है। इसके आगे विष्णु, शैव एवं तान्त्रिक मूर्तियोंका ढेर लगा है। तत्समीपवर्त्ती एक वृक्षके नीचे भी मूर्तिखंड पड़े हैं।

उपर्युक्त मंदिरोंके अतिरिक्त दर्जनों मुग़लकालीन मन्दिर सारे गाँवमें

—गली-गलीमें फैले हुए हैं। कुछेकमें घर तक बस गये है। कई मन्दिरों-के प्रस्तरोंसे गृहोंका निर्माण तक हो गया—हो रहा है, संभव है भविष्यमें भी यह परम्परा ज़ारी रहे। इन मन्दिरोंकी संख्यासे तो ऐसा लगता है कि मुग़ल कालमें भी बिलहरी उन्नतिके शिखरपर थी।

मूर्तियाँ

इसे मूर्तियोंकी नगरी कहा जाय तो लेशमात्र भी अत्युक्ति न होगी, क्योंकि सैकड़ों संख्यामें यहाँपर प्राचीन प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। बिलहरी, कलचुरिशैलीकी मूर्तिकलाका चलता-फिरता संग्रहालय है। मैं लगातार पाँच दिनोंतक सभी गलियोंमें कई बार खूब घूमा, पर कोई स्थान ऐसा न मिला, जहाँपर एक या अधिक मूर्तियोंका संग्रह पड़ा हो। बहुत कम घर ऐसे मिले जिनकी दीवाल या आँगनमें मूर्तियाँ न लगी हों। यहाँतक कि कुछ सुनारोंकी सीढ़ियोंतकमें मूर्तियाँ लगी हुई हैं। सरोवरके किनारे रुद्रैयाके मन्दिरके पास तो एक दर्जनसे अधिक अखंडित मूर्तियाँ उलटी गड़ी हैं। चबूतरोंमें, वृक्षोंके निम्न भागमें दर्जनों मूर्तियाँ पड़ी हैं। इनकी सुधि नवरात्रमें ही ली जाती है। इन मूर्तियोंमें जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव—सभी सम्प्रदाय परिलक्षित होते हैं। कुछ-एक कलाकी साक्षात् प्रतिमा ही हैं। नगरमें बहुत स्थानोंपर जो हाते बनाये गये हैं—उनमें भी स्थापत्यके अच्छे-अच्छे प्रतीक लगे हुए हैं। यहाँके लोग कहते हैं कि बिलहरीका कोई पत्थर ऐसा नहीं, जो खुदा न हो। इस कथनमें भले ही अतिशयोक्ति हो, पर असत्यांश तो अवश्य ही नहीं है।

गणेशजीकी अतीव सुन्दर कई मूर्तियाँ बाजारकी खैरमाईके स्थानपर हैं। मेरा तो पाँच दिनका ही अनुभव है, पर यदि स्वतन्त्र रूपसे यहाँपर अध्ययन एवं खुदाई करवाई जाय तो, और भी महत्त्वकी कलात्मक सामग्री मिल सकती है। आश्चर्य तो मुझे पुरातत्त्व विभागके उन उच्च वेतनभोगी कर्मचारियोंपर होता है—जो जनतासे महावेतन

पाते हैं—जिन्होंने इतनी महत्त्वसम्पन्न कलाकृतियोंकी घोरतम उपेक्षा की और आज भी कर रहे हैं। यदि वे ज़रा परिश्रम करते और कमसे कम चुनी हुई विभिन्न मूर्तियाँ, विष्णुवराह मन्दिरके हातेमें ही रखवा देते तो, उनकी सुरक्षा भले ही न हो, पर सौदागरों द्वारा बाहर जानेसे तो बच ही जातीं! जो मूर्तियाँ मन्दिरके चौतरेपर रखी हैं, उनसे कई गुनी अधिक सुन्दर पूर्ण मूर्तियाँ और अवशेष अरक्षित दशामें पड़े हैं। यहाँका मार्ग दुर्गम होनेसे कुछ महत्त्वकी व पूर्ण वस्तुएँ बच भी गई हैं, चूंकि सौदागरोंमें इतना नैतिक साहस नहीं कि बड़ी चीजें जनताकी आँखोंमें धूल झोंककर ले जा सकें।

बिलहरीमें दो-तीन और भी ऐसी चीजें हैं जिनके उल्लेखका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

वापिकाएँ

प्राचीन कालमें वापिकाएँ निर्माणकी प्रथा बहुत प्रचलित थीं। भारतमें सर्वत्र हजारों पुरानी बावलियाँ मिलती हैं। सुकृतोंमें इसकी भी परिगणना की गई है। राहीको इनसे बड़ी शान्ति मिलती है। जहाँ जल-कष्ट अधिक रहता है, वहाँकी जनता इसका अनुभव कर सकती है। यद्यपि महाकोसलमें वापिका-निर्माणविषयक प्राचीन लेख नहीं मिले हैं, पर वापिकाएँ सैकड़ों मिलती हैं। इन सभीमें किनको आयु कितने वर्षकी है, इसका निर्णय तो दृष्टिसम्पन्न अन्वेषक ही कर सकता है। मेरा तो भ्रमण ही सीमित भू-भागमें हुआ है, अतः इस विषयमें अधिक प्रकाश नहीं डाल सकता। हाँ, कुछेक वापिकाएँ मैंने मध्यप्रदेशमें अवश्य देखी हैं। इनमें गोसलपुर, भद्रावती, आमगाँव, पनागर, तेवर, सिहोरा, चोरबावड़ी आदि मुख्य हैं। मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि महाकोशलके कलाकार बड़े सजग और अग्रसोची थे, उनकी कला "कलाके लिए कला" ही न थी जीवनके लिए भी थी। उन्होंने जल

द्वारा तृषा शान्तिके अर्थतक वापिकाकी उपयोगिता सीमित न रखी, प्रत्युत शान्तिके बाद कुछ प्रमाद आना स्वाभाविक है, अतः विश्राम संयोजना भी साथ रखी। तात्पर्य महाकोसलकी वापिकाओंमें विश्रान्ति स्थान भी बनाये जाते थे। विन्ध्य प्रान्तमें भी यह शैली रही थी। मैहरकी वापिका इसका उदाहरण है। त्रिलहरीमें मुझे दो सुन्दर वापिकाएँ देखनेको मिलीं, दोनों ग्राममें ही हैं। तालाब और नदीके कारण आज उनकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रह गई है। पर जब उष्णता बढ़ती है, तब इनकी उपयोगिताका अनुभव होता है। जलकी गरज़से नहीं पर तज्जनित शीतके लिए। दोपहरकी धूपसे बचनेके लिए लोग इनमें विश्राम करते हैं। क्योंकि एक तो दुमंज़िली हैं। विश्रान्ति एवं जलग्रहणके स्थानका मार्ग ही पृथक् है, इसमें सैकड़ों व्यक्ति आराम कर सकें, ऐसी व्यवस्था है। बाहरसे तो वापिका सामान्य-सी जचती है पर भीतरसे महल ही समझिए। ऐसी वापिकाएँ खास राजा-महाराजाओंके लिए बना करती थीं। ऐसी वापिकाओंमें अन्धकार इतना रहता है कि दिनको एकाकी जाना कम सम्भव है। मैंने इस वापिकाका द्वार भी काफ़ी छोटा पाया, बन्द भी किया जा सकता है। आध्यात्मिक चिन्तन और लेखनके लिए इससे सुन्दर दूसरा स्थान त्रिलहरीमें तो न मिलेगा। जल हरा हो गया है। यह वापिका भी उत्तम कलाकृति है। एक वापिका मठसे सटी हुई है। साधारण है। पर इसकी निर्माणशैली देखने योग्य है। इसके जलसे खेतकी सिंचाई होती है।

कुंड—यहाँपर जलके दो कुंड भी हैं। इनके साथ भी कई किंवदन्तियाँ जुड़ी हुई हैं। इनकी विशेषता यह है कि इसका जल कभी भी समाप्त नहीं होता—कितने ही मनुष्य क्यों न आ जायँ। कुण्डका तलिया साफ़ दिखता है। शायद नपी-तुली कोई झीर आती होगी। यहाँ पिंडदान भी होता है। मेरा तात्पर्य भैंसाकुण्डसे है। किसी समय यह त्रिलहरीके मध्यमें था।

मधुछत्र—यहाँकी विशेष कलाकृति है, मधुछत्र, जो चण्डीमाईके

स्थानसे थोड़ी दूरपर अवस्थित है। कुछ और भी गढ़े-गढ़ाये पत्थर पड़े हुए हैं। मधुछत्र एकवृक्षके सहारे खड़ा किया हुआ है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई देखकर आश्चर्य होता है। पूरा पट्ट ६४+६४ इंच है। इसमें ५०+५० भाग अलंकृत है। ७+७ कर्णिका है। मध्य भागमें अत्यन्त सुन्दर कमलाकृति बनी हुई है। इस आकृतिको समझनेके लिए इसे चार भागोंमें विभक्त करना होगा। प्रथम कमल १३+१३ दूसरा २०+२० तीसरा २६+२६ और चौथा ३८+३८ है। सम्पूर्ण पट्टकके मध्य भाग-में इस प्रकार शोभायमान है। चारों ओर नक्काशीका अच्छा काम है। ६ इंच तो इसकी मुटाई ही है। अनुमान किया जा सकता है कि इसका वज़न कितना होगा। वहाँके लोगोंका कहना है कि पहले तो यों ही पड़ा हुआ था। बादमें जब खड़ा किया तब २०० मनुष्योंका बल लगा था। निस्संदेह महाकोसलकी यह महान् कलाकृति है। प्रान्तमें जितने भी अव-शेष और स्थापत्य मैंने देखे, उनमें मधुछत्र नहीं था। अतः यह प्रथम कृति तबतक समझी जानी चाहिए, जब तक और प्राप्त न हो जाय। यह बिल्ह-हरीके ही किसी प्राचीन मन्दिरकी छतमें लगा होगा। इसकी कोरनी, पत्थर व रचनाशैलीसे मेरा तो यह मत स्थिर हुआ कि हो न हो यह कामकन्दला के नामसे सम्बद्ध शैव-मंदिरकी छटाका ही भाग होगा, क्योंकि वर्तमान स्तम्भाकृति-रचना व जो गर्भगृह वहाँपर है वह ६०-६० इञ्चसे कुछ कम ही लम्बा चौड़ा है। सरकारको चाहिए कि इस सर्वथा अखंडित कला-कृतिका समुचित उपयोग करे। कमसे कम सुरक्षाकी तो व्यवस्था करे ही। क्योंकि लाल चिकना प्रस्तर होनेके कारण ग्रामीण इस पर शस्त्र पनारते रहते हैं।

मैंने मध्यप्रान्तीय सरकारके भूतपूर्व गृहमन्त्रीका ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हुए सुझाया था कि जबलपुरके शहीद स्मारकमें जो आश्चर्यगृह बनने जा रहा है—इसीमें मेरा संग्रह भी रहेगा—उसकी छतमें इसे लगा दिया जाय। पर, मंत्रियोंको सांस्कृतिक सुझाओंकी क्या परवाह रहती है!

इतनी विस्तृत शिल्प सामग्रीसे स्पष्ट होता है कि आजका यह ग्राम, कलचुरियोंके समयमें शिल्पसाधनाका अच्छा केन्द्र था, या कलचुरि शिल्प परम्पराके तक्षक यहाँ पर्याप्त संख्यामें रहकर, अपनी साधना करते रहे होंगे। कारण यहाँसे पहाड़ समीप ही है और यहाँकी कृतियोंमें बिलहरीका लाल पत्थर ही अधिकतर व्यवहृत हुआ है। बिलहरीकी ओर शोधकोंको ध्यान देना चाहिए।

कामठा

गोंदियासे बालाघाट जानेवाले मार्गपर चँगेरीके टीलेसे इसका मार्ग फूटता है। युद्धकालमें वायुयानोंका यह विश्राम स्थान था। पर बहुत कम लोग जानते हैं कि इतिहास और शिल्पकलाकी दृष्टिसे भी कामठाका महत्त्व है। यद्यपि यहाँपर वास्तुकलाकी उपलब्ध सामग्री अधिक तो नहीं है, और न बहुत प्राचीन ही है, पर जो भी है, उनका अपना महत्त्व है। पुरातन शिल्पकलाकी कड़ियोंको समझनेके लिए इनकी उपयोगिता कम नहीं। कामठाके विद्यालयके उत्तरकी ओर १॥ फर्लांगपर उत्तराभिमुख एक शैव-मन्दिर है। दूरसे तो वह साधारण-सा प्रतीत होता है। निकट जानेपर ही उसके महत्त्वका पता चलता है। यद्यपि वह तीन सौ वर्षोंसे ऊपरका नहीं जान पड़ता, जैसा कि उसकी रचना शैलीके सूक्ष्मावलोकनसे परिज्ञात होता है, पर इसमें पुरातन शैलीका अनुकरण अवश्य किया गया जान पड़ता है। मन्दिरकी नींव ऊपर होसे स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। ऐसा लगता है, जैसे मजबूत चौतरेके ऊपर ही इसका अस्तित्व हो। मन्दिर सभामण्डप सहित २३×२० फ़ीट (लम्बा चौड़ा) है। सभामण्डप २०×१६ फ़ीट है। मध्य भागकी लम्बाई-चौड़ाई ११×८ फ़ीट है। नींव और सभामण्डपके बाह्य भागमें जो पत्थर लगे हैं, वे मेग्रनीज हैं। मण्डपके-ठीक मध्यभागमें नांदिया है। सभामण्डप दश स्तम्भोंपर आधृत है।

मन्दिरका बाह्य भाग भीतरकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण व सौन्दर्य

सम्पन्न है। अग्रभागकी ऊपरवाली दोनों पट्टियोंपर दशावतार व शैव-चरित्रसे सम्बन्धित घटनाओंका सफलांकन है। तीनों ओर जो आकृतियाँ खचित हैं वे भारतीय लोकजीवन और शिवजीकी विभिन्न नृत्य मुद्राओंपर प्रकाश डालती हैं। शिवगण भी अपने-अपने मौलिक स्वरूपोंमें तथाकथित पट्टियोंपर दृग्गोचर होते हैं। साथ ही कामसूत्रके २० से अधिक आसन खुदे हुए हैं। कुछ खण्डित भागोंसे पता चलता है कि वहाँ भी वैसे ही आसन थे, जैसा कि बची-खुची रेखाओंसे विदित होता है। पर धार्मिक रुचिसम्पन्न व्यक्ति द्वारा वे नष्ट कर दिये गये हैं। बाह्य भागकी सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह लगी कि प्रत्येक कोणों पर एक नान्दीका इस प्रकार अंकन किया गया है कि दोनों दीवालोंमें उनका धड़ है और मस्तक मिलनेवाले कोणोंपर एक ही बना है[1]। कलाकारकी कल्पना इन कृतियोंमें झलकती है, उसके हाथ काम करते थे, पर हृदयमें वह शक्ति नहीं थी जो रूप-शिल्पमें प्राण संचार कर सके।

मन्दिरके निकट ही पुरातन वापिकाके खण्डहर हैं। ऐसा ही एक और शैव मन्दिर पाया जाता है।

यहाँके भूतपूर्व ज़मींदार लोधीवंशके थे। किसी समय कामठा, अपनी विस्तृत ज़मीदारीका मुख्य केन्द्र था। भण्डारा गैज़ेटियरसे ज्ञात होता है कि यहाँपर भी सन् ५७के विद्रोहकी चिनगारियाँ आ गईं थीं। कामठाका दुर्ग यद्यपि दो सौ वर्षोंसे अधिक पुराना है, पर ऐसा लगता है कि उसका निर्माण प्राचीन खण्डहरोंके ऊपर हुआ है। जमींदारीके वर्तमान

---

[1]दो धड़ोंके बीच एक पशुकी आकृति बनानेकी प्रथा कलचुरियोंके बादकी जान पड़ती है, कारण कि इस प्रकारकी दो-एक आकृतियाँ धन्सौर (म० प्र०)में पाई गई हैं और एक सिवनी (म० प्र०)के दलसागरके घाटमें लगी हुई है। ये अवशेष १४वीं शताब्दीके बादके जान पड़ते हैं, क्योंकि इनमें न तो गोंड प्रभाव है और न कलचुरियोंके शिल्प वैभवके लक्षण ही।

व्यवस्थापक बाबू तारासिंहजी बता रहे थे कि एक समय किसी कार्यवश दुर्गके एक भागको तुड़वाना पड़ा था। उस समय इसकी नींवमें मन्दिरके अवशेष निकले। जब इन अवशेषोंको हटानेकी चेष्टा की गई, तो ज्ञात हुआ कि इनके नीचे एक और ध्वस्तगृह अवस्थित है। इसमें कुछ मुद्राएँ भी थीं। कुछेक मूर्तियाँ भी निकली थीं। उनमेंसे नमूनेके बतौर कुछ अपने क़िलेके बड़े फाटकके दाहिनी ओर दीवालसे सटाकर रखी हुई हैं। एक प्रतिमा दशावतारी विष्णुकी है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। कटनीकी विष्णुमूर्तिसे इसकी तुलना की जा सकती है।

मंडारा ज़िलेमें नागरा पद्मपुर और लंजिला—(लाँज़ी) आदि स्थानोंपर हिन्दूधर्म मान्य कलावशेषोंकी उपलब्धि होती है। कुछेक स्थान पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित भी हैं।

छत्तीसगढ़

इस भू-भागमें रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़, जगदलपुर और दुर्ग आदि ज़िले सम्मिलित हैं। स्वतंत्र जो राज्य थे, उनका इन ज़िलोंमें अन्तर्भाव कर दिया गया है। आजका यह उपेक्षित छत्तीसगढ़, किसी समय संस्कृति और सभ्यताका पुनीत केन्द्र था। स्पष्ट कहा जाय तो आदि-कालीन मानव सभ्यता इस वन्य भू-भागमें पनपी थी। अरण्यमें निवास करनेवाली ४५से अधिक जातियोंको आजतक इस प्रदेशने सुरक्षित रखा है। उनके सामाजिक आचार व व्यवहारमें भारतीय संस्कृतिके वे तत्त्व परिलक्षित होते हैं जिनका उल्लेख गृह्यसूत्रोंमें आया है। इनके संगीत-विषयक उपकरण, आभूषण व नृत्य परम्परामें आर्य संस्कृतिकी आत्मा चमकती है। यहाँपर सुसंस्कृत कलाका विकास भले ही बादमें हुआ हो, पर आदि मानव सभ्यता व लोक शिल्प एवं ग्रामीण रुचिके प्राकृतिक-प्रतीक बहुतसे मिलते हैं। इनमें पुरातत्त्वका इतिहास और मूर्तिकलाके बीज खोजे जा सकते हैं। इनके रहन-सहन और त्योहारोंमें जो सांस्कृतिक तत्त्व पाये

जाते हैं उनका वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। फाधर एल्विन, व स्व० डा० इन्द्रजीतसिंहने इस दिशामें कुछ प्रयत्न किया है। नृतत्त्व शास्त्रीय दृष्टिसे भी इनकी उपयोगिता कम नहीं।

छत्तीसगढ़ नाम सापेक्षतः अर्वाचीन जान पड़ता है। शिलालेख या ग्रन्थस्थ वाङ्मयमें इसका नामोल्लेख नहीं है। कुछ लोग चेदीशगढ़का रूपान्तर छत्तीसगढ़ मानने लगे थे, पर इस मान्यताके पीछे समुचित व पुष्ट प्रमाण नहीं हैं। छत्तीसगढ़ों के आधारपर भी इस नाममें सार्थकता खोजें, तो भी निराश होंगे। गढ़-संख्या ज्यादा-कम मिलती है। इस भू-भागका प्राचीन नाम कोसल था। इसका इतिहास ईस्वी पूर्व ७०० तक जाता है। महावैयाकरण पाणिनिने अपने व्याकरणमें कोसलका निर्देश किया है। भाष्यकारोंने यह उल्लेख दक्षिण कोसलके लिए माना है। आगे चलकर कोसल दो भागोंमें विभक्त हो गया। उत्तरकोसलकी राजधानी अयोध्या और दक्षिण कोसल, जिसे आज महाकोसल संज्ञा दी जाती है, वह मध्य-प्रदेशका एक भाग था। रामायण-कालमें दक्षिण कोसलका व्यवहार छत्तीसगढ़के भू-भागको लक्षित कर किया गया जान पड़ता है। गुप्त-कालमें दक्षिण कोसल, जो पूर्व सूचित भाग ही गिना जाता था, पर उत्तर-कोसल सापेक्षित रूपसे त्रिपुरीका निकटवर्ती प्रदेश माना जाने लगा था। समुद्रगुप्तकी प्रयागस्थित प्रशस्तिमें कोसलकमहेन्द्रराज महाकान्तारक व्याघ्रराज ये शब्द अंकित हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उन दिनों दक्षिण कोसल महाकान्तार नामसे विख्यात था और वहाँ व्याघ्रराज शासन करता था। यह कौन था? एक समस्या है। गुप्तलेखसे ज्ञात होता है कि यह वाकाटक पृथ्वीषेण प्रथमका पादानुध्यात व्याघ्रदेव[1] था। डाक्टर भाण्डारकर इसके विपरीत उच्चकल्पके राजा जयन्त (ईस्वी सन्

---

[1] वाकाटकानां महाराज श्रीपृथ्वीषेण पादानुध्यातो व्याघ्रदेवमाता पित्रोः पुण्यार्थम्—गु० ले० नं० ५४,

४२३) का पिता था और वह वाकाटकोंकी अधीनतामें मध्यप्रदेशमें शासन[1] करता था।

गुप्त-लेख वर्णित अष्टादश अटवीवाला प्रदेश भी मध्यप्रदेशके ही निकट पड़ता था। मुसलमान-तवारीखोंमें, इस ओर गोंड़ोंकी संख्या अधिक होनेके कारण, इसे गोंड़वाना नामसे सम्बोधित किया गया है। लक्ष्मीवल्लभने अपने देशान्तरीछन्दमें छत्तीसगढ़के सामाजिक व धार्मिक वन्य प्रथाओंकी चर्चा की है, पर उसमें भी छत्तीसगढ़का उल्लेख न होकर गोंड़वाना उल्लिखित है। ये कवि १८ वीं शताब्दीके जैनमुनि हैं। कुछ लोग छत्तीसगढ़को अंग्रेजी शासनकी देन मानते हैं, पर मैं नहीं मानता, कारण कि एक जैन विज्ञप्ति पत्र संवत् १८१६ का उपलब्ध हुआ है जो रायपुरसे लिखा गया है, उसमें छत्तीसगढ़ नाम पाया जाता है। तात्कालिक जैन व्यक्तियोंके पत्रव्यवहारमें भी यही नाम व्यवहृत हुआ है, जब कि अंग्रेजोंने प्रान्तवार विभाजन तो सन् ५७की गदरके बाद किया है।

डोंगरगढ़की बिलाई

डोंगरगढ़ गोंदियासे कलकत्ते जानेवाले रेलवे मार्गपर लगभग ४० मील है। स्टेशनके समीप ही छोटी-सी पहाड़ी दृष्टिगोचर होती है जिसपर बमलाई—विमलाईका स्थान बना हुआ है। यद्यपि शक्तिके ५२ पीठोंमें इसकी परिगणना नहीं की गई, पर छत्तीसगढ़की जनता इसे अपने प्रान्तका सिद्धपीठ मानती है। पहाड़ीके ऊपर जो स्थान विद्यमान है व मूर्ति विराजमान है, उसपरसे न तो उसकी प्राचीनताका बोध होता है, एवं न उसकी मूलस्थितिका या देवीके स्वरूपका ही पूर्ण पता चलता है, कारण कि किसी भक्त द्वारा देवीकी मढ़िया जीर्णोद्धृत हो चुकी है।

---

[1] इं० हि० क्वा० भा० १, पृ० २५१।

वस्तुतः यह बमलाई, बिलाईका संस्कृत रूप जान पड़ता है। यह मैना जातिकी कुलदेवी है[1]। इस पर मैं अन्यत्र विस्तारसे विचार कर चुका हूँ[2]। अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है।

तपसीताल

उपर्युक्त पहाड़ीके ठीक पीछेके भागमें तपसीताल नामक लघु, पर सुन्दर व स्वच्छ सरोवर है। इसीको लोग तपसीताल कहते हैं। इसीके तटपर एक पक्का वैष्णव-मन्दिर बना हुआ है। इसे तपस्वीआश्रम कहते हैं। पुरातत्त्वसे इस स्थानका सम्बन्ध न होते हुए भी सकारण ही, मैं इसका उल्लेख कर रहा हूँ, वैष्णव परम्पराका किसी समय यह केन्द्र था। छत्तीसगढ़ प्रान्तमें आजसे दो सौ वर्ष पूर्व सापेक्षतः शाक्त परम्परा पर्याप्त रूपमें विकसित थी, उसे रोकनेके लिए वैष्णव परम्पराने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, वे छत्तीसगढ़के सांस्कृतिक इतिहासमें उल्लेखनीय समझे जावेंगे। यहाँ किस व्यक्ति द्वारा उपर्युक्त परम्पराका सूत्रपात हुआ, यह तो कहना कठिन है, पर इतना निश्चित है कि धर्मदासके इस ओर आनेके पूर्व वैष्णवोंकी स्थिति पर्याप्त दृढ़ हो चुकी थी, बल्कि उनके स्वतन्त्र राज्य भी इस ओर क़ायम हो चुके थे।

'तपसी आश्रम' की जो वंशावलि मुझे प्राप्त हुई है वह इस प्रकार है—

बाबा हनुमानदासजी

|

बाबा निर्मलदासजी

|

---

[1] धमतरी (जि० रायपुर) में भी बिलाई माताका स्थान है। किसी समय यहाँ नरबलि होती थी, बकरे तो अभी भी कटते हैं। माघमें मेला लगता है। छत्तीसगढ़में बिलाईगढ़ नामक एक दुर्ग भी है।

[2] मुनि कान्तिसागर—"मेरी डोंगरगढ़ यात्रा"।

बाबा लालदासजी
|
बाबा द्वारिकादासजी
|
बाबा गोवर्धनदासजी
|
बाबा जयकृष्णदासजी
महन्त श्री मथुरादासजी (वर्तमान)

'बाबा हनुमानदासजी' ने आश्रमकी नींव डाली। बाबा लालदासजीने समयकी गतिको देखते हुए, आश्रमका व्यय चलानेके लिए कुछ भूमि खरीदकर, आश्रमके नामपर कर दी, इसीसे यहाँ आनेवाले प्रत्येक अतिथिका बिना भेदके उचित स्वागत होता है। वर्तमान महन्त श्री मथुरादासजी बड़े योग्य और गुणग्राही सन्त हैं। आश्रमका प्राकृतिक सौन्दर्य प्रेक्षणीय है। तीनों ओर पहाड़ी लगी हुई है। आध्यात्मिक साधकोंके लिए यह स्थान अनुपम है। तपसी तालाबमें जल इसलिए स्वच्छ रह सका कि न तो यहाँ साधुओंको छोड़कर कोई स्नान कर सकता है, न मछलियाँ ही पकड़ी जाती हैं। दुर्गासनमें यह एक ही ऐसा जलाशय देखा, जहाँ मछलियोंको पूर्णतया अभयदान मिलता है। किसी कविने तपसी आश्रमकी महिमा इन शब्दोंमें गाई है—

शार्दूलविक्रीडित

मध्यप्रान्तविचित्ररम्यभवनं, षट्त्रिंशदुर्गाख्यया
डोंगरदुर्ग प्रसिद्ध नामनगरे, सान्निध्य शुभ मन्दिरम्।
याम्ये कूलविनिर्मितेनरम्यम्, तपसीश्रमे भाश्रायं
प्रख्यातं बहुभिर्जनैश्च हृदयं रालाय तस्मै नमः॥

इन्द्रवज्रा

तपसीश्रमे निर्मितेऽरण्यमध्ये, चतुर्दिकं शोभितपुष्पवृक्षैः।
नानामृगाकीर्णलताप्रसूनैः पुरातनो मानसरोवरः स्यात्॥१॥

प्राची दिशा सुन्दरशृङ्गशैलं, तस्योपरि स्थित्य च आद्य शक्ते,
हिमालयो पूर्वगुहा च निर्मिता, तपस्विना श्रेष्ठ वसन्ति तत्र वै ॥२॥
सर्वेषु वर्णाऽधिपचारशालिनः, प्रपूज्यते रामसशक्तिसानुजैः,
धर्मव्रती धीर च ब्रह्मचारिणः, अधीत्य मस्तोत्र च धीवाग्वरैः ॥३॥

अनुष्टुप्

निवसन्ति सदाचारो युक्तस्य सच् वैष्णवा ।
महन्त मथुरादासस्य श्रीमंतः शक्ति शालिनः ॥

रायपुर

छत्तीसगढ़का मुख्य नगर है। इसके प्राचीन इतिहासपर प्रकाश डाल सकें, वैसी सामग्री अन्धकारके गर्भमें है। पर ऐसा ज्ञात होता है कि रतनपुरके कलचुरियोंकी एक शाखा 'खलारी' में स्थापित थी। उसी शाखाका नायक 'सिंहा' ने खलारीसे, अपनी राजधानी रायपुर परिवर्तित कर दी। खलारीमें ब्रह्मदेवका एक शिलोत्कीर्ण लेख भी प्राप्त हुआ था, जो अभी नागपुर म्यूज़ियममें सुरक्षित है। लेखकी तिथि १४०१ ईस्वी पड़ती है। ब्रह्मदेव सिंहाका पौत्र था। अतः निस्सन्देह रायपुरकी स्थापना चौदहवीं सतीके अन्तिम चरणमें हुई होगी। यहाँ एक किला भी पाया जाता है जिसमें कई मन्दिर हैं। किलेके दोनों ओर बूढ़ा और महाराजबन्ध नामक दो सरोवर हैं। 'महामाया' का मन्दिर यहीं है। किसी समय किलेमें रहा होगा।

यहाँ यों तो कई हिन्दू मन्दिर हैं, पर सबमें दूधाधारी महाराजका मन्दिर व मठ अति विख्यात व सापेक्षतः प्राचीन है। अनजानको तो ऐसा लगेगा कि यह मन्दिर रायपुर बसनेके पूर्वका है, पर वैसी बात नहीं है, कारण कि पुरातन जितने भी अवशेष मन्दिरमें लगे हैं, वे श्रीपुर—सिरपुरसे लाकर, यहाँ जमा दिये हैं। कुछ स्तम्भ जिन दिनों पत्थरोंमें संस्कृति और सभ्यता देखनेकी दृष्टिका विकास नहीं हुआ था, उन दिनों

इनका कुछ भी मूल्य न था। शिल्पकलाकी दृष्टिसे अनुपम हैं, जिनपर अत्यन्त सूक्ष्म कारीगरीके साथ गणेश, वराहावतारादिकी विशाल मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। सौभाग्यसे यह स्तम्भ अखण्डित और कलाका ज्वलन्त उदा-हरण है। आवश्यकतासे अधिक सिन्दूरका लेप कर देनेसे कलाकी एक प्रकारसे हत्या हो गई है। शिखरके निम्न भागमें रामायणसे सम्बन्धित शिल्प उत्कीर्णित हैं, जो प्राचीन न होते हुए भी सुन्दर हैं। प्रदक्षिणामें नृसिंहावतार आदि तीन प्रतिमाएँ गवाक्षमें प्रतिष्ठित हैं, जो कलाकी साक्षात् प्रतिमा-सी विदित होती हैं। ये सिरपुरसे लाई गई थीं। यहाँ एक वस्तु सर्वथा नवीन और सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ है। वह है रामचन्द्रजीके मन्दिर के एक स्तम्भपर एक महन्त और चिमनाजी भोंसलेका चित्र, जो इतिहास की दृष्टिसे अमूल्य है, परन्तु वर्तमान महन्तजीकी अव्यवस्थाके कारण वर्षा-ऋतुमें यों ही नष्टभ्रष्ट हो रहा है। सुरक्षा वाञ्छनीय है।

मठकी स्थापनाका इतिहास तो अज्ञात है, पर ऐसा समझा जाता है कि भोंसलोंके समयमें दूधाधारी महाराजने, प्रान्तमें वैष्णव परम्पराके प्रचारार्थ इसकी स्थापना की थी, राज्याश्रय भी इसे प्राप्त था। १२ गाँव माफ़ी थे। दूधाधारी आयुर्वेदके भी विद्वान् व सेवाभावी सन्त थे। तात्का-लिक रायपुरकी सांस्कृतिक चेतनामें इनका प्रमुख भाग था। यहाँपर पुरा-तन ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है। इस मठका इतिहास भी स्फुट हस्तलिखित पत्रोंमें है, पर महन्तजीकी सुस्तीसे दबा हुआ है। राजीमके निकट धमनी ग्राम है, जहाँपर इस मठके पुरोहित रहते थे। इनके परिवारवालोंके पास पुरानी सनदें बहुत ही उपयोगी हैं। किन्तु न तो वे किसीको बताते हैं न स्वयं पढ़नेकी योग्यता ही रखते हैं। दूधाधारी मठके वर्तमान महन्त वैष्णवदासजी सरल स्वभावके हैं। श्री नन्दकुमार दानीके घरमें १८वीं शतीका एक लेख दीवारमें लगा हुआ है। सुना जाता है कि प्रस्तुत लेख महामायासे सम्बन्धित है। बूढ़ेश्वर महादेव-मन्दिरके वटवृक्षके निम्न भाग में एवं एक मन्दिरमें बहुतसे देव-देवियोंके आकार-सूचक शिल्प हैं, जिनमें

कतिपय कामसूत्रके विषयको स्पष्ट करनेवाले भी हैं। यहाँपर पुरानी बस्तीमें एक और मठ है जिसके व्यवस्थापक महन्त लक्ष्मीनारायणदासजी एम० एल० ए० हैं। इनकी पटुतासे मठकी व्यवस्था ठीक चलती है। यहाँ के अद्भुतालय[1] में सिरपुर व खलारीके कुछ लेख व प्रतिमाएँ हैं। दो मूर्तियाँ शुद्ध गौंड-राजपुरुषकी प्रतीत होती हैं। हाथी-दाँतपर कृष्ण-लीला मराठा क़लमसे अङ्कित है। ये चित्र बड़े सजीव मालूम होते हैं। पुरातन लेखोंकी छापें व पुरातत्त्व विषयक, अन्यत्र दुष्प्राय ग्रन्थ भी हैं। सन् १९५५ में जब मैं रायपुरमें था तब वहाँके उत्साही जिलाधीश रा. ब. श्रीयुत गजाधरजी तिवारीने इसके विस्तारपर कुछ क़दम उठाये थे, कुछ नवीन ताम्रपत्रोंका संकलन भी आपने करवाया था, मुझे भी आपने अपनी शोधमें खूब मदद दी थी। रायपुरमें रामरत्नजी पाण्डेयके पास पुरातन ताम्रपत्रोंका सामान्य संग्रह है। धमतरीमें भी १८वीं शतीका एक राममन्दिर है, जिसके स्तम्भ बड़े सुन्दर और कलापूर्ण हैं।

आरंग

रायपुरसे सम्बलपुर जानेवाले मार्गपर २२वें मीलपर है। आरंगकी व्युत्पत्ति मयूरध्वजसे मानी जाती है। वस्तुतः आरंग नामक वृक्षसे ही इसका नामकरण उचित जान पड़ता है। क्योंकि इस ओर वृक्ष-परक ग्रामके नाम उचित परिमाणमें पाये जाते हैं। यहाँ पुरातन शिल्पकलाका भव्य प्रतीकसम जैन मन्दिर तो है ही। साथ ही हिन्दू धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातन मन्दिर व अवशेष यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे पाये जाते हैं और आवश्यकता पड़नेपर, जनता द्वारा गृहनिर्माणमें भी इन पत्थरोंका खुलकर उपयोग हो जाता है—हुआ है। पुरातन मन्दिरोंमें महामायाका मन्दिर उल्लेखनीय है। यद्यपि इसकी स्थिति बहुत अच्छी तो नहीं

---

[1] यह आश्चर्यगृह राजनांदगाँवके राजा घासीदासने बनवाया था,

है, पर प्राचीनताके कारण अध्ययनकी वस्तु अवश्य है। मन्दिर सामान्य जङ्गलमें पड़ता है। सभामण्डप पूर्णतः खण्डित हो चुका है। गर्भगृहमें बहुतसे अवशेष पड़े हुए हैं। महामायाके नामसे पूजी जानेवाली प्रतिमा बहुत प्राचीन नहीं जान पड़ती। मन्दिर चपटी छतका है। इसकी शिल्प-कला व निर्माणपद्धतिको देखनेसे ज्ञात होता है कि, ग्यारहवींसे बारहवीं शतीके बीच इसका निर्माण हुआ होगा; क्योंकि उन दिनों शैव तान्त्रिकोंका प्रभाव, रायपुर जिलेमें अत्यधिक था। शंकरके विभिन्न तन्त्रमान्य स्वरूपोंका मूर्तरूप आरंगके अवशेषोंमें विद्यमान हैं। आज भी नवरात्रमें कुछ साधक साधना करते हैं। मन्दिरके सम्मुख ही सैकड़ों वर्ष पुराना वृक्ष है; जिसकी खोहमें धन गड़ा हुआ है, ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। अर्थ-लोलुपोंने खनन भी किया, पर असफल रहे।

नारायण तालपर बहुत-सी मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं, जिनमें दो विष्णु मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

यहाँ दो ताम्रशासन भी प्राप्त हुए हैं, इनमें एक राजर्षितुल्यकुल[1]का है जिसकी तिथि ६०१ ईस्वी पड़ती है। इस ताम्रपत्रको बारह दिसम्बर १६४५ को मैं स्वयं देख चुका हूँ। संभव है इस कुलकी राजधानी आरंगमें ही रही होगी।

श्रीपुर—सिरपुर :

मध्य-प्रान्तमें पुरातत्त्वके लिए यह नगर पर्याप्त प्रसिद्ध है। १६ दिसम्बर, १६४५ को यहाँका इतिहास-प्रसिद्ध विशाल लक्ष्मण-देवालय देखनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। यह मन्दिर प्रान्तीय पुरातत्त्वकी अनुपम सम्पत्ति है। अपने ढंगका ऐसा अनोखा और प्राचीन वास्तु-कलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला मन्दिर, प्रान्तमें अन्यत्र शायद ही कहीं हो। मन्दिरका तोरण ६×६ फुटका है। तोरणका

---

[1] मध्यप्रदेशका इतिहास, पृ० २२

एक-एक भाग तीन-तीन विभागोंमें विभाजित है। बाईं ओर नृसिंह, वाराह, वामन, राम, लक्ष्मण (धनुर्धारी) आदि अवतारों एवं तीनों लाइनें सुन्दर शिल्पोंसे अलंकृत हैं, जिनमें एक गृहस्थ-युगलकी मूर्ति स्थूल उदर, लघुचरण, गलेमें यज्ञोपवीत और आभूषणोंमें भक्ति-सूचक माला धारण किये हुए हैं। विदित होता है कि यह कोई भक्त ब्राह्मणकी प्रति-कृति होगी। मूर्तिके परिभागमें भामण्डल-प्रभावली स्पष्ट है। तन्निम्न-भागमें लघुवयस्क बालक खड़ा है। एक वृक्षके नीचे स्त्री-पुरुष सुन्दर भावोंको व्यक्त करते खड़े हैं। दाहिनी ओर गन्धर्वोंकी प्रतिमाएँ विविध वाद्यों सहित उत्कीर्णित हैं। कहीं-कहीं कामसूत्र विषयक प्रतिमाएँ खुदी हैं। तोरणपर विविध प्रकारके बेल-बूटे हैं, जो गुप्तकालीन कलागत प्रभावके सूचक हैं। तोरणके ऊपर अतीव सुन्दर और चित्ताकर्षक भगवान् विष्णुकी शेषशायी प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है। नाभिगत कमलपर ब्रह्माजी और चरणोंके निकट लक्ष्मी अवस्थित हैं। पासमें वाद्य लिये गन्धर्व खड़े हैं। मूर्ति कलापूर्ण होते हुए भी एक आश्चर्य अवश्य उत्पन्न करती है कि लक्ष्मणके प्रधान मन्दिरके गर्भगृहोपरि ऐसी प्रतिमा क्यों खुदाई गई? तोरणका पाषाण लाल है, और संरक्षणाभावसे नष्ट हो रहा है। प्रतिमाओंके केश-विन्यासपर गुप्तोंका प्रभाव स्पष्ट है। काम-सूत्रके आसन भी तोरणमें उत्कीर्णित हैं। मन्दिरके मुख्यगृहमें जो मूर्ति विराजमान है, वह पँचफने साँपपर अधिष्ठित है। कटिमें मेखला, गलेमें यज्ञोपवीत, कर्णोंमें कुण्डल, बाजूबन्द और मस्तकपर लपेटी हुई जटा, उत्फुल्ल वदनवाली प्रतिमा २६ × १६ इंच आकारकी है। यह प्रतिमा किसकी होनी चाहिए, यह एक प्रश्न है। कहा तो जाता है कि यह लक्ष्मणकी है, परन्तु मैं इससे सहमत नहीं। वास्तुशास्त्रानुसार मन्दिरके इतने विशाल गर्भगृह और मूलद्वारको देखते हुए, सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रतिमा कम-से-कम इस मन्दिरकी तो अवश्य हो नहीं है। सम्भव है कि मूल प्रतिमा गायब हो जानेसे किसीने स्थानपूर्तिके

लिए यही नवीन प्रतिमा लाकर रख दी हो। गर्भगृह १६॥ और मूलद्वार ७७॥×२१ इंचका है। इस प्रकार प्रतिमाकी दृष्टि ४३वें इंचपर आती है, जो अशुभ है। मन्दिरका शिखर व सम्पूर्ण भाग ईंटोंका बना हुआ है, फिर भी कला-कौशल इतने सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया गया है कि सम्भवतः पाषाणपर भी इतना सुन्दर नहीं हो पाता। शिखर चौखुँटा है। एक-एक भाग पाँच-पाँच विभागोंमें विभक्त है। सबपर लघु गुम्बज हैं। अग्रभाग बड़ा ही आकर्षक और कलाका साक्षात् अवतार-सा प्रतीत होता है। शिखरका मूलभाग पाषाणके ऊपर स्थित है। स्तम्भोंपर जो कारीगरीका काम किया गया है, वह कला-प्रेमियोंको आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहता। प्राचीन कालमें दीवारकी शोभाके लिए गवाक्ष बनाना आवश्यक था। यहाँपर भी कलापूर्ण चौखट सहित त्रिकोण जालीदार गवाक्ष वर्तमान है। गुप्तकालमें इसका विशेष प्रचार था। संक्षेपमें कहा जाय तो सम्पूर्ण शिखरमें जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलात्मक काम किया गया है, वह भारतीय शीर्ण-कलाके मुखको उज्ज्वल किये बिना नहीं रहता। ईंटोंपर भी बारीक काम किस प्रकार किया जा सकता है, इसका सारे भारतमें सम्भवतः यही एक ज्वलन्त उदाहरण है। ईंटें १८×८ इंचकी हैं। इस तरहके कामका प्रचार गुप्तकालमें व्यापक रूपसे था। मन्दिरके बरामदेमें सूर्य, शंकर, पार्वती, सरस्वती एवं कामसूत्रसे सम्बन्धित कुछ मूर्तियाँ अवस्थित हैं। इस देवालयके समीप ही रामदेवालय भी बहुत ही दुरवस्थामें विद्यमान है। यद्यपि यह भी सम्पूर्ण ईंटोंका ही बना हुआ था, पर वर्त्तमान कालमें शिखरके कुछ भागको छोड़कर केवल ईंटोंका ढेर-भर अवशिष्ट है। प्रेक्षकोंका ध्यान इस ओर शायद ही कभी जाता हो।

सिरपुरसे कउवाँझर जानेवाली सड़कपर किनौंचके भीषण अरण्यमें एक विशाल स्तम्भपर एक भव्य पुरुष-प्रतिमा हाथमें खड्ग लिये हुए अवस्थित है। उसका चेहरा भव्य, आकर्षक तथा विविध प्रकारके कलचुरि-शिल्प-स्थापत्यमें पाये जानेवाले आभूषणोंसे इसमें कुछ भिन्नत्व है। मालूम होता

है कि किसी समय यहाँ प्राचीन मन्दिर भी अवश्य रहा होगा, क्योंकि मृत्तिकामें दवे कुछ अवशेष मैंने निकलवाये थे। महानदीके तटपर अवस्थित गन्धेश्वर महादेव सिरपुरका प्रधान मन्दिर है। अभ्यान्तरिक दो स्तम्भोंपर बिना संवत्के दो विशाल लेख नवीं शतीकी लिपिमें उत्कीर्णित हैं। मन्दिरकी अवस्थाको देखते हुए पुरातनताका अनुभव नहीं होता। कहा जाता है कि चिमनाजी भोंसलेने इसका जीर्णोद्धार करवाया था, एवं इसकी व्यवस्था के लिए कुछ ग्राम भी दिये थे[1]। शिखरके दोनों ओर बाह्य भागमें गणयुक्त शंकर-पार्वतीकी संयुक्त प्रतिमा तथा विष्णुकी मूर्तियाँ श्याम पाषाणपर खुदवाई गई हैं। विदित होता है कि ये अवशेष लक्ष्मण-देवालयसे लाकर यहाँ लगवा दिये गये हैं। पासमें १५ पंक्तिवाला एक विशाल शिलालेख बैठनेके स्थानमें एवं एक लेख मन्दिरकी पैड़ीमें लगा दिया गया है। इसीके सामनेवाले हनूमानके मन्दिरमें भी कार्त्तिकेय आदिको प्रतिमाएँ हैं। पश्चात् भागमें महिषासुर, गंगा, गणेश आदि देवोंकी प्रतिमाएँ स्निग्ध श्याम पाषाणपर बहुत ही उत्तम ढंगसे उत्कीर्णित हैं। इनमें अष्टभुजी देवीकी प्रतिमा कला एवं भाव-गाम्भीर्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही नहीं, वरन् सिरपुरसे प्राप्त सभी अवशेषोंमें सर्वश्रेष्ठ है। सूक्ष्मताके लिए हम इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि पाषाणपर केश-विन्यास-कलाका विकास, पलकके केशोंकी स्पष्टता, ललाट एवं उदरकी आवलियाँ बहुत ही स्पष्ट रूपसे व्यक्त हुई हैं। इस मूर्तिका महत्त्व तत्कालीन युद्धमें काम आनेवाले शस्त्रोंके इतिहासकी अपेक्षासे भी सर्वोपरि है। इसी प्रकारके शस्त्रवाले कुछ जुझार भी हमने सिरपुरमें देखे हैं, जिनपर संवत् ११०६ फाभन और संवत् १४०२ के लेख खुदे हुए हैं। देवी जिसपर अधिष्ठित हैं, उसका मस्तक वराह-तुल्य है एवं शेष शरीर मानव-तुल्य है। सिरपुर

---

[1] बात यह है कि पुराने अवशेषोंको लेकर ही इस मन्दिरका निर्माण हुआ है।

तुरतुरिया, खँतराई आदि सन्निकटवर्ती लघु ग्रामोंमें हिन्दू-संस्कृतिसे सम्बन्धित विपुल अवशेष विद्यमान हैं। यहाँपर माघ पूर्णिमाको बड़ा मेला लगता है। महन्त मंगलगिरिजी बहुत सज्जन व विनम्र पुरुष हैं।

राजिम

राजिममें राजिवलोचनका मन्दिर भी प्राचीन है, जिसमें ७ वीं और ८वीं शतीके दो लेख लगे हुए हैं। प्रथम लेखका सम्बन्ध राजा वसन्तराजसे है। यहाँके स्तम्भोंपर दशावतार बहुत ही उत्तम रीतिसे उत्कीर्णित हैं। कहा जाता है कि राजा जगतपालने इसे बनवाया था। मन्दिर चपटी छतवाला होते हुए भी उतनी प्राचीनताका द्योतक नहीं। यहाँ महाराज तीवरदेवकी मुद्रासे युक्त विशाल ताम्रपत्र विद्यमान है। मन्दिरके एक स्तम्भपर चालुक्यकालीन नृवराहकी अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण चार हाथवाली मूर्ति उत्कीर्णित है। उसकी बायें हाथकी कोहनीपर भूदेवी दिख पड़ती है। मूर्ति-निर्माण-शास्त्रोंमें वर्णित वराह-लक्षणोंसे इस प्रतिमामें केवल इतना ही पार्थक्य है कि यहाँ आलीढासनमें अधिष्ठित आदि-शेष भगवान् अपने फनके स्थानमें दोनों हाथोंसे थामे हुए हैं। निकटवर्ती शिला पर नागकुल देख पड़ता है, जिसमें नाग अंजलिबद्ध होकर नृवराह का सम्मान कर रहे हैं। इतनी प्राचीन और इस प्रकारकी वराहकी प्रतिमा प्रान्तमें अन्यत्र दुर्लभ है।

लक्ष्मण-देवालयसे स्वर्गीय डाक्टर हीरालालजीको एक लेख प्राप्त हुआ था जो अभी रायपुर म्यूज़ियममें सुरक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त मन्दिर शिवगुप्तकी माता 'वासटा' द्वारा निर्मित हुआ जो मगधके सूर्यवर्माकी पुत्री थी। सूर्यवर्माका समय ८वीं शती पड़ता है। अतः इस मन्दिरकी रचनाका काल भी ८वीं ९वीं शतीमें होना चाहिए। इस मन्दिरकी अधिकांशतः बृहत्तर मूर्तियाँ, सिरपुरसे लाई गई हैं। राजिम, राजीवका अपभ्रंश रूप जान पड़ता है। इस स्थानको पद्मक्षेत्र भी कहा

गया है। पर यहाँ एक किंवदन्ती प्रचलित है जिसका सारांश यह है कि इसका सम्बन्ध राजिव नामकी तेलिनसे है। राजीवलोचन मन्दिरमें छोटासा मन्दिर बना है। उसमें सतीचौरा है। इसपर सूर्य, चन्द्र और कुम्भवत् दृश्य उत्कीर्ण हैं। नीचे स्त्री-पुरुष व बगलमें दासियाँ तथा बैल भी खुदे हैं। यदि तेलिनकी दन्तकथाका सम्बन्ध राजीवलोचनसे हो, तो जानना चाहिए कि वह अपने इष्टदेवके सम्मुख सती हुई[1] थी। यहाँ पुजारी क्षत्रिय हैं। इसमें रायपुर-रश्मिके लेखकको विचित्रता मालूम हुई। मेरे खयालसे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। बिहारके मुँगेर ज़िलेमें, महादेव-सिमरिया ग्राममें पुरातन शिवमन्दिरके पुजारी व पण्डे कुम्हार हैं।

राजिम महानदी और पैरीके ठीक संगमपर कुलेश्वर-महादेवका मन्दिर है। इसकी रचना आश्चर्यजनक है। महानदीके प्रवाहके सैकड़ों वर्षोंसे थपेड़े खानेके बाद भी मन्दिरकी स्थिति ज्योंकी त्यों है।

बनजारोंके चौतरे—

महाकोसलमें ग्रामसे बाहर या कहीं-कहीं घनघोर वनमें एक प्रकारके चौतरे पाये जाते हैं। जो सती-चौतरोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इन्हें किसीका समाधिस्थान भी नहीं मान सकते, तो फिर इन चौतरोंका सम्बन्ध किनसे होना चाहिए? यह एक कठिन प्रश्न है, पर उपेक्षणीय नहीं। इन चौतरोंका निर्माण सामान्य कोटिके अनगढ़ पत्थरोंसे हुआ करता था। उनपर सिन्दूरसे विलेपित अनगढ़ पत्थर या कोई देव-चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। हीरापुर निवासी वयोवृद्ध अध्यापक श्रीयुत नन्हेलालजी चौधरी द्वारा ज्ञात हुआ कि इस प्रकारके चौतरोंका सम्बन्ध, भारतके बहुत पुराने पर्यटक बनजारोंसे होना चाहिए। यांत्रिक साधनोंके अभाव-युगमें अन्तर्प्रान्तीय वाणिज्य अधिकतर

---

[1] रायपुर रश्मि पृष्ठ ८०–८१।

बनजारोंके द्वारा ही सम्पन्न होता था। वे केवल वर्षा काल ही में, जहाँ मुख्यतः जल तथा चारेकी सुविधा हो, (उन दिनों माल परिवहनका साधन बैल ही था) चाहे वह स्थान भले ही घनघोर अटवीमें ही क्यों न हो, आवास बना लेते थे। अब प्रश्न रहा संचित सम्पत्तिका, उसे वे अपने अस्थिर निवासस्थानके समीप ही चौतरा बनाकर, उसके मध्यमें रक्षणार्थक अपने अर्जित संपत्तिको रखकर, पलस्तर कर, ऊपर ऐसा चिह्न बना देते थे जैसे कोई देवस्थान ही हो। ऐसा करनेका एकमात्र कारण यही था कि लोग इसे सम्मानकी दृष्टिसे देखें और धार्मिक मान्यताके कारण कभी खोदें नहीं। बनजारोंकी परम्पराका संपत्ति-संरक्षणका यह अच्छा ढङ्ग था। जब वे चलते तब अर्थकी आवश्यकता हुई तो निकालते, वर्ना स्मृति पत्थर ही उनका अस्तित्व बनाये रहते थे। इस धन-रक्षण पद्धतिके पीछे न केवल काल्पनिक व किंवदन्तियोंका ही बल है, अपितु कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जिनसे उपर्युक्त पंक्तियोंकी सत्यता सिद्ध होती है। उपर्युक्त चौबरीजीने अपने ही गाँवकी एक घटना आँखों देखी, इस प्रकार सुनाई थी—

'हीरापुर' (जि० सागर) की पश्चिम सीमापर वनके निकट जलाशयके तीरपर लगभग १० वर्गफ़ीट पत्थरोंका एक चौतरा था। जनताने इसे धर्मका स्थान मान रखा था। एक दिन बनजारोंका समूह सायंकाल आकर वहीं ठहर गया। प्रातःकाल लोग विस्फारित नेत्रोंसे चौतरेकी स्थिति देखकर आश्चर्यान्वित हुए, क्योंकि वह बुरी तरह ध्वस्त-विध्वस्त हो चुका था। बनजारे भी प्रयाण कर चुके थे, तब लोगोंको इस चौतरेका रहस्य ज्ञात हुआ।

लालबर्रासे सिवनी (C. P.) आनेवाले मार्गमें सातवें मीलपर भयंकर वनमें एक ऐसा ही चौतरा बना हुआ है। चौतरोंका उल्लेख मैंने इसलिए करना उचित समझा कि अवशेषोंके साथ जिन किंवदन्तियोंका सम्बन्ध हो, उनकी उपेक्षा भी, पर्याप्त अन्वेषणके बाद की जानी चाहिए। कबीर साहबके चौतरे भी इस ओर पाये जाते हैं। इसका कारण यह है

कि छत्तीसगढ़में इनके अनुयायियोंकी संख्या काफी है। कवर्धा, कबीरधाम का रूपान्तर माना जाता है। इस ओर कबीर साहबका साहित्य प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होता है। गवेषकोंके अभावमें इतनी विराट् सामग्रीका अभीतक समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका है; न निकट भविष्यमें संभावना ही दृष्टिगत होती है।

सती व शक्ति चौतरे—

सती-चौतरोंकी संख्या सापेक्षतः महाकोसलमें अधिक पाई जाती है। निकटवर्ती प्रदेश, विन्ध्य प्रान्त तो एक प्रकारसे सती-चौतरोंका केन्द्र-स्थान ही है। सागर, दमोह, जबलपुर आदि जिलोंमें सैकड़ों ऐसे सती स्थान व उनकी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें कुछ एकपर लेख भी खुदे पाये जाते हैं। ऐसे साधन भले ही पुरातन-कलाकी दृष्टिसे महत्त्व न रखते हों, पर ऐतिहासिक दृष्टिसे इनकी उपयोगिता है।

महाकोसलमें सर्व प्राचीन जो सती-स्मारक उपलब्ध हुआ है वह 'बालोद' (जिला दुग) में विद्यमान है। इनपर लेख भी हैं। एक लेख, जो स्व० डाक्टर हीरालालजी द्वारा पढ़ा गया था, वह संवत् १००५ का है। दूसरा लेख जिसका वाचन प्रिन्सेप साहब द्वारा संपन्न हुआ था, उसका काल आपने ईसाकी दूसरी शताब्दी स्थिर किया है। यदि उपर्युक्त वाचन ठीक है, तो कहना पड़ेगा कि भारतमें पुरातन सती-चौतरोंमें इसकी गणना प्रथम पंक्तिमें की जायगी[1]।

पुरातन साहित्य व शिला तथा ताम्रपत्रोत्कीर्णित लिपियोंसे सिद्ध है कि महाकोसलमें शक्तिपूजाका प्रचार बहुत प्राचीन कालसे रहा है। यहाँके आदिवासी प्रत्येक कार्यकी सफलताके लिए शक्तिके किसी भी रूपकी मनौती करते हैं। सुसंस्कृत कालमें भी शक्ति-पूजार्थ बड़े-बड़े मन्दिर व

---

[1] श्री स्व० गोकुलप्रसाद—दुग-दर्पण, पृष्ठ ८२।

मठोंकी स्थापना की गई। राजाओं द्वारा तान्त्रिक परम्पराका समादर किया जाता था। भवभूतिकृत मालती-माधव, राजशेखरकृत कर्पूर-मंजरी तथा कलचुरि-कालीन ताम्र व शिलालेखोंसे महाकोसलीय तान्त्रिक समूहको समुचित रीत्या समझ सकते हैं। पुरातन मूर्तियाँ भी उपर्युक्त विचार परम्पराका समर्थन करती हैं। ग्रामीण जनता भी अपनी शक्ति व मतिके अनुसार देवी-पूजा कर कृत-कृत्य होती है। महाकोसलमें बहुतसे स्थान मैंने देखे हैं, जहाँ जनताने, किसी भी धर्ममान्य मूर्ति, उसका खण्डित अंश, या कोई भी गड़े गड़ाये पत्थर या समूहको एक स्थानपर स्थापित कर, सिन्दूरसे पोतकर उसे या उन्हें 'खेरमाई', 'खैरइया' आदि नामोंसे पुकारा है। अवान्तर रूपसे इस प्रकारकी मान्यताके पृष्ठभागमें शक्ति-पूजाके बीज ही प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थानोंका अध्ययन भी, पुरातत्त्व-शास्त्रियों व विद्यार्थियोंके लिए नितान्त वांछनीय है, क्योंकि ऐसे समूहमें कभी-कभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कलाकृति उपलब्ध हो जाती है। पनागर, त्रिपुरी, बिलहरी, [illegible]रंगढ़, लाँजी, किरनरपुर, कारीतलाई, आरंग, रायपुर, लखनादौन, [illegible]तैर, रत्नपुर और नागरा आदि अनेक स्थानोंपर पुरातन अवशेषोंका समूह शक्तिके विभिन्न रूपान्तरके रूपमें पूजा जाता है।

स्थानाभावसे मैं जानबूझकर मध्यप्रदेशके दुर्गोंका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ, परन्तु ये भी हिन्दू-पुरातत्त्वके खास अंग माने जाते हैं। पुरातन वापिकाओंकी भी गिनती इसमें होनी चाहिए थी। भविष्यमें दुर्गपर स्वतंत्र विचार करनेकी भावना है। क्योंकि यहाँकी दुर्ग-निर्माण-पद्धति स्वतंत्र ढंगकी रही है।

इस प्रकार हिन्दू धर्माश्रित, शिल्पस्थापत्य कलाके अति उत्कृष्ट व मनोहर प्रतीक पुरातन खंडहरमें प्राप्त होते हैं। अगणित भू-गर्भमें डटे पड़े हैं। जो बाहिर हैं वे भी दैनंदिन नाशकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। पूर्व पुरुषों द्वारा इनपर अगणित सम्पत्ति व्यय हुई। कलाकारोंने आत्मिक सौंदर्यको कुशलतापूर्वक मूर्त रूप दिया, पर आज समय ऐसा आया है कि

हम सभी प्रकारसे अपने आपको समुन्नत मानते हुए भी, अतीतकी आत्मीय विभूतियोंकी उपेक्षा करते जा रहे हैं। उनकी कीर्तिपर ठोकर मारते जा रहे हैं। क्या स्वाधीन भारतके सांस्कृतिक नवनिर्माणमें इनकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है! इनकी मौन-वाणीको सुननेवाला कोई सहृदय कलाकार नहीं है ? .

सिवनी
२० मई १९५२

महाकोसल

की

कतिपय हिन्दू-मूर्तियाँ

"मध्यप्रान्तका हिन्दू-पुरातत्त्व" शीर्षक निबन्धमें महाकोसलके पुरातत्त्वका निर्देश संक्षेपसे किया है। उसमें अधिकतर भागका सम्बन्ध मेरे प्रथम भ्रमणसे है। १९५० फरवरीमें पुनः मुझे महाकोसलके त्रिपुरी, बिलहरी, पनागर और गढ़ा आदि नगर स्थित कलावशेषोंका, न केवल अध्ययन करनेका ही सौभाग्य प्राप्त हुआ, अपितु उन उपेक्षित अरक्षित कलात्मक प्रतीकोंका संग्रह भी करना पड़ा जिनसे एक सुन्दर कलात्मक संग्रहालय बन सकता है। इन अवशेषोंमें जैन एवं वैदिक संस्कृतिसे संबन्धित प्रतीक ही अधिक हैं। दो एक बौद्धावशेष भी सूचनात्मक हैं। प्रस्तुत निबन्धमें मैं अपने संग्रहके कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रतीकोंका परिचय देना चाहता हूँ। शीर्षकसे भ्रम हो सकता है कि मैं सम्पूर्ण महाकोसलके शिल्प-स्थापत्य कलाकी गम्भीर आलोचना करते हुए, [illegible]कलाके क्रमिक विकासकी ओर संकेत करूँगा, परन्तु यहाँ मैंने अपना क्षेत्र सीमित रखा है। उन महत्त्वपूर्ण कलावशेषोंका इसमें समावेश न होगा जिनको मैंने स्वयं नहीं देखा है।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाके विकास और संरक्षणमें महाकोसलने कितना योग दिया है, इसका अनुभव वही कर सकता है, जो इन भू-भागके निर्जन-अरण्य एवं खण्डहरोंमें बिखरी हुई तक्षण कलाकी खण्डित कृतियोंके परिदर्शनार्थ स्वयं घूमा हो। जैन मुनि होनेके नाते पैदल चलनेका अनिवार्य नियम होनेके कारण महाकोसलके कलातीर्थोंमें भ्रमण करनेका अवसर मिलता है। मैं दृढ़ता पूर्वक कह सकता हूँ कि इतिहास पुरातत्त्वज्ञों की इस ओर घोर उपेक्षित मनोवृत्तिके कारण, यहाँकी बहुमूल्य कला-कृतियाँ सड़कों और पुलोंमें लग गईं। कुछ लेख तो आज भी जबलपुर जिलेकी कब्रोंमें फ़र्शके रूपमें लगे हुए हैं। अभी भी जो सामग्री शेष है, वह न केवल तक्षणकलाकी दृष्टिसे ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु महाकोसल सांस्कृतिक

त्रिलहरीमें किंवदन्ती प्रचलित है कि पुहपावती इसका प्राचीन नाम है, और किसी समय इसका विस्तार १२ कोसतक था। स्व० डा० हीरालाल[1] आदि कुछ विद्वान् विलहरी और पुष्पावतीको एक ही नगरी मानने-की चेष्टा करते नज़र आते हैं। परन्तु इस किंवदन्तीका आधार क्या है ? अज्ञात है। आजतक कोई भी लेख व ग्रन्थस्थ उल्लेख मेरे अवलोकन-में नहीं आया जो दोनोंको एक माननेका संकेत करता हो। त्रिलहरीका और भी कुछ नाम रहा होगा यह भी अज्ञात है। ऐसी स्थितिमें बिना किसी अकाट्य प्रमाणके बिलहरीका प्राचीन नाम पुष्पावती स्थापित कर देना या मान लेना, किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं।

जिस पुष्पावतीका माधवानल निवासी था, वह तो पूर्वदेशमें गंगाके किनारे कहीं रही होगी, जैसा कि वाचक कुशललाभके उल्लेखसे सिद्ध है। इस चौपाईमें आगे भी बीसों उल्लेख पुष्पावतीके आये हैं। वहाँपर गोविन्दचंद राजा था, और वह हरिवंशी था। त्रिलहरीको थोड़ी देरके लिए पुष्पावती—किंवदन्तीके आधार पर मान भी लिया जाय तो भी एक आपत्ति यह आती है कि यहाँपर गोविन्दचन्द[2] नामक हरिवंशीय कोई भी राजा हुआ ही नहीं। न विलहरीके निकटकी नदीका ही कोई ऐसा नाम है, जो गंगाके नामसे समानता रखती हो।

मैंने इन आख्यानकोंको इसी दृष्टिसे पढ़ा है और विलहरी तथा तत्सन्निकटवर्ती स्थानोंका अन्वेषण भी किया है, वहाँपर प्रचलित रीति-रिवाजोंको भी समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु मुझे ऐसा संकेत तक नहीं मिला कि इन आख्यानक-वर्णित रिवाजोंके साथ उनकी तुलना

---

[1] जबलपुर-ज्योति, पृ० १५७,

[2] "ते हिज गंग वहइ सासती, तिण तटि नगरी पुहपावती
गोविन्दचन्द करइ तिहाँ राज......।

आनन्द-काव्य महोदधि, पृ० १०,

मूर्ति कलाकी दृष्टिसे तो निश्चित विचार तब ही प्रगट किये जा सकते हैं, जब इस भू-भागकी अनन्त प्राचीन प्रतिमाओंका शास्त्रीय अध्ययन किया जाये. उचित अन्वेषणके अभावमें निकट भविष्यमें तो कोई आशा नहीं की जा सकती, परन्तु प्राप्त बहुसंख्यक अवशेष कलाकारको इस विचारतक तो पहुँचा ही देते हैं कि मूर्तिकलाके आन्तरिक एवं बाह्य उपकरणोंने यहाँ तक्षकोंने काफी स्वतन्त्रतासे काम लिया और मूर्ति-निर्माणमें तत्कालीन जन-जीवनको न भूले। वे न केवल अपने आराध्य देवकी प्रतिमा तक ही छैनीको सीमित रख सके, अपितु पौराणिक एवं तांत्रिक देवियोंका भी सफल अंकन कर सके थे। कतिपय मूर्तियाँ ऐसी भी हैं, जिनकी मुखाकृतियाँ महाकोसलको जनतासे आज भी मिलती जुलती हैं। मूर्ति रूपशिल्पका एक अंग है। मूर्ति स्थित शील कलाका प्रतीक है। १० वींसे १२ वीं शताब्दीतकके तांत्रिक साहित्यमें देव-देवियोंके रूप भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्यक्त हुए हैं, उनमेंसे गणेश, दुर्गा, तारा और योगिनियोंके रूप महाकोसलमें प्राप्त हुए हैं। तादृश चित्र मूर्तिकलामें किस तरहसे प्रतिबिम्बित करना, इस कार्यमें यहाँके शिल्पी बड़े पटु थे। शरीरके अंगोपांग एवं वस्त्र विन्यास, नासिका, चक्षु एवं ओठोंके अंकनमें जैसी योग्यता परिलक्षित होती है, वैसी समसामयिक अन्य प्रान्त स्थित प्रदेशोंमें शायद कम मिलेगी। तात्पर्य कि मूर्तिकला-विशारदोंकी धारणा है कि ११ वीं या १२ वीं शतीके बाद मूर्तिकला ह्रासोन्मुखी हो चली थी, परन्तु यहाँकी कुछ मूर्तियाँ इस पंक्तिका अपवाद हैं। तक्षकोंके सम्मुख निःसंदेह शिल्पविषयक साहित्य अवश्य ही रहा होगा, परन्तु इस विषयपर प्रकाश डालनेवाले न तो साहित्यिक उल्लेख मिले हैं एवं न कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही। हाँ, त्रिपुरीमें आज भी 'लढ़िया' जाति है, जिनका व्यवसाय मूर्तिनिर्माण था और आज भी है। त्रिपुरीमें ही एक समय सैकड़ोंकी संख्यामें उनके घर थे। दर्जनों आज भी हैं। एक वृद्धासे मैंने मूर्तिनिर्माण-विद्या विषयक जानकारी प्राप्त करनी चाही तब उसने अपने

नदी भी होनी चाहिए। एक बात और ध्यान देनेकी है, वह यह कि तरनतारण स्वामीका जन्म भी पुष्पावतीमें हुआ था, ऐसा कहा जाता है, उनका विहार प्रदेश, अधिक सागर-दमोह व बुन्देलखंडका भू-भाग रहा है। बिलहरी इसीके अन्तर्गत है। तारणस्वामीके अनुयायियोंका मानना है कि यह वही पुष्पावती है जिसे लोग बिलहरी कहते हैं। वहाँ जैनोंका उन दिनों—१४ शतीमें व इससे कुछ पूर्व—बहुत बड़ा केन्द्र था। माधवानलका बघेलखंडसे गुज़रना ये सब बातें मिलजुलकर एक भ्रामक परम्परा बन गईं, किन्तु तारणस्वामीके साहित्यमें ऐसी बात नहीं पाई जाती। उत्तरवर्ती अनुयायी-भक्तोंसे इस किंवदन्तीका सूत्रपात हुआ। यह विषय काफ़ी विचारकी अपेक्षा रखता है। हाँ, इतना मैं कह देना चाहूँगा कि इस ओर तारण-परम्पराके उपासकोंकी संख्या हज़ारोंमें है।

वाचक कुशललाभने माधवानलका जो मार्ग बताया है, उसमें न तो नर्मदाका उल्लेख है और न मध्यप्रदेशके किसी भी गाँव, पर्वत और ऐसे ही किसी स्थानकी चर्चा है, जिससे उनका इस ओर आना प्रमाणित हो सके। माधवानलके हिन्दी आख्यानका कुछ मेल कुशललाभ कथासे बैठता है। राजा गोविन्दचन्द्र, पुष्पावती, कामावती और कामसेन, आदि नाम दोनों कथाओंमें समान हैं। पर मार्गमें बड़ा अन्तर है। हिन्दी-आख्यान रीवाँके कामदपर्वत—कामतानाथ—चित्रकूट[१]—का उल्लेख करते हैं तो कुशललाभ केवल कामावतीका ही।

मुझे तो ऐसा लगता है कि यह लोककथा होनेसे प्रत्येक प्रान्तके

---

[१] यह स्थान रीवाँसे ८६ मील गहरे वनोंमें है, इसे आम्रकूट-अमरकूट भी कहते हैं, कालिदासका आम्रकूट शायद यही हो, जिला छिंदवाड़ामें अमरकूट नामक एक स्थान है। पर मेरी सम्मतिमें रीवाँ वाला स्थान अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है।

एवं रायपुर जिलोंमें उपलब्ध होती हैं। आदिवराहकी मूर्तियाँ जितनी विशाल महाकोसलमें उपलब्ध होती हैं वैसी अन्यत्र कम। इन मूर्तियोंपर पौराणिक देवताओंकी सहस्रों छोटी-बड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्णित मिलती हैं। पनागरका आदिवराह मैंने स्वयं देखा है। भूवराहकी अत्यंत सुन्दर एवं कलापूर्ण प्रतिमा राजीवलोचनके[1] मंदिरमें सुरक्षित है। छोटी मूर्तियाँ तेवर और त्रिपुरीमें दर्शनों पाई जाती हैं, जिनमें वराह पृथ्वीको उठाये हुए मुँह ऊँचे किये बताये गये हैं। इस आकृतिकी १२वीं शतीतककी प्रतिमाएँ छोटे रूपमें काफी मिलती हैं। इसी प्रकार विष्णुके अन्य अवतार भी महाकोसलमें पाये जाते हैं। बिलहरीमें (कटनीसे १० मील पश्चिम) विष्णुवराहका स्वतन्त्र मंदिर ही पाया जाता है, जिसकी चौखटपर गंगाकी खड़ी मूर्तियाँ पाई गई हैं। कलचुरि यशःकर्णदेवके समयकी तीन वैष्णव मूर्तियाँ मुझे पनागरमें देखनेको मिली थीं। ये तीनों बेजोड़ हैं। यों तो दो स्वतंत्र शिलाओंपर खुदी हैं। इनमें गोवर्द्धनधारी विष्णु हैं, पासमें कुछ गोप व गैया खड़ी, विस्फारित नेत्रोंसे खड़ा है। गोपके वस्त्र प्रेक्षणीय हैं। पट्टशिलापर लेख खुदा है। तीसरी प्रतिमा त्रिभुवनके भावोंको स्पष्ट करती है। ये तीनों अवशेष इस बातके परिचायक हैं कि कलचुरि-कालमें भी वैष्णव परम्परा यहाँ जीवित थी। दशावतारयुक्त विष्णुकी एक अतीव सुन्दर और कलापूर्ण प्रतिमा मेरे संग्रहमें है। परिचय इस प्रकार है—

दशावतारी विष्णु

कटनी नदीके मनुरहा घाटपर पाई गई यह सम्पूर्ण प्रतिमा ५०$\frac{1}{2}$"×२६$\frac{1}{2}$" है। भगवान् विष्णु बीचमें खड़े हुए हैं, जिनका विस्तार ३६"×२०" है। प्रतिमाकी खूबी यह है कि यह एकदम खुदी खड़ी है। पीछे कोई आधार भूमि नहीं रखी गई। सामान्य रूपसे परिकरमें खुदे

[1] राजिम, जिला रायपुर। चित्रके लिए देखें 'भारतीय अनुशीलन'।

हुए डिजाइन सांचीके स्तूपके डिजाइनोंका स्मरण दिलाते हैं। सबसे पहले हम खड़े हुए विष्णुको ही लें—

भगवान् विष्णुके अंग-प्रत्यंगकी गठनमें विशेष सुघड़ता तो है ही, पर साथ ही अधोवस्त्र एवं अन्य आभरणोंकी रचनामें सुरुचिका प्रदर्शन स्पष्ट है। इन आभरणोंमें कटिप्रदेशसे किंचित् उपरि भागमें आवेष्टित आभरण, विशेष बुन्देलखण्ड अथवा महाकोसलकी अपनी विशेष साज-सज्जा जान पड़ती है। वहाँकी अन्यान्य प्रतिमाओंमें भी यह दिख पड़ा है। भगवान् विष्णुके पावोंमें पैंजन मूर्तिकी सुकुमारताका परिचय देते हैं। दोनों टाँगोंमें सुघड़ता है। वस्त्र घुटनोंके नीचेतक आया है और वहींतक कंठस्थित माला लटक रही है। इस मालाके फूलोंकी रचना बहुत स्वाभाविक है, अधोवस्त्र कटिप्रदेशसे बँधा हुआ है, परन्तु उसकी शलें और, उन शलोंकी बहुमुखी दिशाएँ अभीतक वहाँ किसी भी प्रतिमामें नहीं आई। कटिप्रदेशमें मेखला स्पष्ट दिख रही है। मेखलाका फूल गुदीके बिल्कुल नीचे सरल रेखामें चित्रित है। कटि, वक्ष और स्कन्धोंका अनुपात तथा उनके पीछे किसी भी आधार-भूमिका अभाव, प्रतिमाके शारीरिक सुगठन सौन्दर्यको द्विगुणित करता है। विशाल वक्षस्थलपर बुन्देलखण्डका अपना आभूषण अर्थात् हँसुली और माला बदस्तूर पड़े हुए हैं। चतुर्भुजी प्रतिमाकी कोहनीके नीचेके अंग खंडित हैं। बाहु भागमें अलबत्ता बाजूबन्दका design अभी बना हुआ है। गलेकी त्रिवली स्पष्ट है। चेहरेमें नाक और आँखें अस्पष्ट हैं, किन्तु नीचेका ओठ और कान बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। इतने सुन्दर कान अभी इस तरफ़ देखनेमें कम आते हैं। पश्चात् भागमें पड़ा हुआ केश कुंज बड़ा स्वाभाविक है। कर्णफूल उस केशकुंजके ऊपर रखे हुए हैं सिरका किरीट मुकुट ऊँचा है,—पिरेमिडके आकारका है। उसमें कढ़े हुए वेल-बूटे ब्राह्मण धर्मके अन्य वेलबूटो जैसे ही हैं।

वैजयन्तीमाला मूर्ति-सौन्दर्यमें और भी वृद्धि करती है। मालामें

फूलोंके अतिरिक्त उसकी शलें भी ध्यान आकृष्ट करती हैं जो पुनः कलाकारके सूक्ष्म संयोजन शैलीकी परिचायक हैं।

विष्णुकी प्रतिमाके पीछे जो प्रभावली है वह भी अनेक बौद्ध प्रभावलियोंकी नाईं सुन्दर और सफ़ाईसे काढ़ी हुई है। विष्णु भगवान् कमलके पुष्पके ऊपर खड़े हुए हैं। ये कमल भी दो भक्तोंके हाथोंपर आधृत हैं। जो ऊर्ध्वमुखी हैं। कमलकी पँखुड़ियाँ स्पष्ट तो हैं, पर उनमें कोई बारीकीकी रचना नहीं है।

परिकर

प्रधान प्रतिमाके बाद हमारा ध्यान पहले पार्श्वद युग्मोंकी ओर जाता है, जो कि बहुत सौम्य और सुरुचिपूर्ण है। चरणोंके लगभग दायें बायें सबसे नीचे दो-दो भक्तोंकी जंघाओंके बलपर बैठकर अंजलिबद्ध हो, आराधनामें व्यस्त हैं, उनकी मुखमुद्राके भाव तन्मयता, मुख व अंगोंकी सौन्दर्य रचनाके बावजूद भी उनकी अगाध भक्तिका परिचायक है। ये दोनों जोड़ियें पुरुषोंकी ही जान पड़ती है। दोनों जोड़ियोंके हाथमें पुष्प एवं नारियलकी भेंट सुशोभित हैं।

इस युग्मके बिल्कुल ऊपर दोनों ओर दो दम्पति पार्श्वद हैं। समस्त पार्श्वदोंमें इन दम्पतियोंका आकार भी सापेक्षतः बड़ा है। शिल्पकी दृष्टिसे तो इन दम्पतियोंमें सुरुचिकी पूर्ण आभा है, किन्तु तत्कालीन महाकोसलीय एवं भारतीय समाज व्यवस्था और संस्कृतिका भी उसमें परिचय हमें मिलता है। वैष्णव धर्म सामान्य रूपसे गृहस्थ जीवनका अंग बन गया था, जिसमें सहधार्मिक स्त्रीको उदार पद प्राप्त था। इनमें चँवर डुलानेका श्रेय पत्नीको ही दिया गया है। भक्ति-समर्पणमें पत्नी ही आगे अपने सम्पूर्ण शृंगारके साथ भगवान्की सेवामें रत है। इन पत्नियोंकी केशराशि सुन्दर अवश्य है, पर बुन्देलखण्डमें सामान्यतः पाये जानेवाले केशविन्याससे किंचित् भिन्न है। नारीका

शृंगार सचमुच वैभवपूर्ण है। पत्नीके पीछे जो पुरुष पार्श्वद हैं, उनके बायें हाथोंमें फूल भी रखे हुए हैं। पुरुष भी सामान्य शृंगारसे सुसज्जित होकर अपनी पत्नीके पीछे खड़े हुए हैं। स्त्रीकी तत्कालीन संभ्रान्तिका परिचय इन पार्श्वदोंकी विशिष्ट पोजीशनके ज़रिये हमें मिलता ही है। उस युगमें स्त्री अवश्य ही उस असम्माननीय स्थितिमें नहीं थी, धर्म कार्यमें पत्नीका प्राधान्य अथवा समान स्थान रामायण युगकी विशेष दशा है। जिसका ह्रास बादमें नारी-परतंत्रताकी बेड़ियोंके घृणित रूपमें हुआ। वैष्णव धर्ममें स्त्रियोंका सम्माननीय स्थान नहीं था। यह प्रभाव प्रमादपूर्ण जान पड़ता है।

इन दम्पति युग्मोंके ऊपर अर्थात् विष्णु वक्षस्थलके चारों ओर साँचीके द्वारके अनुरूप डिज़ाइनदार स्तंभ बने हुए हैं। दो स्तंभों (Vertical Pillars) के ऊपर (across) तीसरा (Horizontal) स्तंभ साँचीके स्तूपकी अपनी विशेषता है। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐसे स्तंभ बौद्धधर्मकी स्थापत्य कलामें ही प्रथमतः व्यवहृत हुए हैं, किन्तु महाकोसल एवं बुन्देलखण्डमें जो उत्तरकालीन जैन और वैदिक कला-कृतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें साँचीका यह डिज़ाइन सामान्य रूपसे प्रयुक्त हुआ है। सिरपुरमें जो धातुकी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, उनमें भी यह स्तम्भ रचना कमसे कम १२वीं शतीतक अवश्य व्यवहृत होती आई है। इसके उपरान्त साँचीमें प्रयुक्त जो बारीक खुदाई और पच्चीकारी इन खम्भोंमें की जाती थी, वह बन्द हो गई होगी और उनके स्थानपर केवल तीन खम्भ मात्र शेष रहे होंगे।

दोनों स्तम्भोंके बाहर भागोंमें हस्तिशुण्डा एवं तदुपरि सिंहाकृति बनी हुई है। आगेके दोनों पाँव ऊपर हवामें सिंहाकृति उठाये हुए हैं, और उसके ऊपर सिंहके मुखमें लगाम थामे हुए एक-एक आरोही—सवार है। हाथीके गण्डस्थल और उसके शुण्डाकी सिकुड़नें देखनेपर हाथीकी विशालता और आभिजात्यका आभास मिलता है।

Horizontal स्तम्भके ऊपर अर्थात् प्रभावलीके उभय ओर इतनी प्रतिमाएँ हैं—

१—मंगलमुख २—दो चँवरधारी पार्श्वद ३—गगनविहारी दम्पति। गगनविहारी दम्पति हाथमें दो पुष्पमाला लिये हुए इस प्रकार उत्कीर्णित हैं मानो गगनसे ही वे भगवान् विष्णुको पहुँचाने जा रहे हैं।

परिकरके पर्यवेक्षणके उपरान्त मैं हिन्दू धर्म मान्य विष्णुके दशावतारों का उल्लेख प्रधान प्रतिमाकी प्रभावलीके दायीं ओरसे आरम्भ करूँगा। सर्व-प्रथम मत्स्यावतार है, बाईं ओर उसी क्रममें कच्छपावतार, मुखमें माला लिए उत्कीर्णित है। तीसरी प्रतिमा दाईं ओर वराहावतार की है। चौथी बाईं ओर नृसिंहावतार। पाँचवीं दाईं ओर वामन। छठीं बाईं परशुरामकी सातवीं प्रतिमा विष्णुमूर्तिके दाईं ओरके स्तम्भके ऊपर रामावतारकी। है। उसी स्तम्भपर आठवीं बलरामकी दाईं ओर नवीं प्रधान पार्श्वद दम्पतिके नीचे बुद्धावतारकी होनी चाहिए, इसलिए कि इस मूर्तिका मस्तक खंडित हो गया है। केवल अधोभाग एवं वस्त्र ही शेष हैं तथा दायें हाथकी अभयमुद्राको सामान्यतः बौद्धधर्मका प्रतीक मानकर ही बौद्धाव-तारकी कल्पना की है। जिस क्रममें अन्य अवतारोंकी रचना इस मूर्तिमें की गई है, उससे युगकी अनुकूलताको ध्यानमें रखते हुए भी; इस खंडित प्रतिमाको 'बुद्ध' मानना अनुचित नहीं। अस्तु, बाईं ओर पुरुष पार्श्वदके नीचे कल्कि अवतारकी प्रतिमा है, जो अश्वारोही है। इस प्रकार दशाव-तारोंका सफल अंकन किया गया है।

इस तरह वैष्णव धर्मकी इस प्रतिमामें साँची-स्तूपके बौद्धशिल्पके आधारपर ही रचनाकाल निर्धारित करना होगा। कहा जा चुका है, इस प्रकारके स्तम्भोंका व्यवहार महाकोसलके १२ वीं शतीतकके अवशेषोंमें हुआ है। यह अन्तिम सीमा है। पूर्व सीमा गुप्तकाल तक जाती है और प्रत्येक शताब्दीके अवशेषोंमें आंशिक परिवर्तनके साथ परिलक्षित होती है।

दशावतारी विष्णुकी अन्य प्रतिमाएँ भी विभिन्न भग्नावशेषोंमें मिलती

हैं। कोई गरुड़पर बैठी हुई, कोई अकेले विष्णु मात्रकी। मेरे संग्रहमें ३ विभिन्न मुद्रावाली मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इसी आकार-प्रकारकी एक विष्णुमूर्ति कामदा-दुर्गके द्वारपर लगी है। गढ़ा और त्रिपुरीमें ध्यानी विष्णुकी अतीव सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। ऐसी मूर्तियोंके साथ मूर्तिकलामें अनभिज्ञों द्वारा अन्याय भी हुआ है। इसका उदाहरण मैं इसी ग्रन्थमें अन्यत्र दे चुका हूँ।

महाकोसलमें चतुर्भुज विष्णुकी एक ऐसी विशिष्ट शैलीकी मूर्ति मेरे संग्रहमें सुरक्षित है, वैसी मैंने अन्यत्र नहीं देखी। खड़ी और बैठी विष्णु मूर्तियाँ तो सर्वत्र उपलब्ध होती हैं—सपरिकर भी। इसमें विशिष्टता यह है कि इसमें शिलाके दोनों ओर ललित प्रभावली युक्त गन्धर्व दम्पति-युगल गगनविचरण कर रहे हैं। हाथमें अतीव सुन्दर स्वाभाविक दण्डयुक्त कमल थामे हुए हैं। दण्डाकृति ८'' से कम न होगी। ऊपरके भागमें विकसित कमलपर भगवान् विष्णु विराजमान हैं। प्रभावलीके विशिष्ट अंकनसे विष्णु गौण हैं और गन्धर्व प्रधान है।

शिव—महाकोसलमें शैवसंस्कृतिकी जड़ शताब्दियोंसे जमी हुई है। यहाँके अधिकतर शासकोंका कौलिकधर्म भी शैव ही रहा है। वाकाटक शैव थे। जैसे सोमवंशी पांडव प्रथम बौद्ध थे पर श्रीपुर—सिरपुर आकर वे भी शैवमतानुयायी हो गये। कलचुरि तो परम शैव थे ही। त्रिपुरी इनकी राजधानी थी। पद्मपुराण (अ० ७) में कहा गया है कि महादेवने यहाँपर त्रिपुरासुरका वध किया था। कीर्तिवीर्य सहस्रार्जुन शैवोपासक था। पौराणिक साहित्यसे भी यही ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत कालसे शैवोंका प्राबल्य रहा है। प्रान्तमें प्राचीन स्थापत्योंके जितने भी खंडहर हैं, उनमें शैव ही अधिक हैं। मूर्तिकलामें शैव संस्कृतिका स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। सुन्दरसे सुन्दर और विविध भावपूर्ण प्रतिमाएँ उमा-महादेवकी ही मिलती हैं। उनकी आयु कलचुरियोंकी आयुसे ऊपर नहीं जाती। शैव मूर्तियोंके अतिरिक्त शिवचरित्रके पट्ट भी इस ओर उपलब्ध होते हैं।

शैवोंके पाशुपत और अघोरी सम्प्रदाय भी इस ओर थे। जैसा कि तात्कालिक व कुछ पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्यसे सिद्ध होता है। शक्तिमान्यता दक्षिणवर्ती प्रदेशोंमें भी बहुत व्यापक रूपसे था। गुप्तकालीन एक लेख भी उदयगिरिकी गुफामें पाया गया है।[1]

भगवान् शंकरकी तीन प्रकारकी मूर्तियाँ इस ओर मिली हैं। १-शिव-पार्वतीकी संयुक्त बैठी प्रतिमा। २ दोनोंकी खड़ी मूर्ति, जैसी विन्ध्यभूभाग में पाई जाती हैं। ३ बैलपर दोनोंकी सवारी सहित (भेड़ाघाट) शिवलिंग तो सहस्रोंकी संख्यामें उपलब्ध हैं। त्रिपुरी जंगलमें एक जलहरी ६ फीटकी पड़ी है। शैव संस्कृतिकी एक शाखा वामाचारकी मूर्तियाँ भी काफी मिल जाती हैं। कलाकौशलकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ प्रथम कोटिकी ही अधिक मिलती हैं। मैं ऐसी उमरेकर एक प्रतिमाका परिचय देनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता—

सपरिकर उमा-महादेव—(२५"×१५") प्रस्तुत प्रतिमा हल्के रंगको प्रस्तर-शिलापर खुदी हुई है। इसमें उमा और महादेवके चार-चार हाथ हैं। भगवान् शंकरके दायें दोनों हाथ खंडित हैं। बायाँ हाथ पार्वतीकी कमरसे निकलकर दाहिने स्तनको स्पर्श कर रहा है। पार्वतीका दाहिना एक हाथ भगवान्के दायें स्कन्धपर एवं एक ऊपर की ओर धतूरेके पुष्पको पकड़े हुए है। भगवान्के मस्तकका मुकुट खंडित है। कानमें कुण्डल, गलेमें हँसुली एवं माला, हाथोंमें बाजूबन्द, कटिभागमें कटिमेखला एवं चरणमें पैंजन हैं। दाहिना पैर टूट गया है। केवल कमलासनपर पड़ा हुआ कुछ भाग ही बच पाया है। पार्वतीके आभूषण महादेवके समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हाथोंकी चूड़ियाँ एवं माला विशेष है। दोनों गिरिशृंगपर अधिष्ठित बतलाये

---

[1] गुप्तगुप्त लेख स० २२।

हैं। नन्दी निम्न भागमें अपना बायाँ अगला पैर ज़मीनपर टिकाये एवं दूसरा मोड़े हुए बैठा है। मुख शिवकी ओर किये है। थुंथनोका प्रदेश आवश्यकतासे अधिक फूला हुआ है। इसमें उनका आवेश परिलक्षित होता है। तने हुए कान इसकी पुष्टि करते हैं। पार्वतीके मस्तकपर मुकुट है। केशोंका जूड़ा ऊपरकी ओर अर्ध-गोलाकार बना है।

मूर्तिका परिकर कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर एवं नवीन कलात्मक उपकरणोंसे विभूषित है। संगीतकी आन्तरिक भावनाओंका प्रभाव भी स्पष्ट है, क्योंकि निम्न भागमें पाँच आकृतियाँ खींची गई हैं। मुखमुद्रा भक्ति-सिक्त हृदयकी भावनाको साकार किये हुए है। मध्यवर्ती आकृति विशिष्ट व्यक्तित्वका बोध करती है। इनके मस्तकपर किरीट—मुकुट शोभायमान हो रहा है। चरण इतस्ततः फैलाये, हाथमें वीणा लिये हुए हैं। दाहिना हाथ वीणाके निम्न भाग एवं बायें हाथकी अँगुलियाँ तन्तुओंपर फिरती हुई चाञ्चल्य प्रदर्शन कर रही हैं। वादकके मुखपर तल्लीनता-जनित एक-रसताका भाव व्यक्त हो रहा है। मालूम पड़ता है भावविभोर व्यक्तिने अपने आपको क्षणभरके लिए खो दिया हो। अतिरिक्त आकृतियाँ शंख और झाँझ बजा रही हैं। परिकरकी ये विशिष्ट आकृतियाँ न केवल कलाकी एवं भावोंकी दृष्टिसे ही महत्त्वपूर्ण हैं, अपितु तत्कालीन जनजीवनमें विकसित संगीतकलाका भी प्रदर्शन कराती हैं। यों तो शिवजीकी विभिन्न नृत्य-मुद्राओंपर प्रकाश डालनेवाली शिल्प सामग्री महाकोसलमें उपलब्ध हुई हैं। परिकरान्तर्गत संगीत उपकरणयुक्त आकृतियाँ इस प्रथम ही प्रतिमामें दृष्टिगोचर हुई हैं और एक शिल्प मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुआ था, जो इसी निबंधमें आगे दिया जा रहा है। भारतीय संगीतकी अविच्छिन्न धारामें १३ वीं शताब्दी ही परिवर्तन काल माना जाता है। इस युगमें संगीतके उपकरणोंका विकास तो हुआ ही, साथ ही साथ उपकरणोंकी ध्वनिको भी लिपिबद्ध करनेका प्रयास किया

गया[1]। परिकरके बायें भागकी मनुष्याकृतिके एक हाथमें हड्डीके सहारे कंकाल एवं दूसरेमें खप्पर हैं। सम्भव है शिवगणका सदस्य हो। बायाँ भाग खंडित है। हाँ, कटिप्रदेश तक जो आकृति दिखलाई पड़ती है उसके दाहिने हाथमें अंकुश है। प्रभावलीका अंकन एवं नागकन्याएँ आदि आकृतियाँ परिकरके महत्त्वको द्विगुणित कर रही हैं। इसी आकृतिसे मिलती-जुलती दर्जनों शिवमूर्तियाँ उपलब्ध हैं। समान भावनाओंका प्रतीक होते हुए भी कलाकारोंने सामयिक उपकरणोंका जो उपयोग किया है, इससे इन एक भाववाली मूर्तियोंमें न केवल वैविध्यका ही विकास हुआ, अपितु पार्थिव सौन्दर्यका परिपोषण भी हुआ।

१३वीं शतीके बाद भी उपर्युक्त शैवमूर्तियोंको अनुकरण करनेकी चेष्टा की गई है, परन्तु कलाकार सफल नहीं हो सका।

अर्धनारीश्वर एवं पार्वतीकी स्वतंत्र मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। इस प्रकारकी एक शैव मूर्ति मुझे बिलहरीके चमारकी नालीमेंसे निकलवानी पड़ी थी। कुछ शैव मस्तक भी प्राप्त हुए थे। एकका चित्र भी दिया जा रहा है।

गणेश

गणेशकी पचासों कलापूर्ण मूर्तियाँ बिलहरी और त्रिपुरीमें ही, अत्यन्त दयनीय दशामें विद्यमान हैं। इस ओर पाई जानेवाली गणेशकी सभी मूर्तियाँ परिकरयुक्त ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक महत्त्वसे भी इनका कलात्मक महत्त्व अधिक है। बड़ीसे बड़ी ६ फुटतककी मूर्ति मिली है। त्रिपुरीमें गणेशकी नृत्यप्रधान मुद्राका विशेष प्रचार रहा है। शक्ति सहित गणेशकी एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण प्रतिमा मेरे निजी

---

[1] यह प्रयास जैनमुनियोंने शुरू किया था, आचार्य श्री जिनकुशलसूरि प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने ध्वनिको बाँधकर पार्श्वनाथ-स्तुतिकी रचना की।

संग्रहमें[1] है। ऐसी प्रतिमा रीवांके राजमहलमें भी है। प्रसंगतः एक बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि पार्श्व यक्षका मुख्य स्वरूप गणेशसे मिलता-जुलता है। मूल रहस्यको बिना समझे आलोचक पार्श्व यक्षको भी गणेशकी कोटिमें बैठा देता है। ऐसी भद्दी भूलें हुई हैं[2]।

कुबेर

भारतवर्षमें कुबेर धनका अधिष्ठाता माना जाता है और उनकी पत्नी हारीती प्रसवकी अधिष्ठात्री। महाकोसलमें भी कुबेरकी मान्यता प्रचलित थी। अद्यावधि कुबेरकी ३ प्रतिमाएँ मुझे प्राप्त हुई हैं। एक आसवपायी कुबेर भी हैं, जो मद्यपानकी मस्ती सहित उत्कीर्णित हैं। दोनों ओर नारियाँ खड़ी हैं। अन्य दो प्रतिमाएँ सामान्य हैं। तीनों मूर्तियाँ श्याम वर्णके पाषाणपर खुदी हुई हैं।

नवग्रह—नवग्रहके पट्टक पनागर एवं त्रिपुरीमें प्राप्त हुए हैं। पट्टकमें नवग्रहकी खड़ी मूर्तियाँ अंकित हैं। सभीका दाहिना हाथ अभयमुद्रामें एवं

---

[1] इसका शास्त्रीय रूप इस प्रकार है।

श्यामवर्णं तथा शक्तिं धारयन्तं दिगम्बरम्।
उत्सङ्गे विहितां देवीं सर्वाभरणभूषिताम्॥
दिगम्बरां सुवदनां भुजद्वयसमन्विताम्।
विघ्नेश्वरीतिविख्यातां सर्वावयवसुन्दरीम्॥
पाशहस्तां तथा गुह्यं दक्षिणेन करेण तु।
स्पृशन्तीं देवमप्येवं चिन्तयेन्मन्त्रनायकम्॥

(उत्तरकामिकागमे पञ्चचत्वारिंशत्तम पटल)

यह अवतरण मुझे श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार, (गोरखपुर)से प्राप्त हुआ है।

[2] देखिये पृ० १०८–९।

बायें हाथमें कलश ग्रहण किये हुए हैं। उचित आभूषणोंके साथ तूर्णालंकार आवश्यक माना गया है। मूर्तिकला एवं भावोंकी दृष्टिसे इन ग्रहोंकी मूर्तियाँ अध्ययनकी नई दिशाका सूत्रपात करती हैं।

सूर्य—सूर्यकी प्रतिमा इस भू-खण्डपर प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होती हैं। कुछ मूर्तियाँ १२ फुटसे अधिक ऊँची पाई गई हैं। इनकी तुलना गढ़वाकी विशाल सूर्य प्रतिमासे की जा सकती है। ये मूर्तियाँ प्रायः सपरिकर ही हैं। इनकी कलाको देखनेसे ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी पूर्व भी इस ओर निश्चित रूपसे सूर्यपूजाका प्रचार रहा होगा, जिसके फलस्वरूप विशाल मन्दिरोंका भी निर्माण होता रहा होगा। मंदिरकी परम्परा १२ वीं शतीतक प्रचलित थी। यद्यपि महाकोसलमें अद्यावधि स्वतंत्र सूर्य मंदिर उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु १२ वीं शताब्दीका एक चौखटका उपरिम खंड प्राप्त हुआ है, जिसमें सूर्यकी मूर्ति ही प्रधान है। स्वतंत्र भी छोटी-बड़ी दर्जनोंमें सूर्य-मूर्तियाँ पाई गई हैं। इनपर आभूषणोंका इतना बाहुल्य है, कि मूर्तिका स्वतंत्र व्यक्तित्व दब जाता है।

नारीमूर्तियाँ—महाकोसलके कलाकार सापेक्षतः नारीमूर्ति सृजनमें अधिक सफल हुए हैं। नारीमूर्तियोंकी संख्या भी बहुत बड़ी है। सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, गंगा, कल्याणदेवी, स्तंभपरिचारिकाएँ, नृत्य प्रधान मुद्राएँ आदि प्रमुख हैं। इन प्रतिमाओंके निर्माणमें कलाकारने जिस सजगतासे काम लिया है, वह देखते ही बनता है। जहाँतक स्त्रीमूर्तियोंके निर्माणका प्रश्न है, उनमें महाकोसलकी अपनी अमिट छाप परिलक्षित होती है। तात्पर्य कि कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जिनसे दूरसे ही मूर्तिको पहचाना जा सकता है। सबसे बड़ी विशेषता है नारियोंके मुखमण्डलकी रेखाएँ। कलाकारोंने देवीमूर्तियोंमें भी दो भेदोंसे काम लिया है। प्रथम पंक्तिमें वे मूर्तियाँ आ सकती हैं, जिनका निर्माण भावना प्रधान है अर्थात् प्राचीन संभ्रांत परिवारोचित भाव लानेकी चेष्टा की है। ऐसी मूर्तियाँ इस ओर कम पाई जाती हैं। दूसरी कोटिकी वे मूर्तियाँ हैं, जिनके निर्माणके लिए

कलाकारोंने किसी प्राचीन कृतिका अनुकरण न करते हुए, महाकोसलके वायुमण्डलमें पली हुई नारियोंको ही आदर्श मानकर अपनी साधना द्वारा उनके सौन्दर्यको मूर्त रूप दिया है। ये मूर्तियाँ विशुद्ध महाकोसलीय कलाकी ज्योति हैं। कल्याणदेवीकी प्रतिमामें महाकोसलीय नारीका रूप भलीभाँति प्रतिबिम्बित हुआ है। आभूषण एवं केशविन्यास भी विशुद्ध महाकोसलीय ही व्यवहृत हैं। कुछ प्रधान नारीमूर्तियोंका परिचय देना अनुचित न होगा।

सरस्वती—सरस्वतीकी स्वतंत्र मूर्तियाँ इस ओर कम मिली हैं। मेरे संग्रहमें केवल एक ही प्रतिमा है, जो चतुर्भुजी और खड़ी है। मुखमुद्रापर आभ्यन्तरिक चिन्तनकी रेखाएँ स्पष्ट हैं, फिर भी सौन्दर्यका एकदम अभाव नहीं। माला, पुस्तक एवं कमण्डलु क्रमशः धारण किये हुए है। यह प्रतिमा मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुई थी। इस ओरकी मूर्तियोंमें वीणा नहीं पाई जाती। स्वतंत्र मूर्ति न मिलनेका एक यह भी कारण है कि महाकोसलके मंदिरोंके शिखरके गवाक्षमें ही सरस्वतीका समावेश कर दिया जाता था[1]।

गजलक्ष्मी—भारतीय शिल्पकलामें गजलक्ष्मीका प्रतीक बहुत व्यापक रहा। मथुरा आदिमें लक्ष्मीकी सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। महाकोसलके ऐतिहासिक उपादानोंमें गजलक्ष्मीका व्यवहार विशेष रूपसे परिलक्षित होता है। छठवीं एवं सातवीं शताब्दीके ताम्रपत्रोंकी राजमुद्रामें गजलक्ष्मीकी प्रधानता रहती थी। कलचुरि शासकोंके समयतक राजमुद्रामें गजलक्ष्मीकी ही प्रधानता रही। ऐसी स्थितिमें इस भू-भागमें

---

[1]महाकोसलके निकट ही मैहरमें स्वतंत्र शारदापीठ है। यदि कलचुरि कालमें ख्यातिप्राप्त तीर्थ होता तो इनकी भी स्वतंत्र मूर्तियाँ अवश्य बनतीं। विशेषके लिए देखें, इन पंक्तियोंके लेखकका निबन्ध—"कला तीर्थ-मैहर"।

गजलक्ष्मीकी स्वतन्त्र मूर्तिकी उपलब्धि स्वाभाविक है। धार्मिक आर्थिक एवं ऐतिहासिक तीनों दृष्टियोंसे इसका महत्त्व है। जिस गजलक्ष्मीका शब्दचित्र प्रस्तुत किया जा रहा है वह हल्के रक्त प्रस्तरपर उत्कीर्णित है। दुर्भाग्यसे खंडित भी है। परन्तु वाम भाग पूर्ण होनेसे, त्रुटित दक्षिण भागकी कल्पना सहजमें की जा सकती है। दोनों हाथियोंके बीच चतुर्भुजी लक्ष्मी विराजमान है। ऊपरके बायें दायें हाथोंमें नालयुक्त कमल दृष्टिगोचर होते हैं। निम्न दक्षिण हाथकी वस्तु खंडित है। बायें हाथमें कुम्भकलश है। लक्ष्मीके मस्तकपर साधारण मुकुट है। कर्णकुण्डल आवश्यकतासे अधिक बड़े हैं। कलाकी दृष्टिसे यही कहना पड़ेगा कि यह अपरिपक्व शिल्पीकी कृति है। परिकरमें दीर्घकालीन अनुभवका आभास न होते हुए भी साधारण आकर्षक अवश्य है। लक्ष्मीके दोनों ओर हस्ती आलेखित हैं। दोनोंकी कलशयुक्त शुंडि ठीक महालक्ष्मीके मस्तकपर हैं। कलशोंसे महालक्ष्मीका अभिषेक हो रहा है। दक्षिण हाथीका धड़ सर्वथा खंडित हो गया है। वाम भागके समान इस ओर भी एक चँवरधारिणी रही होगी। वाम हाथी पूर्ण है। तदुपरि अंकुश लिये महावत अवस्थित है। किनारेपर चँवरधारिणी खड़ी हुई है। ऊपरका भाग दो आकृतियोंसे विभूषित है। दक्षिण भाग ऐसा ही रहा होगा। सूचित आकृतियोंके मध्यमें अर्थात् दोनों हाथियोंके ठीक ऊपर दो सिंह उत्कीर्णित हैं। पीठपर बालक भी है। सिंहोंका खुदाव सामान्यतः अच्छा ही है। सिंहोंके मुखमें कलाकारने दो ऐसी चीजें दी हैं जो एक दूसरेसे लिपट गई हैं।

गंगा[1]—प्राचीन मन्दिरोंके तोरणद्वारमें गंगायमुनाकी खड़ी मूर्तियाँ

---

[1] गंगाकी मूर्तियोंका उल्लेख "स्कंदपुराण"के काशीखंडके पूर्वार्द्ध अ० १८२ के २७ श्लोकमें आता है।

तिगवाँ, सिरपुर और बिलहरीमें उपलब्ध होती हैं। बैठी मूर्ति यह एक ही मुझेबिलहरीसे एक जैन सज्जन द्वारा प्राप्त हुई है। यह दशम शती बादकी कृति होनी चाहिए—इतः पूर्व यह रूप नहीं मिलता। इस मूर्तिका खुरुव बड़ा और कलापूर्ण है। कलाकारने मूर्तिके आसनके निम्न भागमें नदीका भाव सफलताके साथ अंकित किया है। आगे एक कुम्भ है। गंगा अष्टभुजी है, साड़ी पहने हुए है। इसका परिकर भी सामान्यतः अच्छा ही है, परन्तु खंडित है। केशविन्यास विशुद्ध महाकोसलीय है। मथुरा और लखनऊके संग्रहाध्यक्षोंसे ज्ञात हुआ कि ऐसी मूर्ति उनके पुरातत्त्व संग्रहमें नहीं है।

कल्याण-देवी—जिस प्रकार रोमन शिल्प स्थापत्यकी अपनी विशिष्ट मुखाकृति मान ली गई है और जिसने अब नृतत्त्व शास्त्रमें अपना स्थान पा लिया है, उसी प्रकार इस मूर्तिकी मुखाकृति उपर्युक्त शास्त्रकी दृष्टिसे विशुद्ध भारतीय बल्कि विशुद्ध महाकोसलीय दिख पड़ेगी। कहना चाहिए इस मूर्तिमें महाकोसलीय नारीसौन्दर्य कूट-कूटकर भरा है। क्या मुख-मुद्रा, क्या आँखोंका तनाव और अंग-उपांगोंकी सुघड़ता। इन सभीमें मानो जीवन फूँक दिया है। ओठों और ठुड्डीकी रचनामें कलाकारने जीवन साधनाका जो परिचय दिया है वह अन्यत्र कम प्रतिमाओंमें देखनेको मिलेगा। यह भी सपरिकर है। परिकरके निम्नभागमें सिंह बना हुआ है। देवी चार भुजावाली है। हाथमें धनुषकी प्रत्यञ्चा है। निम्न भागमें बारहवीं शतीकी लिपिमें श्री कल्याणदेवी खुदा है। प्रान्तीय नृतत्त्व शास्त्र एवं उत्कृष्ट मूर्तिविधानकी दृष्टिसे मैं इसे प्रथम मानता हूँ।

उपर्युक्त देवीमूर्तियोंके अतिरिक्त योगिनियोंकी मूर्तियाँ भेड़ाघाटके गोलकीमठमें अवस्थित हैं। ये भी उत्कृष्ट मूर्तिकलाकी साक्षात् मूर्ति हैं। महाकोसलके कलाकारोंका गम्भीर चिन्तन एवं सुललित अंकनका परिचय एक-एक अंगमें परिलक्षित होता है। गढ़ामें भी एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार मूर्तिकलाकी तारिका सम नारी मूर्ति (चतुर्भुजी) विद्यमान

है। इसे भी मैं महाकोसलकी नारीमूर्तियोंमें सर्वोत्कृष्ट मानता हूँ। बड़े ही परितापपूर्वक सूचित करना पड़ रहा है कि इस मूर्तिकी सुरक्षाका कुछ भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। मूर्ति है तो तारादेवीकी परन्तु विस्तृत पूर्णालंकार के कारण जनता इसे मालादेवी कहकर पुकारती है। इस प्रकार नरसिंहपुर, सागर, बिल्हरी तथा पनागरमें अत्यन्त उत्कृष्ट नारीमूर्तियाँ, अपनेसे भिन्न स्वरूपमें मानी जाती हैं, इनमें जैनोंकी अम्बिका तथा चक्रेश्वरी भी सम्मिलित हैं।

परिचारिकाएँ—यों तो परिचारिकाएँ वास्तुकलासे सम्बन्धित हैं। परिचारक एवं परिचारिकाओंकी मूर्तियाँ प्रधानतः परिकरमें ही पाई जाती हैं, स्वतंत्र बहुत कम, यदि स्वतंत्र मिलती भी हैं तो उनका सम्बन्ध मन्दिरके मुख्य द्वारसे ही रहता है। मुझे कुछ परिचारिकाओंकी स्वतंत्र मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, इसलिए मैंने इसका समावेश मूर्तिकलामें कर लिया, सम्भव है ये मंदिरोंके स्तम्भोंसे ही, पूर्व कालमें सम्बद्ध रही होंगी। कारण कि एक दूसरे पत्थरको जोड़नेवाले चिह्न एवं स्तम्भाकृतियाँ बनी हुई हैं। यों तो अन्वेषण करनेपर ऐसी दर्जनों कृतियाँ मिल सकती हैं। मुख्यतः द्विभुजी परिचारिकाओंके हाथोंमें चँवर या पुष्प-मालाएँ रहती हैं। कहीं-कहीं अंजलिबद्ध मुद्राएँ भी देखी गई हैं किन्तु यह अपवाद है। स्तम्भोंपर खुदी हुई नारीमूर्तियाँ कुछ ऐसी भी पाई गई हैं जिनमें भारतीय नारी-जीवनकी सांसारिक वृत्तियाँ सफलतापूर्वक दृष्टिगोचर होती हैं। इनमेंसे कुछेक तो इतनी सुन्दर एवं भावपूर्ण हैं मानो वह स्थितिशील कविता ही हों। नारीजीवनमें भावोंका क्या स्थान है, इसका उत्तर इस प्रकारकी मूर्तियाँ ही दे सकती हैं।

मेरे द्वारा संग्रहीत सामग्रीमें अधिकतर भाग खंडित प्रतिमाओंका है। परन्तु इन खंडित नारी-मूर्तियोंमें महाकोसलके नारी-जीवनके बहुतसे नारी-सुलभ व्यापक भावनाओंका ज्वलन्त चित्रण पाया जाता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन एवं पारस्परिक लोकसंस्कृति, नैतिकता आदि अनेक

सांसारिक विपयोंका सम्यक् परिज्ञान इन्हींके तलस्पर्शी अनुशीलनपर निर्भर है। महाकोसलका सामाजिक इतिहास ऐसे ही टुकड़ोंमें बिखरा हुआ है। सामाजिक चेतनाके परम प्रतीक सम इन अवशेषोंमें कुछ प्रतिमाएँ नर्तकीकी भी हैं, जिनमें आँखोंका तिरछापन एवं अंग-उपांगोंका मोड़ बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। लोचन कटाक्षका एवं Prospective Photographic Art के नमूने चित्तरंजनके साथ उन शिल्पियोंके बहुमुखी ज्ञानकी ओर मन आकृष्ट कर लेते हैं। भारतीय केशविन्यासके विभिन्न रूपोंका अनुभव महाकोसलकी कृतियोंसे ही हो सकता है।

लोकजीवन—शिल्पस्थापत्य कलाके प्रतीक तत्कालीन लोकजीवनकी उपेक्षा नहीं कर सके हैं—कर भी नहीं सकते, यहाँ तक कि लोकोत्तर साधनाके केन्द्रस्थान देवगृहोंतकमें जो भाव उत्कीर्णित करवाये जाते थे, उनमें लौकिक जीवनका भी निर्देश अपेक्षित था। इसी कारण महाकोसलके प्रचीन स्थापत्यावशेषोंके जो प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, उनमें तत्कालीन जनताका आमोद-प्रमोद भी भलीभाँति व्यक्त हुआ है। मानव जीवनमें त्यौहारका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। पुरातन कालमें ऐसे अवसरोंपर नरनारी एकत्र होकर समान भावसे नाच-गान द्वारा त्यौहार मनाते थे। ऐसे शिल्प मेरे संग्रहमें हैं। जो मुझे बिलहरीके जैनमन्दिरके निकटसे प्राप्त हुए थे। इनमें मृदंग, बाँसुरी, भेरी और झाँझ आदि वाद्योंका अंकन है। कुछ-एकमें बाल-सुलभ चेष्टाएँ एवं किसीमें विवाहोपरान्तके दृश्य उकेरे हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार की शिल्प कृतियोंको भाव शिल्प कह सकते हैं। कारण कि इनमें परिस्थिति जन्य सभी रसोंका बहाव देखा जाता है। पुरुप और नारीके शृंगारका उत्कृष्ट रूप मन्दिरकी चौखटोंमें परिलक्षित होता है।

नारीके समान महाकोसलके पुरुष भी केश रचनाके बड़े प्रेमी मालूम पड़ते हैं, क्योंकि कुछ ऐसे अवशेप मिले हैं, जिनमें पुरुषोंका केश-विन्यास

बहुत ही सुन्दर रूपसे गुँथा हुआ पाया गया है, साथमें नारी-सुलभ आभूषण भी। यदि मूँछें और श्मश्रुके चिह्न न होते तो पुरुष एवं नारीका भेद करना कठिन हो जाता। यों तो शंकरका जटाजूट विख्यात है। परन्तु यहाँ की कुछ शैव मूर्तियोंमें शंकरजीका केश-विन्यास भी नारीके समान दृष्टिगोचर होता है। स्त्री और पुरुषोंकी सामूहिक नृत्य-पद्धतिके कारण ही महाकोशलके कतिपय पुरुषोंने इस प्रकारका रूप अपनाया हो तो असंभव नहीं, कारण कि आदिम छत्तिसगढ़ी एवं बिहारके जंगलोंमें बसनेवाले कोल, मुण्डा एवं सन्थाल जातिके पुरुषोंको मैंने स्वयं नारीवत् केशविन्यासके एवं आभूषण पहने देखा है, ये नचैये कहे जाते हैं।

मूर्तिकलामें व्यवहृत आभूषण एवं वस्त्र तथा परिकर, सामयिक अलंकरण, सामाजिक इतिहासकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। सम-सामयिक साहित्यके प्रकाशमें यदि इन कलात्मक अवशेषोंको देखा जाय तो उपर्युक्त पंक्तियोंकी सार्थकताका अनुभव हो सकता है।

७ उपसंहार—

उपर्युक्त पंक्तियोंसे सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्माश्रित मूर्तिकलाके विकासमें महाकोसलका उल्लेखनीय योग रहा है। वर्णित समस्त अवशेष कलचुरिकालीन ही हैं, क्योंकि सभीपर कलिचुरियुगीन मूर्ति-कला एवं तदाश्रित उपकरणोंकी स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। वे शैव होनेके बावजूद भी परमत-सहिष्णु थे। कलचुरिकालीन प्रतिभासंपन्न कलाकारोंकी इन कृतियोंके अध्ययनकी ओर न जाने आजतक विद्वानोंने क्यों ध्यान नहीं दिया। भारतीय शिल्पकला एवं मूर्तिकलासे स्नेह रखनेवाले गवेषक विद्वानोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे एक बार इस प्रान्तमें आकर अनुभव करें। निःसंदेह उनको अपने विषयकी प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी। वे प्रसन्न होंगे। जो छात्र एम० ए० करनेके बाद आचार्यत्व—डाक्टरेट—के लिए विषय खोजते फिरते हैं उनसे भी मेरा अनुरोध है कि यदि वे खंडहरोंपर अपना अन्वेषण प्रारम्भ करें तो उन्हें कई महानिबन्धकी सामग्री प्राप्त हो

जायगी, और इस उपाधि-लोभके बहाने देशकी सांस्कृतिक सम्पत्तिका भी संरक्षण हो जायगा। दुर्भाग्यकी बात है कि स्वतन्त्र भारतकी प्रान्तीय सरकारका ध्यान इन कलात्मक प्रतीकोंकी ओर बिलकुल आकर्षित न हो सका।

जबलपुर,
२६ सितम्बर १९५१
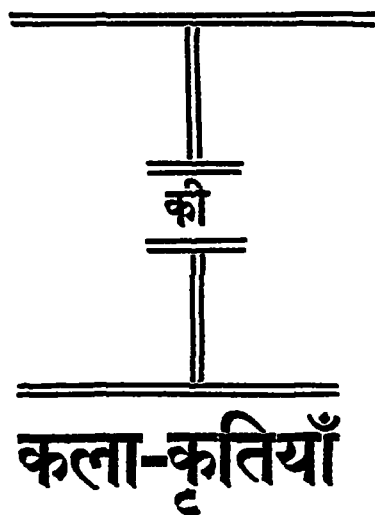
महाकोसल
की
कला-कृतियाँ

चार पगड़ियाँ

महाकोसलका प्रतिभासंपन्न कलाकार जितनी सजगतासे धर्ममूलक कृतियों का सृजन करता था उतनी ही दक्षतासे तत्कालीन जन-जीवनको भी अपने कुशल करों द्वारा प्रस्तरोंपर उत्कीर्णित करनेकी क्षमता रखता था। ऐसे सैकड़ों अवशेष महाकोसलके खंडहर और जंगलोंमें गिरी हुई दशामें पड़े हैं। उनकी ओर आज देखनेवाला कोई नहीं है। जिस समय इनका निर्माण हुआ था, उस कालमें ये ही जनजीवन-उन्नयनके प्रतीक रहे होंगे। भारतीय समाज व्यवस्था और लौकिक जीवनके मौलिक, क्रमिक विकासपर ऐसे ही अवशेष पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। वेशभूषा और आभूषणोंसे हमारी कालमूलक समस्याएँ सुलझ जाती हैं। पारस्परिक कलात्मक प्रभाव का परिज्ञान वेशभूषाके तलस्पर्शी अध्ययनपर निर्भर है। हम यहाँपर इस विषयपर अधिक विवेचन न कर 'इन पंक्तियोंका प्रभाव महाकोसलीय शिल्पमें पायी गयी पगड़ियोंपर कहाँतक पड़ा है, एवं इनके क्रमिक विकास की रेखाएँ शिल्प-कृतियोंमें कहाँ तक पायी जाती हैं, उनपर संस्कृति विशेषका असर कहाँ तक है' आदि कुछ मौलिक प्रश्नोंपर ही विचार करना अभीष्ट है। मूल विषयपर आनेके पूर्व हम इन पगड़ियोंको समझ लें तो अधिक अच्छा होगा।

पहली पगड़ी

१ हम सर्वप्रथम उस 'बस्ट' को लेंगे जो सापेक्षतः व्यक्तिके पूर्ण व्यक्तित्व का आभास दे सकता है। यह बस्ट अनुभवमें पके हुए वयोवृद्ध योद्धाका ही होना चाहिए। गर्दन तथा मस्तकके पास झुर्रियाँ एवं चक्षुकी मुद्रा योद्धाकी वृद्धावस्थाका परिचायक हैं। वक्षस्थल तथा शिरोभागपर, शत्रुकी तलवार से अपनी रक्षा करनेके लिए सुदृढ़ देहत्राण एवं शिरस्त्राण लगाये गये हैं।

लौह पिंजरकी रेखाएँ स्पष्ट हैं। दाढ़ीका जमाव शुद्ध हिन्दू शैलीका है—जैसा बुन्देले वीरोंकी जुझार-मूर्तियोंमें मिलता है। मूछोंकी तरेरमें भी शौर्यकी झाँकी मिलती है। संपूर्ण मुखमुद्रामें अकड़ और अटेंशनके भाव परिलक्षित है। प्रश्न है कि यह सामान्य योद्धा है या सेनाका कोई अधिकारी। इसका निर्णय तो एकाएक करना कठिन है। इसमें तत्कालीन विचारधारा ही हमारी साक्षी हो सकती है। उन दिनों साधारण सैनिकका स्मारक या प्रतिमा बनती हो, ऐसे मतकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः संभवतः कोई उच्च पदाधिकारी होना चाहिए। इसे शासक भी माननेको मन करता है, परन्तु उसमें प्रमुख आपत्ति यह आती है कि उपयुक्त पद-सूचक उदाहरणों का अभाव है।

प्राचीन कालमें प्रमुख वीरोंके स्मारक कहीं-कहीं पाये जाते हैं। यह 'वस्ट' भी उसीका परिणाम है। रही होगी तो कोई मूर्ति ही, पर खण्डित होते-होते 'वस्ट' के रूपमें शेष रह गयी है। न जाने पूर्वकालमें इसने कहाँकी समाधिको सुशोभित किया होगा। इस भू-भागपर भी वीरोंकी समाधियाँ काफ़ी प्राप्त होती हैं। सर्व साधारण जनता नगर के बाहर भागमें पाये जानेवाले वीरोंके स्मारकोंकी अर्चना आज बड़े भक्ति-भावसे करती है। यह भी विस्तृत वीर पूजाका एक प्रतीक ही है। 'वस्ट' में ध्यान आकर्षित करनेवाली वस्तु 'पगड़ी' है। मालूम पड़ता है कि विशुद्ध बुन्देलखंडी पगड़ी है, परन्तु नागकी सीधमें ब्रह्मनागके दो समान भागोंमें विभक्त होती है। विभाजनकी रेखापर ५॥ सलें लंबे रूपमें पड़ी हुई हैं। इन सलोंके दक्षिण वाम पगड़ीकी ओर आठ आठ सलें हैं, जो अब आधा-आधा इंच मोटी हैं। सलें गोल हैं। सैंड-स्टोन का यह बस्ट है। प्रस्तरको घिसते देर नहीं लगती, इसपर कार्य करना भी बड़ा कठिन कार्य है। दीर्घकालीन साधनाके बाद ही संभव है। इसे देखनेके बाद ये शब्द मुँहसे निकलते हैं—"अफ-सोस, यह पूर्ण नहीं है। अकेला 'वस्ट' महाकोसलीय शिरस्त्राण और देह-त्राणके परिचयके साथ योद्धाके वीरत्वका ज्ञान कराता है।

दूसरी पगड़ी

अवशिष्ट तीन पगड़ियाँ 'वस्ट' में नहीं हैं केवल गर्दनमात्र है। उप-'वस्ट' से भिन्न इस गर्दनमें शौर्यका अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, दाढ़ी ठीक ऊपर वैसी ही रही होगी, जैसा कि खण्डित भागोंसे ज्ञात होता है जुल्फें विद्यमान हैं। मूँछोंकी तरेर अवश्य प्रभावोत्पादक है, पर उनमें वीरोचित गुणोंकी छाया नहीं है, केवल औपचारिक शृंगार है। व्यक्ति अभिजात वर्गका प्रतीत होता है। इसकी पगड़ी यद्यपि बैठी हुई है, परन्तु पगड़ियोंके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु उपस्थित करती है। मुकुट और पगड़ीके बीचकी शृंखलाका उत्तम प्रतीक है। यह पगड़ी मस्तकसे तीन इंच ऊँची गयी है। पगड़ीकी लपेटनोंमें कानोंके ऊपरसे प्रारम्भ होकर एक गोरखधंधा-सा बन गया है जैसा कि चित्र संख्या २ से स्पष्ट है। इसमें लपेटनोंकी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ऐसी हैं कि छोरका पता ही नहीं चलता। पगड़ीके नीचे कुल्हा भी पहना जान पड़ता है, मस्तकके बीचों-बीचसे पगड़ी दो खंडोंमें विभक्त है—विभाजन स्थलपर स्त्रियोंके स्वर्ण बिन्देके आभरण जैसी एक तीन फलवाली शिरा लटक रही है—जो कमसे कम राजपूत तो नहीं रख सकता, क्योंकि उसकी विशेषता तो कलंगीको ऊँची रखनेमें ही है। पगड़ी दो भागोंमें विभक्त है तथापि तीन लपेटें बायें और तीन दायें घूमकर लुप्त हो गयी हैं। लपेटोंकी मुटाई ३।४ इंच है। काल-परिचायिका पगड़ीका विशेष महत्त्व है।

तीसरी पगड़ी

तीसरी गर्दनमें भी केवल पगड़ी ही विद्यमान है जो बुन्देलखंडी ढंगकी है। यद्यपि इसका विधान दोनोंसे कुछ भिन्न है तथापि मौलिक अन्तर नहीं है। दाढ़ी इसमें भी है। दोनों ओठ बन्द हैं जिससे व्यक्तिका गांभीर्य परि-लक्षित होता है। ठोढ़ीमें स्वाभाविक कोमलता है। नासिका मूँछोंके ऊपरवाले भागको स्पर्श करती है जिससे उसकी चिन्तनावस्थाका बोध

होता है। साथ ही साथ अधिकार और उत्तरदायित्व सफल-अभिव्यक्त होता है। मुखमुद्रा शालीनता का आभास कराती है। इतने व्यक्तित्वमें पगड़ी तो बेचारी गौण हो जाती है। विशाल ललाटपर कुण्ण लगा है जिसपर लगभग पाँच इंच ऊँची पगड़ी है। यह उपर्युक्त दोनों पगड़ियोंसे भिन्न है। मस्तकके मध्य भागसे कुछ विभिन्न होती है, जिसके फलस्वरूप २॥ इंच मस्तकका भाग खाली ही पड़ा रहता है। दो भागोंमें दो लपेटें ही दृष्टिगोचर होती हैं और इस तरह चारों लपेटोंपरसे उपर्युक्त २॥ इंच रिक्त मस्तकके ऊपरी कोनेसे एक लपेट सारे सिरके चारों ओर जाती है। इस एक लपेटमें ही मुग़ल प्रभाव परिलक्षित होता है यद्यपि मुग़लोंमें तीन-से भी अधिक लपेटें दृष्टिगोचर होती हैं। रूपान्तरसे यह एक समर्थक पा सकता है।

चौथी पगड़ी

चौथी पगड़ीकी गर्दन भी दुर्भाग्यसे पूर्ण प्राप्त नहीं हुई। इसमें चक्षु और पगड़ी ही आकर्षणकी वस्तु है। आँखें इस प्रकार निकली हुई हैं मानो कोई अतीव वृद्ध पुरुष हो। मस्तकपर त्रिपुण्डका चिह्न भी उत्कीर्णित है जो हिन्दुत्वका परिचायक है। मस्तकपर जो पगड़ी है, उसके तीन खंड हैं। यह तीन इंच ऊँची है। लपेटनमें सुघड़ाई चतुराई और 'फ़ैशन' है। तीनों भागोंकी लपेटनोंका जमाव कलात्मक नज़र आता है। मध्य-भागमें मस्तकके बिलकुल ऊपर चार कंगूरेसे हैं, इन सब बारीकियोंको देखकर ऐसा लगता है कि जिस युगमें इस प्रस्तरका निर्माण हुआ होगा उस समय पगड़ी धारण करनेकी शैली पर्याप्त विकसित और कलात्मकताके कई रूप पा चुकी होगी। पगड़ीका ढाँचा शुद्ध बुन्देलखंडी है पर महा-राष्ट्रीय प्रभावसे प्रभावित है।

इस तरह हम देखेंगे कि इन पगड़ियोंके ढंगमें ऐतिहासिक एवं सामा-जिक बनाव सिंगार तथा सांस्कृतिक रहन-सहनकी सामग्री विद्यमान है।

प्रासंगिक रूपसे कह देना उचित जान पड़ता है कि इन पगड़ियोंका निर्माण-काल क्रमशः सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शती है। संख्या १—२ सोलहवीं, ३ सत्रहवीं और ४ अठारहवीं है। ये सभी पगड़ियाँ हमें त्रिपुरी (तेवर) के उन स्थानोंसे प्राप्त हुई हैं जहाँ लोग शौच जाया करते हैं।

अब हम पगड़ियोंकी शैलीके पूर्व रूपोंपर भी साधारण दृष्टिपात कर लें।

पगड़ियोंका मूल स्रोत

भारतीय देव-देवियोंके मस्तकपर मुकुट आवश्यक माना गया है। प्रत्युत वह पूजनका एक अंग भी है। राजाके मस्तकपर राज्य-चिह्नके रूपमें मुकुटको प्राधान्य मिला है। यह प्रथा प्राचीन है। कुछ परिवर्तनके साथ विदेशमें भी इसका समादर है। परिवर्तनप्रियता मानवको एक रूपमें नहीं रहने देती। समयका प्रभाव सभीपर पड़ता है और वह साहित्य एवं कलाके विभिन्न उपकरणों-द्वारा जाना जा सकता है। कलावशेष ही तत्कालीन समाज और संस्कृतिके ज्वलन्त प्रतीक हैं। उनमें इनका प्रति-बिम्ब परिलक्षित होता है। उपर्युक्त पंक्तियोंका प्रभाव हमारी उन पगड़ियों पर कहाँ तक पड़ा है? उनका मूल रूप कैसा था या किस पूर्व रूपका विकास पगड़ियाँ हैं? आदि बातोंपर लिखना भी अनिवार्य है।

यद्यपि भारतवर्षकी पगड़ियोंपर पर्याप्त लिखा जा चुका है, अतः यहाँ पर विशेष विवेचन अपेक्षित नहीं है, परन्तु बुन्देलखंड एवं महाकोसलके कलावशेषोंमें व्यवहृत पगड़ियाँ यहींके पुरातन शिल्प-स्थापत्य एवं मूर्तियोंमें उत्कीर्णित मुकुटोंका विकसित परिवर्तित रूप जान पड़ती हैं और उसपर शैव संस्कृत्याश्रित शिल्पकलाका प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित है। क्योंकि जनजीवनमें शैव प्रभाव था, अतः कलात्मक प्रतीकोंपर भी वही प्रभाव है, चाहे अवशेष जैन हों या बौद्ध।

शिवजीके जटाजूटका अंकन दोनों प्रदेशोंके प्रायः सभी कलोपकरणोंमें हुआ है। हमें तो केवल मुकुटका ही उल्लेख उचित जान पड़ता है। जिसका संबंध पगड़ियोंसे है।

इसी ग्रन्थमें अन्यत्र अवलोकितेश्वरका चित्र प्रकाशित है, उसके मुकुट की रचना-शैलीपर शिवजीके जटाजूटका खूब प्रभाव है। दोनों ओर अर्ध गोलाकार ३-३ रेखाओंवाली ३-३ लड़ें हैं। इसीको मुकुटका रूप दे दिया है। मालूम पड़ता है जटापर गंगाकी धारा प्रवाहित हो रही है। इस शैलीके एकमुखी या चौमुखी शिवलिंग भी बहुतायतसे पाये गये हैं। ऐसी कृतियाँ १२ वीं शतीतककी मिली हैं। इस प्रकारकी रेखाओंमें १२ वीं शतीके बाद परिवर्तन होने लगा, अर्थात् दोनों ओरकी रेखाओंके ऊपर भी एक गोलाकार रेखा मँड़ने लगी जो आजू-बाजूकी अर्ध-गोलाकार रेखाओंको कड़ीके समान पकड़े हुए था। ऐसे तीनसे अधिक मस्तक हमारे संग्रहमें हैं। कुछ ऐसे भी मुकुट हैं, जिनकी रेखाओंमेंसे जलबूँदें टपकती रहती हैं। ये गंगावतरणका आभास देती हैं। इसी समयका एक मस्तक ऐसा भी है, जिसपर रेखाएँ बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी हैं। छोरका पता नहीं। यह सब शैव प्रभाव है। इसी प्रकार क्रमशः मुकुटोंकी सृजन शैलीमें परिवर्तन होने लगा। वह परिवर्तन १४वीं शतीके अवशेषोंमें पगड़ियोंके रूपमें बदल गया, जैसा कि संख्या २ वाले चित्रसे स्पष्ट है। यद्यपि इनमें सामयिक मौलिकता है, परन्तु प्राचीन शिल्प-कृतियोंका अनुसरण स्पष्ट है। मुकुटमें मध्य भाग साधारण रहता था और दोनों ओरकी रेखाएँ सुन्दर रहा करती थीं, पर बादमें जब पगड़ियोंके रूपमें परिवर्तन हुआ तब मध्य भाग काफ़ी ऊँचा उठा दिया गया और उसे कसनेके लिए २,२ रेखाएँ दोनों ओर उड़ने लगीं जैसा कि 'बस्ट' संख्या १में देख सकते हैं। अतः मुकुटोंके मूलमें ही पगड़ियोंका आदि स्रोत है। मुग़लोंके बाद पगड़ियोंमें काफ़ी परिवर्तन हुआ। परन्तु बुन्देलखण्ड और महाकोसलकी पगड़ियाँ हिन्दू शैलीका रूप हैं। बल्कि वह संस्कृतिजन्य धार्मिक परम्पराका विस्तृत प्रतीक है। यद्यपि यह हमारी कल्पना है, पर

इसके समर्थनमें हमारे पास काफ़ी प्रमाण है। महाकोसल और बुन्देलखंड भले ही आजकी विभाजित सीमाके कारण पृथक् प्रान्त हों पर जिन दिनों कलात्मक आदान-प्रदान किया जा रहा था उन दिनों सीमा-रेखाएँ कलात्मक दृष्टिसे उतनी विभक्त न थीं।

जबलपुर

२ जुलाई १९५१

श्रमण-संस्कृति

और

सौन्दर्य

श्रमण-संस्कृतिका साध्य मोक्ष रहा है, अतः उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी निवृत्तिमूलक ही होती हैं। श्रमण संस्कृतिकी आयु बड़ी है, इतिहास की सीमासे परे है। मानवताका इतिहास ही इसका इतिहास है। यह संस्कृति वर्ग विशेषकी न होकर प्राणिमात्रके प्रति समान भाव रखती है। यही उसका परम धर्म है। मानवकी स्वार्थ-प्रसूत भावनाओंको इसमें स्थान नहीं है, स्वयं व्यक्ति ही अपने लिए उत्तरदायी है। उसके उत्थान-पतनमें कोई साधक-बाधक नहीं है। श्रमण-संस्कृतिका क्षेत्र मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है, प्राणिमात्रकी भलाई इसमें सन्निहित है। सत्य और सुन्दर द्वारा शिवत्वकी ओर प्रेरित करती है। तात्पर्य कि अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिकी ओर ही इसका झुकाव है। वह चिरस्थायी जगत्‌की ओर ही आकृष्ट हो सकती है। उसका दृष्टिबिन्दु अन्तर जगत् है, बाह्य प्रवृत्तियाँ भी अन्तर्मुखी ही होती हैं। श्रमण, विशुद्ध आध्यात्मिक संस्कृतिके, प्रोत्साहक होते हुए भी, समाज-मूलक प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा नहीं करते थे, हाँ, व्यक्तित्वके विकासका जहाँतक प्रश्न है वह अवश्य कहता है—सर्वथा एकांगी जीवन ही श्रेयस्कर हो सकता है। आत्माकी शक्ति जब पूर्ण विकसित होगी, तब वह स्वकल्याणके साथ-साथ समाजका भी व्यवस्थित गठनकर कर्तव्य मार्गकी ओर उत्प्रेरित करेगा।

श्रमण-संस्कृति अपनी स्थिति बनाये रखनेके लिए आचारको महत्त्व देती हुई सक्रिय सम्यक् ज्ञानको उद्देश्य सिद्धिका मुख्य कारण मानती है। व्यक्तिका अन्तर्मुखी एवं व्यवस्थित जीवन ही सामाजिक शान्तिका कारण है, कृत्रिम उपाय चिरशान्ति स्थापित नहीं कर सकते। अहिंसा और अपरिग्रह ही विश्वशान्तिके जनक हैं। इसीके अभावके कारण विश्वमें अशान्तिका खुलेआम नग्न नृत्य हो रहा है। अशान्तिकी ज्वालामें वे राष्ट्र जल रहे हैं, जो सभ्यताको अपनी बपौती सम्पत्ति माने हुए हैं। अप्राकृतिक शान्ति स्वरूप राष्ट्रसंघ-जैसी संस्थाओंका जन्म हुआ, जो लिप्सा और स्वार्थ-

परायणताके कारण भौतिक शान्ति स्थापनमें भी असफल साबित हो रही हैं। राजनीति अस्थायी तत्त्व है। इसके द्वारा स्थायी शान्तिकी कल्पना करनेमें तनिक भी बुद्धिमानी नहीं है। वाह्य साधन आंशिक रूपमें परिस्थितिवश, भले ही शान्ति स्थापित कर सकें, पर वह टिकाऊ न होगी। श्रमण-संस्कृतिके मौलिक तत्त्व ही विश्व-अशान्तिकी ज्वालाको नष्टकर मानव-मानव में ही नहीं अपितु प्राणिमात्रके प्रति समभावकी भावना बढ़ा सकते हैं। श्रमणसंस्कृति क्रान्तिकारी परिवर्तनोंमें शुरूसे विश्वास करती आई है—बशर्ते कि वह अहिंसामूलक हों।

श्रमण-संस्कृति आध्यात्मिक सौन्दर्यमें निष्ठा रखती है। तदुन्मुखी आन्तरिक सौन्दर्यको वाह्य उपादानों-द्वारा मूर्त्तरूप देनेमें भी सचेष्ट रही है। भौतिक जीवनको ही अन्तिम साध्य माननेवाले एकांगी कलाकारोंने इस आन्तरिक सौन्दर्यके तत्त्वको आत्मसात् किये बिना ही घोषित कर डाला कि 'श्रमण-संस्कृतिका एकान्त पारलौकिक चिन्तन ऐहलौकिक जीवनका सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है, अर्थात् कला-द्वारा सौन्दर्य-बोधकी ओर वह उदासीन है। वह मानती है—सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं। एक दूसरेको प्रभावित नहीं कर सकता तो फिर पार्थिव आवश्यकतामें जन्म लेनेवाली कला और उसके द्वारा प्राप्य सौन्दर्य-बोधकी परम्परा इसमें कैसे पनप सकती है?' इस प्रकारकी विचारधारा भिन्न-भिन्न शब्दोंमें प्रायः व्यक्त होती रहती है; परन्तु मैं सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि उपर्युक्त विचारोंकी पृष्ठभूमि ज्ञानशून्य व अचिन्तनात्मक है। न मूलवस्तुके विविध स्वरूपोंको समझनेकी चेष्टा ही नज़र आती है, न ऐसे विचारवालोंके पास कलाका मापदण्ड ही है। ये केवल दूषित और साम्प्रदायिक प्रकाशमें ही श्रमण-संस्कृतिके अन्तः एवं वाह्य रूपको देखते हैं। उपर्युक्त विचारोंको लक्ष्यमें रखते हुए श्रमण-संस्कृतिके वाह्य रूपमें जो कलातत्त्व एवं सौन्दर्य बोध परिलक्षित होते हैं उनपर विचार करना अभीष्ट है एवं श्रमण-संस्कृति द्वारा गृहीत कलात्मक उपादानोंकी ओर भी संकेत करना है। यद्यपि मेरा लक्ष्य केवल भौतिक

प्रकाशमें ही आध्यात्मिकताको देखनेका नहीं है, पर जहाँतक सौन्दर्य एवं रसबोधका प्रश्न है, इसे उपेक्षित भी नहीं रखा जा सकता।

श्रमण-संस्कृतिके इतिहास और साहित्यानुशीलनसे ज्ञात होता है कि इसके कलाकार अदृश्य जगत्की साधनामें अनुरक्त रहनेके बावजूद भी दृश्य जगत्के प्रति पूर्णतः उदासीन नहीं हैं। उनका प्रकृतिप्रेम विख्यात है अतः द्रव्यान्तर्गत प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर औदासीन्य भाव रह ही कैसे सकते हैं। सफल कलाकारोंने केवल आन्तरिक चेतनाको उद्बुद्ध करनेवाले विचारोंकी सृष्टि की, न केवल अन्तःसौन्दर्यको मूर्त्तिरूप ही दिया अपितु एतद्विषयक तत्कालीन सौंदर्य-परम्पराके सिद्धांतोंका गुम्फनकर मानव समाजको ऐसी सुलझी हुई दृष्टि दी कि किसी भी पार्थिव वस्तुमें वह सौंदर्य बोध कर सके और उन्होंने सौंदर्यके बाह्य उपादानोंसे प्रेरणा लेनेकी अपेक्षा अन्तःसौंदर्यको उद्दीपित कर तदनुकूल दृष्टि विकासपर अधिक ज़ोर दिया। बाह्य सौंदर्याश्रित जीवन स्वावलम्बी न होकर पूर्णतः परावलम्बी होता है, जब अन्तःसौंदर्याश्रित जीवन न केवल स्वावलम्बी ही होता है बल्कि भावी चिन्तकोंके लिए अन्तर्मुखी सौन्दर्यदर्शनकी सुदृढ़ परम्पराका सूत्रपात भी करता है। सौंदर्य आत्मामें है, जो शाश्वत है। यही सौंदर्य शिवत्वका उद्बोधक है। कहना न होगा कि कला ही आत्माका प्रकाश है। इसकी ज्योतिसे चाञ्चल्यभाव स्वतः नष्ट होकर शिवत्वकी प्राप्ति होती है।

भारतीय कलाके इतिहाससे स्पष्ट है कि कलाने धर्मकी प्रतिष्ठामें महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कला मानवोन्नायिका है, जिसमें मानवता है, अपूर्णता मानवको पूर्णताकी ओर संकेत करती है। वर्गसाँने ठीक ही कहा है कि हमारे पुरुषकी कर्मचंचल शक्तियोंको सुला देना ही कलाका लक्ष्य है (To put to sleep the active powers of our personality) यह स्थिति आत्मानन्दकी है। यथा—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कला क्या है ?

कला शब्दका व्यवहार आजकल इतना व्यापक हो गया है कि असुन्दर वस्तु एवं अकृत्योंके साथ भी जुड़ गया है। कविताकी भाँति कलाको भी व्याख्याके द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सौन्दर्य और कलाका क्षेत्र असीम है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें कला और सौन्दर्यका बोध न होता हो। कोई भी वस्तु न सुन्दर है और न असुन्दर ही। दोनों भाव-निरीक्षककी रसानुभूतिपर अवलम्बित हैं। प्रत्येक व्यक्तिका दृष्टिकोण अपना होता है। जो वस्तु एककी दृष्टिसे सुन्दर है वही दूसरेकी दृष्टिमें निन्द्य हो सकती है। श्रमण-संस्कृतिने कला और सौन्दर्यके दार्शनिक सिद्धांतोंको अनेकान्तवादके प्रकाशमें देखा है जो वस्तुमात्रको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखनेकी शक्ति और शिक्षा देता है। कलाके जितने भेद-प्रभेद हैं, उन सभीका समन्वय अनेकान्तवादमें सन्निहित है।

उपकरणाश्रित सौंदर्य क्षणिक है, आत्मस्थ स्थायी। ऐसी स्थितिमें सहज ही प्रश्न उठता है कि आखिरमें कला कहते किसे हैं ? निश्चित परिभाषाके अभावमें भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि अन्तरके रसपूर्ण अमूर्त्त भावोंको बाह्य उपादान द्वारा मूर्त्त रूप देना ही कला है, मानव हृदयकी सूक्ष्म रसानुभूतिकी संतान ही कला है, सत्यकी अभिव्यक्ति ही कला है। इससे भी अधिक व्यापक अर्थमें कहा जाय तो जिसके द्वारा सौंदर्यका अनुभव तथा प्रकाश किया जा सके, वही कला है, जो हमारे हृदयकी कोमलतन्त्रियोंको झंकृत कर सके वही कला है। इन शब्दावलियोंसे सिद्ध है कि पार्थिव-आवश्यकताओंके भीतर ही कलाका जन्म होता है अर्थात् पुद्गल द्रव्यमें ही कलाका बोध हो सकता है क्योंकि वही मूर्त्त है। कला सौन्दर्यकी अपेक्षा करती है। औस्कर वाइल्डने कहा है कि जिसके साथ हमारे प्रयोजनगत कोई संबंध नहीं है वही सुन्दर है। कला सौन्दर्य-रसका कन्द है।

सौंदर्य और कला भिन्न होते हुए भी दोनोंमें परस्पर इतनी निकटता

है कि उसे भिन्न नहीं किया जा सकता, कलामें ही सौन्दर्य-बोध होता है और सौन्दर्य कलामें व्याप्त रहता है। किसी भी वस्तुको कला और सौन्दर्यसे सँजोकर नयन-प्रिय बनाया जा सकता है, परन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि आनन्दसे सौंदर्यका संबंध है। सौंदर्यबोध यद्यपि इन्द्रियजन्य होता है परन्तु इंद्रिय द्वारा ग्राह्य सौंदर्य क्षणिक होता है। सौंदर्य वस्तुतः हृदयमें रहता है। रसानुभूति द्वारा ही वस्तुको देखा जाता है। श्रमण संस्कृति इंद्रिय-संभूत आनन्दको सौंदर्यका कारण नहीं मानती। इन्द्रियाँ नाशवान् हैं और सौंदर्य अतीन्द्रिय। अतः शिवत्वकी प्राप्तिके लिए सौंदर्य ही पर्याप्त नहीं, कारण कि सौंदर्यसे ज्ञान नहीं मिलता, केवल संतोष ही मिलता है। सौंदर्यकी यह स्थिति तो इंद्रियजन्य ही रही। 'सत्य' से ही ज्ञानप्राप्ति होती है। 'सुन्दर' से सन्तोष। श्रमण-संस्कृतिका संतोष निवृत्तिमूलक है। इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्य सौंदर्य द्वारा शिवत्वकी प्राप्ति संभव है जैसा कि पहले लिख चुका हूँ कि सत्यके द्वारा ही शिवत्वका मार्ग पकड़ा जाता है। जहाँ तक तथ्योंका प्रश्न है सौंदर्य भी उपेक्षणीय नहीं।

जिस मनुष्यके हृदयमें जितनी भी रसानुभूतिकी पूर्णता होगी, उसे उतना ही सौंदर्य-बोध होगा, क्योंकि अभिनवगुप्तने काव्यशक्तिकी तरह रसज्ञताको भी एक दैवी वरदान माना है। इससे स्पष्ट है कि कलामें सबको समान भावसे सौंदर्य बोध नहीं होता। जिसमें अनुभूति होगी वही इसका मर्मज्ञान कर सकेगा। इसीलिए कला सर्वसाधारणकी वस्तु नहीं बन सकती, कलामें स्वभावतः कल्पना-बाहुल्य है। कलाका सम्बन्ध मनसे न होकर हृदयसे है। वही सौंदर्यानुभूतिका शाश्वत स्थान है। कला हृदयकी वस्तु होनेके बावजूद भी उसके चिन्त्य अनेक हैं। यही चिंत्य वस्तु तत्वके सत्य और मिथ्याके भेदोंका रहस्योद्घाटन करते हैं। कला तथ्यतक पहुँचा सकती है; सत्य तक नहीं। श्रमणोंने कलामें सत्यकी प्रतिष्ठा की। वे कलामें तथ्य नहीं खोजते। सत्यकी गवेषणा करते हैं। तथ्य वस्तुमें होता है, सत्य प्राणमें।

आनन्द

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने ठीक ही कहा है—

"जहाँ हमें सत्यकी उपलब्धि होती है, वहीं हमें आनन्दकी प्राप्ति होती है। जहाँ हमें सत्यकी संपूर्णतया प्राप्ति नहीं होती वहाँ आनन्दका अनुभव नहीं होता।"

"साहित्य" पृष्ठ ५३।

सत्याश्रित आनन्द ही स्वाभाविक होता है। पार्थिव आनन्द क्षणिक होता है। आत्मानन्द अमर है। इसी ओर श्रमण-संस्कृतिका संकेत है। इसकी प्राप्तिके लिए दीर्घकालीन साधना अपेक्षित है। श्रमण-जैन-मूर्तियोंका जीवन इस साधनाका प्रतीक है। इतिहास और परम्परासे भी यही प्रतीत होता है। आत्मस्थ सौंदर्य और आनन्दकी प्राप्ति सर्व साधारणके लिए सुगम नहीं। निःसंकोचभावसे मुझे स्वीकार करना चाहिए कि सत्य और सच्चे सौन्दर्यकी अखंड परम्परा ही श्रमण संस्कृतिकी आधारशिला है। इसीलिए तदाश्रित कलामें निरपेक्ष आनन्दकी अनुभूति होती है। वह आनन्द न तो कल्पनामूलक है और न वैयक्तिक ही। अरस्तूने कहा है "जिस आनन्द से समाजको उपकार न पहुँचे वह उच्चादर्शका आनन्द नहीं।" काण्ट, हेगेल आदि जर्मन दार्शनिकोंने कलासम्भूत आनन्दको निरपेक्ष आनन्द कहा है। इन पंक्तियोंसे ध्वनित होता है कि कलात्मक उपकरणोंसे उच्चकोटिका आनन्द उसी अवस्थामें प्राप्त किया जा सकता है, जब जीवन सत्यके सिद्धांतोंसे ओतप्रोत हो, वाणी और वर्तनमें सामंजस्य हो। अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिके समुचित विकासपर ही अत्युच्च आनन्दकी प्राप्ति अवलंबित है। भारतीय दर्शन भी इसीका समर्थन करते हैं। भारतीय चित्र, शिल्प और काव्य भी ऐसे ही सत्याश्रित आनन्दसे भरे पड़े हैं। मानव समाजके सम्मुख भारतीय मुनियोंने सामयिक परिस्थित्यनुसार उपयुक्त विचारोंको रखा है। नैतिकताकी परम्पराका और सामाजिक परिवर्त्तनोंका इतिहास इन पंक्तियोंकी सार्थकता सिद्ध कर रहा है।

जहाँ आनन्दका प्रश्न है वहाँ रस भी उपेक्षणीय नहीं। मानव जातिके उत्थान-पतनमें रसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। परिस्थिति का सृजन बहुत कुछ अंशोंमें रसपर ही अवलम्बित है। इसके द्वारा अनुभूति होती है। वह सुखात्मिका है या दुःखात्मिका, यह जटिल प्रश्न है। प्राचीन और सापेक्षतः अर्वाचीन समालोचकोंमें एतद्विषयक मतद्वैध है। उनकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं जान पड़ती।

श्रमण-संस्कृति मानती है कि संसारकी कोई भी वस्तु एकान्त नित्य नहीं है न अनित्य। इसी प्रकार यहाँ कहना पड़ेगा कि विश्वकी कोई भी वस्तु न तो सुरूप है और न कुरूप ही। प्रत्येक वस्तुमें रस है, सौन्दर्य है और आनन्द देनेकी शक्ति है। तात्पर्य, जगत्के प्रत्येक पदार्थमें रस उत्पन्न करनेकी क्षमता है। भिन्न पदार्थोंमें आनन्ददायक योग्यता भी है। परन्तु सर्वसाधारण जनताके लिए सम्भव नहीं कि वह लाभान्वित हो सके। एतदर्थ तदनुकूल रसवृत्ति आवश्यक है। प्रकृति और सौन्दर्यके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंसे अपरिचित हृदयहीन सामान्य वस्तुमें आनन्दानुभव कैसे कर सकता है? वह किसी सुन्दर कृतिको या वस्तुको देखकर क्षणभर प्रसन्न हो सकता है, पर मार्मिकतासे वंचित रह जाता है, वस्तुके अन्तस्तलतक पहुँचने के लिए एक विशेष दृष्टिकी अपेक्षा है। बहुतोंने अपने जीवनमें अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कलाकारकी दृष्टि जनताकी दृष्टिमें सुन्दर जँचनेवाली चीजपर बिल्कुल नहीं ठहरती और तद्द्वारा उपेक्षित कलाकृतिपर आकृष्ट हो जाती है—वह तल्लीन हो जाता है अपने आपको खो बैठता है। इससे स्पष्ट है, सुन्दर असुन्दर व्यक्तिके दृष्टिकोण-रसवृत्तिपर निर्भर है। बहुतसे कलाकारोंमें मैंने स्वयं देखा है कि वे घंटोंतक आकाशमें विचरनेवाले बादलोंकी ओर झाँकते रहते हैं। सरोवर और समुद्रमें उठनेवाली लहरोंके अवलोकनमें ही अपने आपको विस्मृत कर देते हैं, वनमें प्रकृतिकी गोदमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हैं। मैं स्वयं किसी प्राचीन खंडहरमें जाता हूँ तो मुझे वहाँके एक-एक कणमें आनन्दरसकी धारा बहती दीखती है और

उस समय मेरी मानसिक विचार-धाराका वेग इतना बढ़ जाता है कि उसे लिपि द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। खंडित प्रतिमाका अंश घंटोंतक दृष्टिको हटने ही नहीं देता। उत्तर स्पष्ट है।

सौंदर्य और आनन्दकी अनुभूति वैयक्तिक तादात्म्यपर अवलंबित है। किसी संग्रहालयमें जानेपर, सुन्दर कृति देखते ही नेत्र उसपर चिपक-से जाते हैं, तब स्वाभाविक आनन्द आता है। यदि द्रष्टाके मनमें उस समय उसपर अधिकार करनेकी भावना जग उठे तो वह आनन्द तुरन्त विषादके रूपमें बदल जायगा। भौतिक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वभिन्न वस्तुमें ही आनन्द आता है। अधिकारकी भावना न केवल अनधिकार चेष्टा ही है, पर उससे रस भी भंग हो जाता है। श्रमण-संस्कृतिने पार्थिव आनन्दको विशेष महत्त्व नहीं दिया। वह तो निमित्त मात्र है, वह भी आत्मिक विकासकी अमुक सीमातक। *सच्चा आनन्द तो आत्मामें है। उसपर लगे हुए परदे ज्यों-ज्यों* हटते जायँगे त्यों-त्यों अपूर्व आनन्दका बोध होता जायगा। यह आनन्द निर्विकल्प है। योगी लोग इसका अनुभव करते हैं। सविकल्प द्रव्याश्रित आनन्द रस-वृत्तिका निर्माण अवश्य करता है, परन्तु साधनको साध्य मानकर उलझ जाना उचित नहीं। वर्तमान श्रमण-संस्कृतिके अनुयायी साध्यकी ओर पूर्णतः उदासीन हैं, साधनोंकी प्रभामें ही चौंधिया गये हैं। अवास्तविकतासे बचनेमें सम्पूर्ण शक्तिका व्यय करना तो उचित ही है, पर इससे वास्तविकताको भूलनेमें औचित्य नहीं है।

विश्वमें जितने प्रकारके आनन्द दृष्टिगत हुए, उनको समालोचकोंने *आत्मानन्द, रसानन्द और विषयानन्दमें समावेश कर लिया। सर्वोच्च स्थान* आत्मानन्द-ब्रह्मानन्दका है। इसीके द्वारा अन्य आनन्दोंकी अनुभूति होती है एतस्यैव आनन्दस्य अन्य आनन्दा मात्रामुपजीवन्ति। विषयानन्द लौकिक और रसानन्द अलौकिक है। आत्मानन्द वर्णनातीत है क्योंकि इसका माध्यम दूसरा है। अपार्थिव सौंदर्यकी अनुभूति इसीसे होती है। इसका पूर्णतया परिपाक इसीमें सन्निहित है। श्रमण-संस्कृतिका आकर्षण इसी ओर रहा है।

संस्कृतके समालोचकोंने पर्याप्त विवादके बाद आनन्दको ही परमरस—आनन्दः परमो रसः मान लिया है। पंडितराज जगन्नाथने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' में इसका सूक्ष्म गंभीर एवं मार्मिक विवेचन किया है। मुझे इतना स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्राकृतिक सौंदर्यजनित आनन्द कलाजनित आनन्दसे भिन्न कोटिका होता है। यह भिन्नत्व अनुभवगम्य है, विश्लेषणका विषय नहीं।

ललित कला, शिल्प, चित्र, नृत्य, काव्य और संगीतादि कलाओंका एकमात्र उद्देश्य है रस-सृष्टि। प्राकृतिक वस्तुके गंभीर निरीक्षणसे कलाकारके मनमें अनुभूतिका उदय होता है और भावोत्पत्ति भी। भावनाके साथ कल्पनाका सम्मिश्रण कर कलाकार सौंदर्य सृष्टि करनेको प्रवृत्त होता है, उसके कृतकार्य होनेपर द्रष्टाके हृदयमें आनन्द उत्पन्न होता है। यही रस-सृष्टि है। संपूर्ण भारतवर्षमें इस सृष्टिके बहुसंख्यक प्रतीक उपलब्ध हैं। विश्वकविने कहा है "*मनुष्य अपने काव्योंमें, चित्रोंमें, शिल्पमें सौन्दर्य प्रकाशित कर रहा है।*"[1] इस पंक्तिसे स्पष्ट है कि भाव—जो आनन्दका जनक है—के व्यक्तीकरणके कई माध्यम हैं—भाषा, तूलिका और छैनी। उपादानोंमें भी बाहुल्य है। मौलिक एकतामें पारस्परिक पर्याप्त साम्य है। मैं शिल्पी, कवि और चित्रकारका भिन्न-भिन्न उल्लेख उचित नहीं समझता। कलाकार शब्द इतना व्यापक है कि इसमें सभी भावप्रधान जीवन-यापन करनेवालोंका अन्तर्भाव हो जाता है। भावजगत्के प्राणियोंका मानसिक धरातल कितना उच्च और परिष्कृत होता होगा, यह तो विभिन्न कृतियोंके तलस्पर्शी निरीक्षणसे ही जान सकते हैं। कलाकारका युगके प्रति महान् दायित्व है। पर अद्यतन राजनीतिके युगमें कलाकारोंकी जो उपेक्षा हो रही है, वह श्रेयस्कर नहीं है। राजनीतिज्ञका जीवन अस्थिर है जब कलाकारका जीवन अविचल है, सार्वकालिक है, सत्याश्रित है।

---

[1] साहित्य, पृष्ठ ५३।

इस प्रसंगपर एक बातको स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि अभीतक हमने भारतीय आदर्श और परम्पराकी सीमाका ध्यान रखते हुए इसका विवेचन किया है, पर आजके प्रगतिशील युगमें सीमोल्लंघन अनिवार्य-सा हो गया है। कारण कि जिन दिनों उपर्युक्त मतोंकी सृष्टि हुई उन दिनोंका सामाजिक वातावरण और राजनैतिक परिस्थितियाँ तथा सोचनेका दृष्टिकोण आजसे भिन्न थे, अतः आजके युगानुसार उनका विश्लेषण नितांत वांछनीय है। आज परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। समाजका ढाँचा परिवर्तित हो गया है; और जनताकी वैचारिक स्थितिमें, सापेक्षतः काफ़ी परिवर्तन हो गया है; अतः सामयिक समस्यानुसार स्थायी वस्तुका मूल्यांकन अपेक्षित है। परिवर्तनप्रिय राष्ट्र ही आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सकता है। एक समय था जब भारतीय संस्कृतिका आधार साम्राज्यवाद था, पर आज जनताका राज्य है। प्रजातन्त्रका सक्रिय समर्थन करनेवाली संस्कृति ही आजकी उपयोगिता को समझकर, नवजीवनका संचार कर सकती है।

प्रसंगतः कहना होगा कि कला प्रयोगात्मक है और सौन्दर्य स्वाभाविक। उपर्युक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट है कलामें कल्पनाबाहुल्य है। कल्पना मानसिक चित्रोंकी परम्परा है। कलाकारकी कल्पनामें मानसिक चित्रोंको सुव्यवस्थित करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, कल्पनाका उद्देश्य केवल सौन्दर्य-सृजन ही है। अतः वह सोद्देश्य है। इससे कोई यह मत न बना ले कि जो कल्पना-प्रसूत है वही सुन्दर है। क्योंकि शिल्पीकी कल्पनामें यदि दौर्बल्य होगा तो वह विपथगामी भी बन सकता है। ऐसा देखा भी गया है। बहुसंख्यक ऐसे कलाकार भी मिल सकते हैं, जो समाज या किसीके द्वारा समादृत नहीं हुए। इसमें कलाको दोष नहीं दिया जा सकता। कलाकारकी कल्पना भी सप्रमाण और पूर्णत्वको लिये हुए होनी चाहिए। इसीलिए तो कलाके समीक्षकोंने सुनियन्त्रित कल्पनाओंकी सन्तानको कला कहा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कलाकार आत्मस्थ भावोंको, आनन्दोन्मत्त होकर पार्थिव उपादानों द्वारा व्यक्त करता है, यहाँपर यह भी

न भूलना चाहिए कि कलाकारका आनन्द सामान्य आनन्दसे सर्वथा भिन्न होता है ? यद्यपि कलाकार प्रफुल्लित सौंदर्यकी अनुभूतिको व्यक्त करनेका प्रयास करता है, परन्तु कलामें पूर्णतया प्रकृतिका अनुकरण संभव नहीं, कारण कि दोनोंकी कायाओंके उपादानोंमें पर्याप्त भिन्नत्व है। कलाओंके रूप रसोद्दीपन कर सकते हैं, पर प्रकृतिको साकार नहीं। कलाकारकी प्रकृति व्याप्त-सौंदर्यकी रूपदानकी चेष्टा है। वह भाव-जगत्का प्राणी है—जिसका क्षेत्र असीम है। अतएव वह उसे ससीम कैसे कर सकता है ? उसके बूतेके बाहरकी बात है। फिर भी कलाका रूप रसोद्दीपन तो करता ही है। हमें यहाँ इतना भी अभीष्ट है। श्रमण-संस्कृतिने इसीलिए इस रूप-दानको भी महत्त्वका स्थान दिया है। रसके द्वारा आत्मस्थ सौंदर्यको उद्बुद्ध करनेका इसमें स्पष्ट प्रयास है। पर वह रस आत्मपरक है। जैन शिल्पकलाका उद्देश्य यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है। परम वीतराग परमात्माकी समुचित आकृतिको तो कलाकार खड़ी कर ही नहीं सकता पर फिर भी प्रतीकसे उनकी महानताका बोध तो हो ही जाता है। उनकी मुख-मुद्रासे सौम्य भावोंकी कल्पना हो आती है। शरीर-विन्यास और भाव-भंगिमापर कौन मुग्ध न होगा। श्रमण-संस्कृत्याश्रित कलाके सभी विभागों-पर यह सिद्धान्त पूर्णतया चरितार्थ हो जाता है। श्रमणोंने इसी सिद्धांतके द्वारा सौंदर्य उपासना दिल खोलकर की, पर इस उपादानाश्रित सौंदर्य-परम्पराको उन्होंने साधन माना, न कि साध्य। पर समाज इस बातको भूल चुका, फलतः इतना संकीर्ण हो गया कि वह कला तककी उपेक्षा करने लगा।

सौंदर्य

पूर्व पंक्तियोंमें कहा गया है कि कला सौंदर्यकी अपेक्षा रखती है। कलाके सिद्धांतको आत्मसात् करनेके पूर्व सौंदर्यको समझना नितान्त आव-श्यक है। कलाके समान इसे भी वर्णमालाके अक्षरोंमें सीमित रखना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। फिर भी लोगोंने इसे बाँधनेकी जितनी

भी चेष्टाएँ की हैं उनमेंसे कुछेक यहाँ दी जाती हैं—"अध्यात्मकी झाँकी" "परमकी अपार्थिवताका पार्थिव संसारमें अपरम द्वारा विस्तार", "मर्त्य-संसारकी अमर विभूति", "निस्सीमका ससीम रूप" "नाना रूपात्मक जगत्में अन्तरात्माकी जगमगाहट" आदि आदि। जिनके सोचनेका तरीका बिल्कुल वैज्ञानिक है वे आगे बढ़कर कहते हैं—"बाहरी पदार्थोंकी जो छाया आभ्यंतरके दर्पणमें पड़ा करती है उसीके सहारे कालान्तरमें सौंदर्य भगवान्‌की सृष्टि होती है और उसका मापदण्ड बनता है; और उसीसे उनकी रक्षा और निर्वाह होता है"। और भी व्याख्याएँ हो सकती हैं पर व्याख्याबाहुल्य ही तो उसकी यथार्थतामें चार चाँद नहीं लगाती। सौंदर्य शब्दाश्रित न होकर भावाश्रित है। निम्न वाक्योंपर ध्यानाकृष्ट करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता:—

"उक्ति वैचित्र्य अथवा काव्यमय उद्‌गारके बलपर चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है और भाव-जगत् अस्त-व्यस्त और क्षुब्ध भी हो सकता है पर तथ्यनिरूपण, वैज्ञानिक समीक्षा और सहेतुक व्याख्या, विचारोंका ऊहापोह और सिद्धांत निरूपण द्वारा सत्य-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती[1]।"

निस्संदेह असीमित सत्यको कोई सीमित कैसे कर सकता है। सौंदर्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति आनन्द रस और सुखके रूपमें होती है। सौन्दर्य ज्ञानेन्द्रियोंकी समवेत देन है" क्योंकि वे ही तो अनुभूतिका माध्यम हैं।

गीर्वाणगिराके प्रमुख कवि श्री माघने सौंदर्यका उल्लेख यों किया है

"पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" रमणीयताका रूप-सौंदर्य वही है जो क्षण प्रतिक्षण नूतन आकार धारण करता हो। कविके उपर्युक्त कथनका समर्थन आंग्ल कवि कीट्स इस प्रकार करता है—

हिन्दीकी इन पंक्तियोंको भी सौंदर्य समर्थनके लिए रख सकते हैं—

"A thing of beauty is a joy for ever. Its loveliness increases it will never pass into nothingness."

---

[1] हिमालय १२ पृष्ठ १६।

'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई।

× × ×

जनम अवधि रूप निहार लँू
नयन न तिरिपत भेल।
लाख-लाख जुगहिये-हिये राख लँू,
तबहुँ जुड़न न गेल॥ —विद्यापति

ऊपरवाली पंक्तिमें कितनी मार्मिकता है।

असाधारण कलाकृतिको देखकर स्वभावतः हृदयमें भावोदय होता है, वही सौन्दर्य है। इसका ज्ञान श्रवण और चक्षु इन्द्रियोंसे होता है। जो मानसिक उल्लास है वही सौन्दर्य है। रवीन्द्रनाथने कहा है—

'अतएव केवल आँखोंके द्वारा नहीं—अपितु यदि उसके पीछे मनकी दृष्टि मिली हुई न हो तो सौन्दर्यको यथार्थ रूपसे नहीं देखा जा सकता।'[1]

सौन्दर्य सार्वजनिक प्रीति है। एक ही कृतिके सौन्दर्य-दर्शक हजारों हो सकते हैं, पर उनका नाश—क्षय[2] नहीं होता। सामूहिक दर्शनके कारण ही इसे सार्वजनिक प्रीति कहा है।

सौन्दर्योपासकोंकी संख्या आज अधिक है पर वे पार्थिव सौन्दर्यके प्रेमी हैं, सौन्दर्यकी गम्भीरतासे वे दूर हैं। विषयजनित उपासनासे पतन होता है। सौंदर्य प्रीति स्वार्थ रहित होती है। किसी सुन्दरीके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसके विषयमें पुनः पुनः चिन्तन करते रहना स्वार्थमूलक भावनाका रूप है। वह राग शरीरजन्य सौन्दर्यमूलक है। पारमार्थिक वृत्ति या गुणका उसमें अभाव है। सौन्दर्यका उपासक संयम और नियममें आबद्ध होता है।

---

[1] 'साहित्य'—पृष्ठ ४२।

[2] सौन्दर्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है जहाँ हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति होती है। परन्तु एकमात्र आवश्यकताकी पूर्ति ही सौन्दर्य नहीं होता, जब आवश्यकताकी पूर्तिके साथ हमारे हृदयको परम प्रसन्नता होती है तो यह प्रसन्नता आवश्यकतासे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी द्योतक होती है। आवश्यकताकी समाप्तिके बाद भी जो वस्तु अवशिष्ट रह जाती है वही सौन्दर्य है।

महाकविने अपने 'सौंदर्यबोध' नामक अनुभवपूर्ण निबन्धमें बार-बार यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि—

"सौंदर्यका पूर्ण मात्रामें भोग करनेके लिए संयमकी आवश्यकता है।" "अन्ततः सौंदर्य मनुष्यको संयमकी ओर ले जाता है।" "सुखार्थी संयतो भवेत्"—अर्थात् यदि इच्छाकी चरितार्थता चाहते हो तो इच्छाको संयममें रखो। यदि तुम सौंदर्यका उपभोग करना चाहते हो तो भोग लालसाको दमन करके शुद्ध और शान्त हो जाओ।" सौंदर्यबोधके लिए चित्तवृत्तिका स्थैर्य अपेक्षित है। साथ-ही-साथ संयम और नियम भी जीवनमें ओत-प्रोत होने चाहिए। यों भी बिना संयम और नियमका मानव पशु-तुल्य है, जब इतने गहन विषयकी उपासना करना है तब तो जीवन विशेषतः विशुद्ध होना चाहिए। सौंदर्यसृष्टि असंयत कल्पना-द्वारा संभव नहीं। स्वार्थप्रेरित भावना मानवको वास्तवके मार्गसे गिरा देती है।

श्रमण-संस्कृतिमें संयम-नियम अत्यन्त आवश्यक है। इन्हींपर मानव जातिका विकास आधृत है। श्रमणोंने अपने जीवनका रूप ही वैसा रखा है इसलिए कि पद-पदपर उन्हें सौंदर्य बोध होता है। तद्द्वारा प्राप्त आनन्दको वे जनतामें प्रसारित कर सच्चे सौन्दर्यके निकट पहुँचाते है। श्रमण-संस्कृति द्वारा किये पिछले सभी प्रयत्न इसके गवाह हैं। परम वीतराग परमात्माने जीवनकी कठोरतम साधना द्वारा आत्मस्थ सौंदर्यका दर्शन किया था। इस अनुभूत परम्पराके सिद्धान्तोंपर चलनेवाली श्रमण-संस्कृतिने आजतक आंशिक रूपसे इस अनुभूतिको संभाल रखा है। परन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि आजका अनुयायीवर्ग इस परम्पराको तेजीके साथ विस्मृत कर रहा है। न तो सौंदर्य भावनाको जागृत करनेकी चेष्टा रह गई है और न वैसा कोई प्रयत्न ही दृष्टिगत होता है। कलाविहीन जीवन किसी भी अपेक्षा श्रेयस्कर नहीं। व्यापार-प्रधान जीवन, मानव मानवके प्रति रहनेवाली स्वाभाविक सहानुभूतितकको भुला देता है। वह व्यक्ति, व्यक्ति होकर जीवित रहता है। समाज नहीं बन सकता। स्वार्थकी प्रबलता उसे अन्ततः पशु बनाकर छोड़ती है।

विलहरीकी एक उपेक्षित वापिकासे
प्राप्त जिन-प्रतिमा
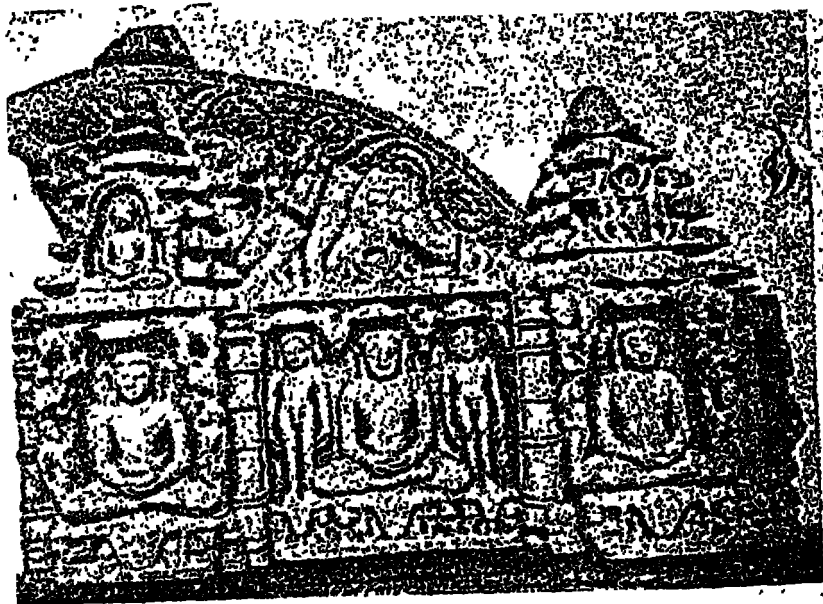
पृष्ठ २०२

जिनमंदिरके तोरण-द्वारका बायाँ अंश त्रिपुरी

पृष्ठ २०५
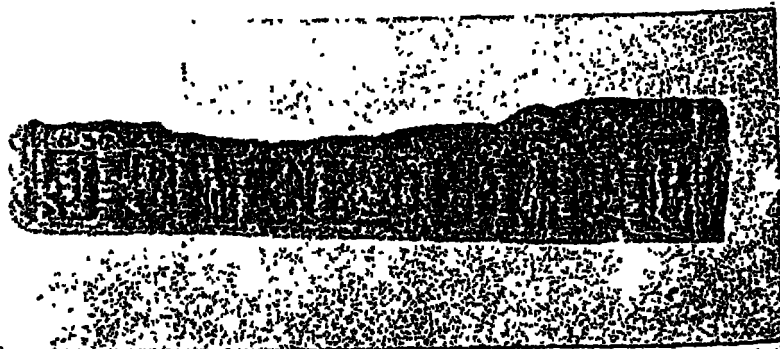
बिलहरीसे प्राप्त जैनमंदिरके प्रवेश-द्वारका ऊपरी भाग

पृष्ठ २०७

बायीं मूर्ति यक्षदम्पति समेत भगवान् नेमिनाथ की है।
दाहिनी मूर्ति अपूर्ण है। पृष्ठ २११

यक्ष-यक्षिणी सहित भगवान् नेमिनाथ प्रयाग संग्रहालय

पृष्ठ २५२

श्री कल्याण देवी

पृष्ठ ४०१
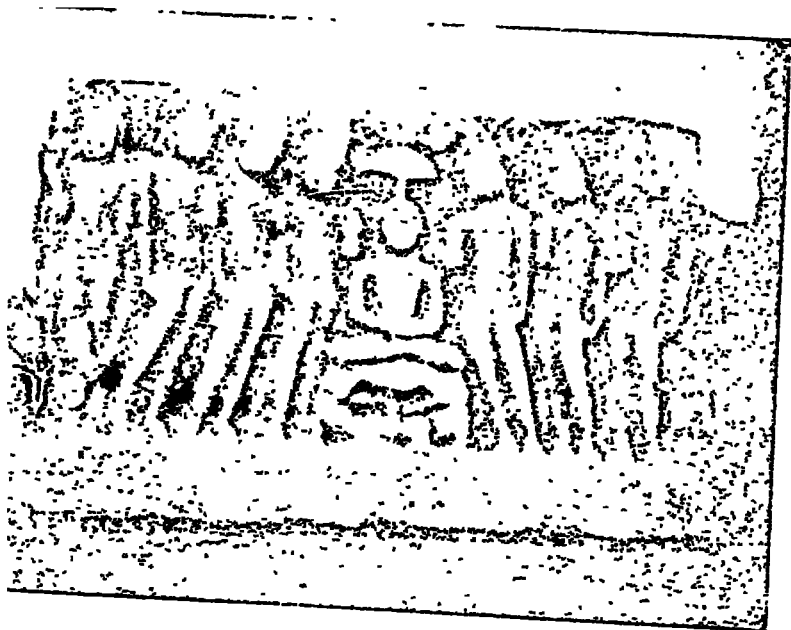
नवग्रहयुक्त अभूतपूर्व जिनप्रतिमा .
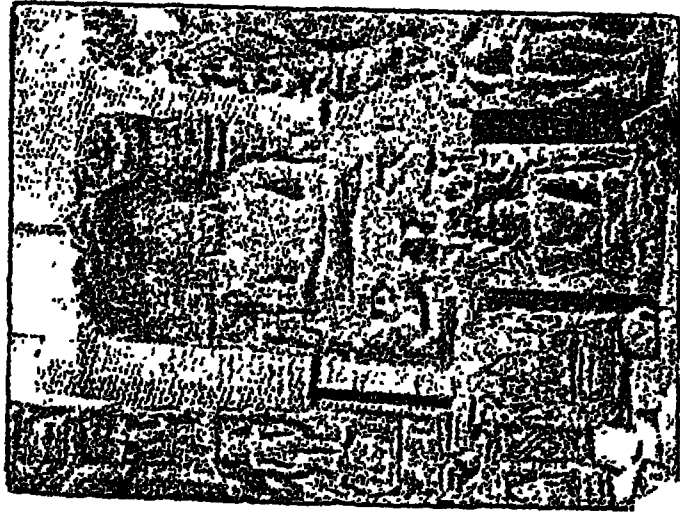
प्रयाग संग्रहालयमें जिनमूर्ति समूह
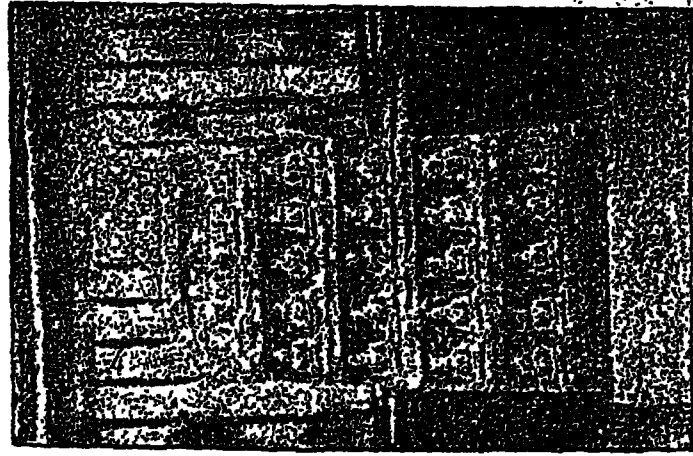
चतुर्विंशतिकापट्टक प्रयाग संग्रहालय